कुषाण कालीन समाज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

7128

साधना शर्मा

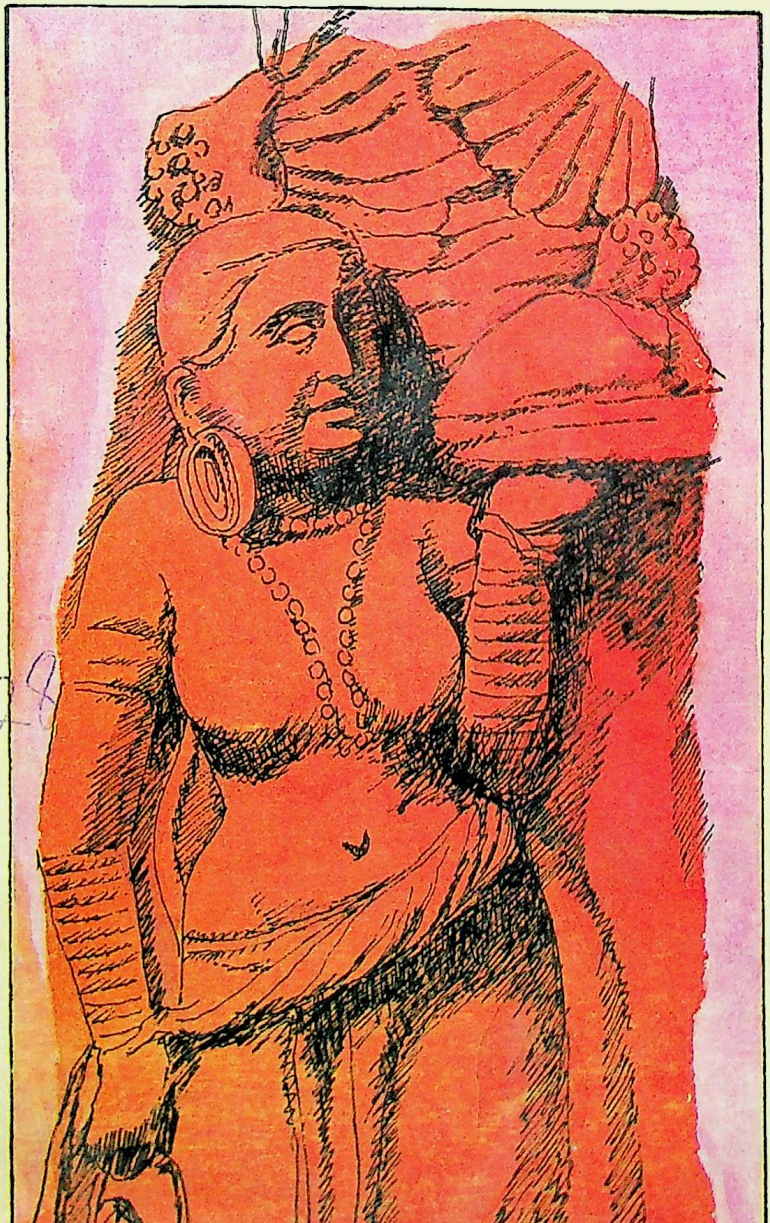

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण कालीन समाज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण कालीन समाज

[लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध]

State Museum Library Lucknow 7128

साधना शर्मा

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

1992

आत्माराम एण्ड संस

दिल्ली लखनऊ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

KUSHAN KALEEN SAMAJ

by Sadhana Sharma

प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा : 17, अशोक मार्ग, लखनऊ-226001

ISBN : 81-7043-177-8

© साधना शर्मा

संस्करण : 1992

मूल्य : 200.00 रुपये

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

ऐतिहासिक परिवेश में किसी भी देश एवं काल की सामाजिक दशा का अध्ययन कितना महत्वपूर्ण है इसकी महत्ता एवं उपयोगिता स्वतः स्पष्ट है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि उनके शताब्दियों के विकास में अनेक विदेशी जातियों का भी योगदान रहा है। उपयुक्त को दृष्टिगत करके 'कुषाण कालीन समाज' का विषय शोध-हेतु चयन किया गया है।

यद्यपि कुषाण-राजवंश का इतिहास अनेक विद्वानों का अध्ययन विषय रहा है और अधिदिन भी इस पर शोध कार्य हो रहा है किन्तु तत्कालीन समाज, उसका संगठन प्रचलित धाराओं एवं तत्सम्बन्धी अनेकानेक सूक्ष्मताओं पर अद्यावधि प्रायः कम ही प्रकाश डाला गया है। अतएव प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भारत में तत्कालीन समाज के सम्पूर्ण सामाजिक अध्ययन का प्रयास किया गया है जैसा कि इसके अध्यायों की सूची से स्पष्ट है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। कुषाण-वंश के राजाओं के सम्बन्ध में तिथिपरक अनेक मतभेद हैं। शोधकर्ता का उद्देश्य उन तिथियों के विवाद में न पड़कर उन शताब्दियों की मूल सामाजिक-दशा, संगठन, स्त्रियों की दशा, शूद्रों की स्थिति, व्यापार एवं वाणिज्य तथा विदेशियों का समाज में स्थान आदि की विवेचना करना है। यह सर्व-मान्य है कि कुषाण शासकों का भारत के सामाजिक-क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा। साथ ही नवीन पुरातात्विक खोजों से तत्कालीन सामाजिक-दशा पर अतिरिक्त प्रकाश भी पड़ता है। उपलब्ध साहित्यिक एवं अन्य साधनों के उपयोग से लगभग तीन शताब्दियों के भारतीय सामाजिक-चित्रण का एक नए दृष्टिकोण से अध्ययन शोधकर्ता का अभीष्ट है।

प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध के साधन मूलतः साहित्यिक एवं पुरातात्विक हैं। साहित्यिक साधनों में ब्राह्मण, बौद्ध व जैन ग्रन्थों के साथ-साथ विदेशी यात्रियों के विवरणों का भी उपयोग उचित था अतः किया गया है। साहित्यिक-ग्रन्थों में मनु-स्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, महाभारत, महाभाष्य, प्रतिमा-नाटक, बुद्ध-चरित, सौन्दरानन्द, चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता, महावस्तु, अवदान-शतक, ललित-विस्तर, दिव्यावदान, सद्धर्म-पुण्डरीक, संयुक्त-रत्न-पिटक-सूत्र, श्री धर्म-पिटक-निदान-सूत्र, कल्पनामान्दीतिका, कालकाचार्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कथानक रायपसेणीयसूत्र, पन्नवन्न आदि हैं। विदेशी यात्रियों के ग्रन्थों में हाऊ-हान-शू, तिएन-हान-शू, शी-की प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। पुरातात्विक-साधनों में अभिलेख, कलाकृति एवं मुद्राओं द्वारा सामाजिक-दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन पुरातात्विक-साधनों का उपयोग तत्कालीन रहन-सहन, प्रचलित मान्यताओं एवं अन्य सामाजिक विशेषताओं को स्पष्ट करने हेतु किया गया है। साथ ही तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली आदि का भी विचार किया गया है। कुषाण-युग व्यापार तथा व्यवसायों की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है और इस पक्ष की विवेचना साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों ही साक्ष्यों के उपयोग से की गई है।

शोध-कार्य मूलतः प्राथमिक-स्रोतों पर आधारित कुषाण-कालीन-समाज की स्पष्ट छवि प्रस्तुत करता है। सम्पूर्ण शोध-अध्ययन 12 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय राजनैतिक-पृष्ठभूमि में कुजुल से लेकर वासुदेव तक के प्रारम्भिक कुषाण-नरेशों के शासन-काल विषयक विवरण है। दूसरे अध्याय में आर्थिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत तत्कालीन समृद्धता का उल्लेख हुआ है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था के स्वरूप का विवेचन करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि विदेशी-शासकों द्वारा प्रचलित बौद्ध व जैन धर्म स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप वर्ण व आश्रम व्यवस्थाओं में कतिपय शिथिलता आ गई थी। संस्कार अध्याय में ब्राह्मण, बौद्ध व जैन धर्मों में व्यवस्थित संस्कारों के स्वरूप एवं सामाजिक मान्यता का विवेचन हुआ है। इसके पश्चात् विवाह अध्याय में प्रचलित समकालिक विवाह-प्रकारों का सविस्तृत उल्लेख है। इस संदर्भ में विदेशी-शासकों के भारतीय-परिवारों में विवाह-सम्बन्धों का भी विवरण है। सातवें अध्याय में समाज में स्त्रियों की यथास्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इस सन्दर्भ में कलाकृतियों के आधार पर स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्रियों का पर्याप्त सम्मान होता था। अग्रिम शिक्षा, अध्ययन, एवं अध्यापन अध्याय में समाज में शिक्षा के स्वरूप और शिक्षा के प्रसार हेतु अग्रहार-दान-पद्धति का उल्लेख हुआ है। तत्कालीन भोजन एवं पेय विषय के अन्तर्गत विदेशियों द्वारा अनेक नवीन खाद्य-वस्तुओं का परिचय विहित है तथा चरक और सुश्रुत चिकित्सकों द्वारा भोजन के स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं आध्यात्मिक सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला गया है। दसवें अध्याय में वेशभूषा व केश-विन्यास के स्वरूप एवं विजातियों के भारतीय-समाज में सम्मिश्रण के फलस्वरूप वेशभूषा में आए परिवर्तन का उल्लेख मथुरा व गन्धार की कलाकृतियों के आधार पर हुआ है। ग्यारहवें अध्याय में आज की भाँति मनोरंजन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण एवं उसके महत्व के ज्ञान का स्पष्टीकरण विविध प्रकार के मनोरंजनों से होता है। अन्तिम अध्याय उपसंहार के अन्तर्गत उपरोक्त सभी अध्यायों के समष्टि स्वरूप समाज के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख है।

मैं प्रस्तावित शोध-कार्य के सन्दर्भ में सर्वप्रथम प्रो० एस० एन० मिश्राजी, प्राचीन भारतीय इतिहास, लखनऊ-विश्वविद्यालय, के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जो मेरे शोध-कार्य में निर्देशक हैं। इन्होंने मुझे कार्य प्रगति की ओर सदैव प्रेरित किया तथा किसी भी अवस्था में हतोत्साहित नहीं होने दिया। मुझे प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव जी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(विभागाध्यक्ष) से भी सभी उपयोगी सहायता मिलती रही जिसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। लखनऊ-संग्रहालय के निर्देशक डॉ० आर० सी० शर्मा जी ने यथासंभव सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया। इस कार्यकाल में मुझे उनसे अत्यधिक महत्वपूर्ण जानकारी मिलती रही। डा० के० के० थपलयाल जी ने भी अपने विषय सम्बन्धी नवीन सामग्री सहर्ष उपलब्ध कराई, जिसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त प्रो० बी० एन० पुरीजी, जो आज भी कुषाण-इतिहास विषय में कार्यरत हैं, ने समय-समय पर उपयुक्त परामर्श द्वारा मेरा मनोबल बनाए रखा। मुझे स्वर्गीय प्रो० सी० डी० चटर्जी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य बहुत देर में मिला जिसे मैं अपना दुर्भाग्य मानती हूँ चूंकि मैं उनसे पूर्ण लाभ न ले सकी यद्यपि कुछ अति महत्वपूर्ण उपलब्धि अवश्य मुझे उनसे हुई। इस कार्य को करने में मुझे अपने भाई डॉ० ए० के० शर्मा से विशेष सहायता मिली। अन्त में मैं अपने माता-पिता को सर्वाधिक श्रेय देती हूँ जिन्होंने मुझे सदैव सभी वांच्छित सुविधाएँ उपलब्ध कराईं।

शोध-सामग्री एकत्र करने के समय मुझे लखनऊ, मथुरा एवं दिल्ली के संग्रहालयों व पुस्तकालयों के सदस्यों द्वारा विभिन्न प्रकार की सहायता मिलती रही। इसमें भी लखनऊ संग्रहालय सर्वाधिक सहायक रहा जिसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ।

मैं इंडियन काउन्सिल आफ हिस्टारिकल रिसर्च संस्था की भी विशेष आभारी हूँ जिन्होंने पहले ट्रेविल ग्रान्ट एवं बाद में फैलोशिप देकर प्रोत्साहित किया।

लखनऊ

साधना शर्मा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

आमुख 5—8
विषय-सूची 9—10
संक्षिप्त रूप 11—16

अध्याय 1 : **राजनैतिक पृष्ठभूमि** 17—54

यू-ची जाति का प्रवास, कुषाण शब्द का अभिप्राय, कुजुल कैड-फाइसेस, वीम कैडफाइसेस, वासिष्क, कनिष्क, हुविष्क, कनिष्क द्वितीय, वासुदेव, निष्कर्ष

अध्याय 2 : **आर्थिक पृष्ठभूमि** 55—65

भूमिका, कृषि एवं पशु-पालन, व्यापार एवं व्यवसाय, श्रेणी सम्बन्धी विवरण, व्यापार के प्रकार एवं स्वरूप, आयात-निर्यात की वस्तुएँ, व्यवसायिकजन, नाप-तोल, व्यापारिक-मार्ग एवं संचार के संसाधन, वस्तु-विनियम, मूर्तियाँ, निष्कर्ष

अध्याय 3 : **वर्ण-व्यवस्था** 66—107

ब्राह्मण-वर्ण—(अ) कर्तव्य एवं अधिकार, (आ) महत्व, क्षत्रिय-वर्ण, कर्तव्य एवं अधिकार, शूद्र-वर्ण—(अ) कर्तव्य एवं अधिकार (आ) अयोग्यताएँ (इ) खानपान-संबंधी अवमाननाएँ (ई) दान-प्रथा (उ) दण्ड-विधान- वर्णसंकर-जातियाँ, निष्कर्ष

अध्याय 4 : **आश्रम-व्यवस्था** 108—132

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम, निष्कर्ष

अध्याय 5 : **संस्कार** 133—147

गर्भाधान-संस्कार, पुंसवन-संस्कार, सीमान्तोन्नयन-संस्कार, जातकर्म-संस्कार, नामकरण-संस्कार, निष्क्रमण-संस्कार, अन्न-प्राशन-संस्कार, चूड़ाकर्म-संस्कार, केशान्त-संस्कार, देवदर्शन-संस्कार, उपनयन-संस्कार, विद्यारंभ-संस्कार, समावर्तन-संस्कार, विवाह-संस्कार, प्रव्रज्या-संस्कार, अन्त्येष्टि-संस्कार, निष्कर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय 6 : **विवाह** 148—161

विवाह का महत्व, विवाह के विविध प्रकार, निष्कर्ष

अध्याय 7 : **स्त्रियों की दशा** 162—179

समाज में स्त्रियों का स्वरूप, एवं महत्व, स्त्रियों के कर्तव्य, स्त्रियों के अधिकार, स्त्री-सम्बन्धी धार्मिक-मान्यता, स्त्री एवं शिक्षा, स्त्री एवं विवाह, स्त्री एवं सम्पत्ति-अधिकार, पर्दा-प्रथा, विधवा-विवाह, नियोग-प्रथा, विवाह-विच्छेद, वैश्या-वृत्ति, स्त्री एवं व्यभिचार, सती-प्रथा, स्त्रियों के प्रति विविध धारणाएं, पुरातत्व पर आधारित स्त्री-सम्बन्धी मान्यता

अध्याय 8 : **अध्ययन, अध्यापन एवं शिक्षा** 180—194

शिष्यों का चुनाव एवं शिक्षण-संस्था में प्रवेश, शैक्षिक-जीवन, शिष्य के कर्तव्य एवं निषिद्ध-कर्तव्य, शिक्षक, शिक्षक एवं शिष्य के परस्पर-सम्बन्ध, शिक्षा का ध्येय, शिक्षण के विषय, शिक्षण का स्वरूप, स्थान एवं काल, शिक्षक की वृत्ति, शिक्षण-संस्थाएँ, शिक्षा एवं समाज, निष्कर्ष

अध्याय 9 : **भोजन एवं पेय** 195—209

भोजन एवं पेय का महत्व, प्रचलित भोज्य-पदार्थ, प्रचलित पेय-पदार्थ एवं तत्सम्बन्धी विचार, भोजन सम्बन्धी नियम एवं शिष्टाचार, निष्कर्ष

अध्याय 10 : **वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास** 210—241

वस्त्र—(अ) मथुरा-कला में प्रदर्शित वेशभूषा (आ) गन्धार-कला में प्रदर्शित वेशभूषा, आभूषण, केश-विन्यास, निष्कर्ष

अध्याय 11 : **मनोरंजन** 242—252

बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री, सामूहिक मनोरंजन, निष्कर्ष

अध्याय 12 : **उपसंहार** 253—260

परिशिष्ट : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 261—268

मूर्ति व मुद्राओं (1 से 41 तक) के चित्र एवं उनके विवरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त-रूप

अग्रवाल, है० क० म्यु० आर०—'हैण्डबुक आफ दि कर्ज़न म्युज़ियम आफ आरक्योलाजी'

अग्रवाल, शा० गा० बु० प्रो० म्यु०—'ए शार्ट गाइड बुक टु दि प्रोविन्शियल म्युज़ियम'

अग्रवाल, ह० सां० अ०—'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन'

अल्टेकर, पो० वो० हि० सिवि०—'पोज़ीशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन्स'

आचारांग—'आचारांग-सूत्र'

आर० रि०—'आरक्योलाजिकल रिव्यू'

आर० स० इन० एनु० रि०—'आरक्योलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया एनुअल रिपोर्ट'

आर० स० इन०—'आरक्योलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया'

इन० म्यु० कैटे०—'इन्डियन म्युज़ियम कैटेलाग'

इन० एन्टि०—'इन्डियन एन्टिक्वेरी'

इन० से० आ० कुषा० ए०—'इन्टरनेशनल सेमिनार आन दि आर्ट ऑफ दि कुषाण एज'

इन० हिस० क्वा०—'इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली'

एपि० इन०—'एपिग्रेफिआ इन्डिका'

एनु० रि० इन० आर०—'एनुअल रिपोर्ट ऑफ इन्डियन आरक्योलाजी'

ए० ओरि०—'एक्टा ओरियन्टेलिया'

काम०—'कामसूत्र'

को० इन० इन०—'कोर्पस इन्स्क्रिप्शनम इन्डिकेरम'

घुर्ये, इन० को०—'इन्डियन कोस्ट्यूम'

चरक०—'चरक-संहिता'

चटर्जी, सो० ला० एन० इन०—'सोशल लाइफ इन एंशियंट इन्डिया'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चटर्जी, अ० हिस० ना० इन०—'अर्ली हिस्ट्री आफ नार्थ इन्डिया'
चन्द, प्रा० भा० वे०—'प्राचीन भारतीय वेशभूषा'
चन्द, सार्थ—'सार्थवाह'
चन्द, को० टे० को० को० एन०मि० इन०—'कोस्ट्यूम टेक्सटाइल्स कास्मैटिक्स एण्ड कोफ्यूर इन एन्शियन्ट एण्ड मिडिबल इन्डिया'
चन्द, ट्रे० ट्रे० रु० एन० इन०—'ट्रेड एण्ड ट्रेड रूट्स इन एंशियंट इन्डिया'
ज० बि० रि० सो०—'जर्नल आफ दि बिहार रिसर्च सोसायटी'
ज० अमे० ओरि० सो०—'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी'
ज० रा० एशि० सो०—'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड
ज० एशि० सो०—'जर्नल एशियाटिक सोसायटी'
ज० एशि०—'जर्नल एशियाटिक'
ज० डे० ले०—'जर्नल ऑफ दि लेवलपमेन्ट ऑफ लैटर्स'
ज० चा० ब्रा० रा० एशि० सो०—'जर्नल ऑफ दि चायना ब्रान्च ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी'
ज० इन० हिस०—'जर्नल ऑफ इन्डियन हिस्ट्री'
ज० बि० उ० रि० सो०—'जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी'
ज० न्यू० सो० इन—'जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इन्डिया'
ज० एशि० सो० बें०—'जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल'
ज० ई० वे०—'जर्नल ऑफ ईस्ट एण्ड वैस्ट'
ज० बा० ब्रा० रा० एशि० सो०—'जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रान्च आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी'
ज० यू० पी० हिस० सो०—'जर्नल ऑफ दि यूनाइटेड प्रोविन्शियल हिस्टारिकल सोसायटी'
ज० इन० सो० ओरि० आ०—'जर्नल ऑफ दि इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट'
ज० भ० ओरि० रि० सो०—'जर्नल ऑफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च सोसायटी'
जोशी, प्रा० भा० मू० वि०—'प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान'
जोशी, ला० एन० उत्त०—'लाइफ इन एन्शियन्ट उत्तरापथ'
जोशी, म० स्क०—'मथुरा स्कल्चर्स'
टार्न, ग्री० बै० इन०—'दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इन्डिया'
टार्न, ग्री० बै० चाय०—'दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड चायना'
थपलियाल, स्ट० एन० इन० सी०—'स्टडीज एन्शियन्ट इन्डियन सील्स'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के० के० थपलियाल, सी० सी० एन० इन०—'सील्स एण्ड सीलिंग्स इन एंशियंट इन्डिया'

यू० पी० थपलियाल, एग्री० एन० इन०—'एग्रीकल्चर इन एन्शियंट इन्डिया'

दि पाय०—'दि पायनियर'

दिव्या०—'दिव्यावदान'

न्यू० क्रो०—'न्यूमिस्मैटिक क्रोनिकल'

न्यू० सप०—'न्यूमिस्मैटिक सप्लीमेन्ट'

पं० म्यु० कैटे०—'पंजाब म्युज़ियम कैटेलाग'

प० पा० ग्रा०—'पतंजलि आन पाणिनीज़ ग्रामर'

पुरी, इन० अन० कुषा०—'इन्डिया अन्डर दि कुषाणाज़'

पुरी, इन० टा० पतं०—'इन्डिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि'

प्रो० रि० आर० स० वे० स०—'प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्किल'

ब्र० वा०—'ब्रह्म-वाणी'

बाशम, व० दै० इन०—'दि वन्डर दैट वाज़ इन्डिया'

बाशम, स्ट० इन० हिस कल०—'स्टडीज़ इन इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर'

बा० छो० जै० स्मृ० ग्र०—'बाबू छोटे लाल जैन-स्मृति-ग्रन्थ'

ब्रि० म्यु० क्वा०—'ब्रिटिश म्युजियम क्वाटरली'

ब्रि० म्यु० कैटे०—'ब्रिटिश म्युज़ियम कैटेलाग'

बु० च०—'बुद्ध-चरित'

बु० स्कू० ओरि० एफ्रि० स्ट०—'बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरियन्टल एण्ड एफ्रिकन स्टडीज़'

मंजु श्री—'मंजुश्रीमूलकल्प'

मनु०—'मनुस्मृति'

महाव०—'महावस्तु'

महाभा०—'महाभाष्य'

म० भा०—'महाभारत'

म० म्यु० कैटे०—'मथुरा म्युज़ियम कैटेलाग'

मजूमदार, ए० इम० यू०—'दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी'

मजूमदार, ग्रे० वो० इन०—'ग्रेट वोमेन ऑफ इण्डिया'

मार्शल, एक्स० भी०—'एक्स्कवेशन्स एट भीटा'

मार्शल, तक्ष० गा०—'तक्षशिला का गाइड'

मार्शल, बु० आ० गं०—'दि बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ गन्धार'

मिलिन्द०—'मिलिन्दपन्हाँ'

मुकर्जी, भा० सं० क०—'भारत की संस्कृति और कला' (आर० के० मुकर्जी)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुकर्जी, हिस० इन० सिवि०—'ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन सिविलाइजेशन्स' (आर० के० मुकर्जी)

मुकर्जी, कु० ए० ड०—'दि कुषाणाज़ एण्ड दि डक्कन' (बी० एन० मुकर्जी)

मुकर्जी, म० सो०—'मथुरा एण्ड इट्स सोसायटी' (बी० एन० मुकर्जी)

मैक्रिण्डल, एन० इन०—'एंशियंट इण्डिया'

मैक्रिण्डल, मेग० एरि०—'मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन'

मैक्रिण्डल, एन० इन० डिस० क्लै० लि०—'एन्शियंट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर'

याज्ञ०—'याज्ञवल्क्य स्मृति'

रा० सं० म० मू० सं०—'राज्य संग्रहालय मथुरा मूर्ति संस्था'

रा० सं० ल० मू० सं०—'राज्य संग्रहालय लखनऊ मूर्ति संस्था'

रा० सं० दि० मू० सं०—'राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली मूर्ति संस्था'

रा० सं० ल० मु० सं०—'राज्य संग्रहालय लखनऊ मुद्रा संस्था'

रेप्सन, एन० इन०—'एन्शियंट इण्डिया'

रेप्सन, कै० हिस० इन०—'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'

ललित०—'ललित-विस्तर' (लैफमैन)

ला०, वो० बु० लिट०—'वोमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर'

ला, ट्रा० एन० इन०—'ट्राइब्स इन एन्शियंट इण्डिया'

ला, बु० स्ट०—'बुद्धिस्ट स्टडीज़'

ला, एन० इन०—'एन्शियंट इण्डिया'

वाट, डि० इको० प्रो० इन०—'डिक्शनरी ऑफ इकोनामिक प्रोडक्टस ऑफ इण्डिया'

वाट, का० प्रो० इन०—'कामर्शल प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया'

विष्णु०—'विष्णु-स्मृति'

वैस्टरमार्क, हिस० मै०—'हिस्ट्री ऑफ मैरिज़'

वैस्टरमार्क, ओरि० डे० मा० आ०—'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ मारल आइडियाज़'

वेले, ट्रां० फि० सो०—'ट्रान्सेक्शन्स ऑफ दि फिलासाफिकल सोसायटी (एच० डब्ल्यू० वेले)

वेले, शा० कल० हिस०—'ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री' (ए० वेले)

वेले, पी० इन०—'ए पीजेन्ट ऑफ इण्डिया' (ए० वेले)

सद्धर्म०—'सद्धर्म पुण्डरीक'

सं० पु० प०—'संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका'

सरकार, से० इन०—'सेलेक्ट इन्स्क्रिपशन्स'

सां० म्यु० कैटे०—'सांची म्युज़ियम कैटेलाग'

सुश्रुत०—'सुश्रुत संहिता'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौ०—'सौन्दरानन्द'
स्मिथ, अ० हिस० इन—'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'
स्मिथ, एन० इन०—'एन्शियंट इण्डिया'
स्मिथ, जै० स्तू० म०—'जैन स्तूप ऑफ मथुरा'
होपकिन्स, आ० म०—'दि आर्डिनेन्सेज़ ऑफ मनु'
होपकिन्स, म्यु० रि० फो० का० ए० मा० घ०—दि म्युचुअल रिलेशन्स ऑफ दि फोर कास्ट्स एकार्डिग टु मानव धर्मशास्त्र'
होपकिन्स, एन० इन० मा० हि० गि० या० रि०—'एन्शियंट इन्डिया मार्डन हिन्दू गिल्ड्स याले रिव्यू'
शर्मा, बु० आ० म०—'दि बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ मथुरा' (आर० सी० शर्मा)
शर्मा, म० म्यु० आ०—'मथुरा म्युज़ियम एण्ड आर्ट' (आर० सी० शर्मा)
शर्मा, ला० अ० इन० सो० इ०—'लाइट ऑफ आर्ली इन्डियन सोसायटी एण्ड इकोनामी' (आर० एस० शर्मा)
शर्मा, शू० एन० इन०—'शूद्राज़ एन्शियंट इन्डिया' (आर० एस० शर्मा)
शर्मा, एन० इन० हिस० कल०—'एन्शियंट इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' (एस० आर० शर्मा)
श्री महा० जै० वि० सु० म० ग्र०—'श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1

राजनीतिक-पृष्ठभूमि

यू ची-जाति का प्रवास

यू ची-जाति अथवा कुषाण-राजवंश का प्रारम्भिक (भारत आगमन से पूर्व का) इतिहास सर्वतः चीनी-साक्ष्यों[1] पर आधारित है जिनके अनुसार कुषाण मूल रूप से यू ची-जाति की एक शाखा थी। ई० पू० 174 से 165 के बीच यू-ची तुन्-सवांग और कि-लिएन अथवा तिएन-चाऊ पर्वत-श्रेणी अर्थात् तुर्किस्तान के दक्षिण-पूर्व कान-सु-प्रान्त में निवास कर रहे थे।[2] यह लोग भ्रमणशील एवं सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे।[3] ई० पू० 165 में बर्बर ह्यू ग-नू[4] (जो उपरान्तकाल में हूण कहलाए)[5] शासक शान-यूलाओ-शेंग[6] ने यू०-ची जाति पर आक्रमण किया। फलस्वरूप यू-ची जाति की दुर्दमनीय पराजय हुई।[7] हूण-शासक ने अपनी इस विजय की सूचना चीनी-शासक को पत्र द्वारा दी। तथा हूण-शासक ने संघर्ष में यू-ची-शासक को मारकर उसके कपाल का सुरापात्र बनवाया।[8] इसके पश्चात् मृत यू-ची की विधवा ने सेना का नेतृत्व किया।[9] इस प्रकार हूणों द्वारा बहिष्कृत यू-ची सेना ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। सम्भवतः यहीं यू ची-जाति दो भागों में विभाजित हो गई थी जो संख्या में कुछ कम थे छोटी यू-ची कहलाए। यह दक्षिण में स्थित तिब्बत के स्थाई-निवासी हो गए।[10] दूसरी मुख्यशाखा ता-यू-ची कही गई।[11] इसने पश्चिम में प्रयाण जारी रखा।[12] मार्ग में इसका संघर्ष इसीकुल-झील के निवासी बु-सुन जाति से हुआ जिसमें बु-सुन जाति का सरदार मारा गया।[13] अब भ्रमण करते हुए यू-ची जाति ने सिरदरिया पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया।[14] यहाँ के निवासी शक (साइ, रोय) जाति के थे। यू ची-जाति द्वारा परास्त शक अनेक शाखाओं में विभक्त हो गए। इनमें से एक शाखा ने कि-पिन में अधिकार कर लिया। कि-पिन की स्पष्ट पहचान सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि शक-जाति ई० पू० के कुछ पूर्व स्वातघाटी में एवं गन्धार के बीच निवास कर रही थी।[15]

मृत बु-सुन शासक का पुत्र जो अब युवक हो चुका था, ने ह्यू ग-नू जाति के सहयोग से यू-ची जाति को परास्त एवं शक-स्थान से निष्कासित कर दिया।[16] यू ची जाति की यह द्वितीय-पराजय ई० पू० 160 में या उसके बाद हुई।[17] इस प्रकार यू-ची शक-स्थान पर स्थायी रूप से न रह सके। विवश हो वह पश्चिम की ओर अग्रसित हुए एवं अमू-दरिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर विश्राम किया तथा यहीं के स्थायी-निवासी हो गए।[13] सौभाग्यवश यहाँ के प्रवासी शान्ति-प्रिय एवं युद्ध-कला में अकुशल थे।[19] साथ ही वाणिज्य में विशेष रूप से संलग्न भी थे। अतः यू-ची के सान्निध्य से उन्हें कोई आपति महसूस नहीं हुई। यहाँ रहते हुए यू-ची जाति ने अपना प्रभाव क्षेत्र सोग्दियाना व बैक्ट्रिया[20] तक विस्तृत किया। कालान्तर में बैक्ट्रिया कुषाण-राज्य का मूल-केन्द्र बन गया। अब उन्होंने अपना स्वाभाविक भ्रमणशील-जीवन त्याग दिया था।[21] चीनी-यात्री चेंग-किएन ने जब ई० पू० 128 में यू-ची राज्य की यात्रा की तो वह स्थान (बैक्ट्रिया) पूर्णरूपेण यू-ची जाति के अधिकार में था।[22] और कुछ ही समय पूर्व अधिकृत किया गया था।[23] वास्तव में बैक्ट्रिया में यू-ची-जाति के निवास के उल्लेख काफी कम प्राप्त हैं। सम्भवतः यहाँ की जनसंख्या 400,000 थी एवं समस्त यू-ची-जाति विभिन्न पाँच सरदारों के अधीन पाँच शाखाओं में विभक्त हो गई थी। चीनी-साक्ष्यों में इन शाखाओं के सरदारों को ह्सी-हाऊ भी कहा गया है। इनके नाम हैं—सिउ-सी (राजधानी हो-मो) सम्भवतः वक्खन, श्वांग-मी (राजधानी श्वांग-मी) सम्भवतः चितरल, किउ-श्वांग (राजधानी हु-साओ) गन्धार का उत्तर पश्चिम भाग, सी-तुन (राजधानी पो-माओ) सम्भवतः परवन पंजशायर और काओ-फू (राजधानी भी काओ-फू) सम्भवतः काबुल।[24] एक अन्य उल्लेख के अनुसार काऊ-फू सम्भवतः काबुल कभी यू-ची के अधिकार में न रहा।

आश्चर्य है पुराण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में कुषाण, जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता।[25] सम्भवतः मान्य पश्चिमी-साक्ष्य एक भ्रमणशील-जाति तोचारी का उल्लेख करते हैं। तोचारी मध्य द्वितीय श० ई० पू० में बैक्ट्रिया को जीतने वाली चार अथवा पाँच शाखाओं का मिश्रण था। चीनी राजकीय विवरणों में यू-ची का इस क्षेत्र में प्रवेश इसी काल में वर्णित हैं। अतः यू-ची एवं तोचारी को एक ही मानना सर्वथा उचित होगा।[26] पुराण व महाभारत में यह तोचारी कतिपय भिन्नता लिए हुए तष्कर तुषारा,[27] तुखार, तुरुष्क आदि नामों से अभिहित हुआ है।

इतिहासकार रोज़ेनफील्ड के विवरण के अनुसार यू-ची जाति का भारत-आगमन से पूर्व का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—भ्रमणशील जीवन, बैक्ट्रिया में स्थायित्व एवं विभिन्न यू-ची शाखाओं का सम्मिश्रण एवं साम्राज्य-विवर्धन।[28]

'कुषाण' शब्द का अभिप्राय

'कुषाण' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक सम्भावनाएँ व्यक्त की गई हैं। मुख्य रूप से तो कुषाण राजवंश अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर मूलतः यह कदाचित् परिवार अथवा जाति का बोधक था। प्रथम श० ई० पू० में सम्भवतः सर्वप्रथम 'कुषाण' राष्ट्रीय अभिधान स्वरूप प्रयुक्त हुआ। जब अल्प भ्रमणशील विभिन्न पाँच शाखाओं के लोगों का समूह कुषाण नामक प्रमुख के अधीन संगठित हुआ। चीनी-साहित्य में यह शासक किओं-श्वांग नाम से विख्यात है। इसके अतिरिक्त भी कुषाण-शासकों के व्यक्तिगत नाम के साथ प्रत्यक्ष रूप में प्रायः दृष्टिगत होता है जैसे—शाओ नाना शाओ कनिष्की कोषानो अर्थात् राजाओं का राजा कनिष्क कुषाण।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण-जाति के चन्द्र-परिवार[29] से सम्बन्धित होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वैसे भी इण्डोसीथियन वेश-भूषा पर तो चन्द्र प्रतीक अधिकांशतया प्रदर्शित है।[30] सर्वप्रसिद्ध कुषाण-शासक कनिष्क ने भी संस्कृत उपाधि 'चन्द्र' धारण की थी।[31]

कैडफाइसेस प्रथम

कुषाण-वंशीय इतिहास में कैडफाइसेस प्रथम का उदय एक युग-प्रवर्तक के रूप में हुआ था। मुद्रा-साक्ष्य एवं विभिन्न चीनी-विवरण इसके प्रारम्भिक इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।[32] इनके अनुसार किउ-श्वांग नामक कुषाण शासक के नाम पर ही यू-ची जाति उपरान्त काल में कुषाण नाम से विख्यात हुई। जैसा कि पूर्ववर्णित है यह कुषाण-प्रशासक अपने वंश का सर्वप्रथम एतिहासिक शासक था। किउ-शिउ-किओ[33] को कुजुल (कुसूलक)[31] भी कहा जाता था। 'कुसूलक' सम्भवतः उपाधि रूप में प्रयुक्त हुआ होगा। वैसे भी शकों में परम्परा थी कि वे शासक के नाम के अन्त में प्रायः अवयव-स्वरूप पिता अथवा अन्य सम्बन्धी का नामोल्लेख करते थे यथा—कुजुल कैडफाइसेस, वीम कैड-फाइसेस, कुसूलक-पतिक, लियक-कुसूलक आदि-आदि।[35] इसके अतिरिक्त थैंग-काल में किउ-शिउ-किओ का किउ-डिउ-किम' नाम आया है।[36] सम्भवतः यह सिक्कों पर प्रयुक्त कुषाण-कुजुल-कम का समानार्थी था एवं ग्रीक में कोजोलो कैडफिसेस[37] या कैडफिसे और खरोष्ठी में[38] कुजुल कप या कफस या कदफ नाम से उल्लिखित है।

कुजुल कैडफाइसेस ने एक शासक के रूप में अपना जीवन यू-ची की पाँच शाखाओं को संगठित करके आरम्भ किया था।[39] सर्वप्रथम उसने नान्-सी पर विजय प्राप्त की। यह नान्-सी पार्थिया के लिए प्रयुक्त प्रसिद्ध चीनी नाम है। सम्भवतः यहाँ इण्डो-पार्थियन से इसका अभिप्राय हो।[40] क्योंकि आरसेसिडियन-राज्य उस समय पूर्व में उतना अधिक विस्तृत न हुआ था। वास्तव में उस समय पार्थिया की ऐसी दुर्दशा हो गई थी कि वह अपने शासकों की सहायता करने में सक्षम न था। साथ ही कुजुल-साम्राज्य ज्यों-ज्यों उन्नति की ओर अग्रसित हुआ, पार्थियन-शक्ति का भारत में ह्रास होता गया। अतः स्पष्ट है प्रथम श० ई० पू० का समय जहाँ पार्थियन-शक्ति के लिए महान् अमंगलकारी सिद्ध हुआ, कुषाण-शक्ति के लिए वही समय भविष्य की महती आशाओं का सन्देश लाया। कुजुल ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम श० ई० के मध्य पार्थि-यन-शासक कुछ उत्तरी-शासकों से अपनी रक्षा-हेतु उन्हें कर दिया करता था।[41] संभवतः पार्थिया पर विजयोपरान्त कुजुल ने काबुल पर अधिकार करके पू-ता एवं कि-पिन को नष्ट किया।[42]

इतिहासकार कतिपय अभिलेखों को कुजुल से सम्बन्धित मानते हैं यद्यपि उन पर स्पष्ट रूप से शासक का नाम अंकित नहीं है। सर्वप्रथम 103 वर्ष का तख्ते-बाही-अभिलेख इण्डो-पार्थियन शासक गोण्डोफर्नीज का 26वें वर्ष का है।[43] इसमें अरझुन-कप शब्द आया है। इस अरझुन को शासक-अर्थ में प्रयुक्त मानकर इसका सम्बन्ध कुजुल से स्थापित किया जाता है।[44] सम्भव है अरझुन इण्डो-सीथियन शासक की उपाधि का बोधक हो।[45] क्योंकि कुषाण इण्डो-पार्थियन वंश के तुरन्त बाद उस स्थल के उत्तराधिकारी हुए अतः यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुजुल के लिए प्रयुक्त रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेख पार्थियन-शक्ति के कुषाण-शक्ति में परिवर्तन के मध्य-काल का हो। दूसरा अभिलेख पेशावर से प्राप्त 122 वर्ष का पंजतर-अभिलेख है।[46] इसमें शासक महाराज गुषाण वर्णित है। विद्वान् इसे कुषाण अर्थ में लेकर कुजुल से सम्बन्धित करते हैं। तीसरा 136 वर्ष का तक्षशिला-अभिलेख है। इसमें शासक के लिए महाराज राजाधिराज देवपुत्र कुषाण[47] का उल्लेख है। तक्षशिला-अभिलेख को कुजुल से सम्बन्धित करने वाले विद्वानों का विचार है कि चूँकि कुजुल सर्वप्रथम कुषाण-शासक था अतः इस अभिलेख में नाम का उल्लेख न करके केवल कुषाण ही अभिहित है जिसका अभिप्राय निश्चय ही कुजुल से था। उपरोक्त तीनों खरोष्ठी-अभिलेख किसी अज्ञात-सम्वत् के हैं एवं एक क्रमिक-तिथि को सम्बोधित करते हैं। प्रायः विद्वान् इनको कुजुल कैडफाइसेस से सम्बन्धित करते हैं।[48] विद्वानों की इन अभिलेखों के विषय में मान्यताएँ उनके द्वारा मान्य कनिष्क की तिथि पर आधारित हैं। यदि इन अभिलेखों को कुजुल से सम्बन्धित करें तो उसके साम्राज्य-विस्तार के विषय में कहा जा सकता है कि 122 (64 ई०) में कुजुल ने सिन्धु के पश्चिम पर अधिकार कर लिया था एवं 136 (78 ई०) तक उसका साम्राज्य तक्षशिला उत्तर-पश्चिम-भारत तक विस्तृत हो गया था।[49]

मुद्रा-साक्ष्य द्वारा कुजुल के शासन-काल से सम्बन्धित अतिरिक्त जानकारी भी मिलती है। प्रारम्भ में तो कुजुल ने केवल यवुग अर्थात् प्रमुख उपाधि धारण की थी परन्तु साम्राज्य-विस्तार के साथ महाराज, राजातिराज आदि तेजस्विता को प्रदर्शित करने वाली विरुदावलियों का प्रयोग किया।[50] उसकी सभी मुद्राएँ ताम्बे की प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध हैं। सिरकप से इतनी अधिक संख्या में प्राप्त मुद्रा से अनुमान है कि अन्य विजयों के अलावा गन्धार एवं तक्षशिला पर भी उसका आधिपत्य रहा होगा।[51] मुद्रा के अग्रभाग एवं पृष्ठभाग पर ऊँट एवं बैल के चित्रण मात्र से मध्य एशिया की भ्रमणशील-जाति द्वारा हिन्दुस्तान-विजय स्पष्ट हो जाती है।[52] सम्भवतः कुजुल ने रोमन-शासक क्लोडियस[53] की मुद्रा का अनुकरण किया था। इसका शासन-काल ई० 41 से 54 तक रहा। अतः कुजुल भी 41 ई० के बाद शासन कर रहा होगा और गोण्डोफर्नीज का समकालीन होगा।[54] कुजुल की मुद्राओं पर उपाधि 'कुजुल कसस कुषण थवुगस ध्रमथितस' लिखित है अर्थात् कुजुल कस कुषाण-सम्राट् जो धर्म में विश्वास करता है। अन्य लेख में कदाचित् सत्यधर्मधितज्ञ वर्णित है। यह सम्भवतः उसके द्वारा नए-धर्म (बौद्ध-धर्म) पर विश्वास को प्रदर्शित करता है।[55] कुजुल की प्रारम्भिक-मुद्राओं के अग्रभाग पर प्रायः अन्तिम ग्रीक-शासक हरमेयस की मूर्ति अंकित मिलती है। अतः इतिहासकारों ने इसे दोनों समकालीन शासकों की मित्रता का द्योतक माना है।[56] ध्यान देने योग्य बात यह है कि खरोष्ठी-लेख में कुषाण सरदार का बिना किसी राजकीय-उपाधि के उल्लेख उसका प्रारम्भिक-जीवन में ग्रीक-शासक का सहायक अथवा अधीन होना स्पष्ट करता है।[57] क्योंकि बाद में वही कुषाण-सम्राट् मुद्राओं में महरजस रजतिरजस कुजुल कफस[58] उपाधियों से अलंकृत है। सम्भव है हरमेयस की सहायता से ही कुजुल ने अन्य चार शाखाओं पर विजय प्राप्त की थी और हरमेयस एवं पार्थियन सम्राट् के बीच संघर्ष में भी कुजुल हरमेयस के साथ था पर उसकी पराजय हुई। यद्यपि कुछ ही कालोपरान्त उसने काबुल व कन्दहार में पार्थियन-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य को समाप्त कर दिया। एक वक्तव्य के अनुसार हरमेयस एवं कुजुल के मध्य अन्तराल में काबुल पर पह्लव-शासन था।[59] जैसा कि ऊपर सन्दर्भ आया है काऊ-फू कभी भी यू-ची पर आधारित नहीं रहा। अतः स्पष्ट है कि कुषाणों ने पह्लवों से काबुल जीता था और हरमेयस से नहीं। सम्भवतः हरमेयस ने अपने राज्य का दक्षिण हिन्दुकुश पह्लवों से हारा था।[60] उपरोक्त सम्भावनाओं से सर्वथा भिन्न एक अन्य विचार के आधार पर कुजुल के पूर्वज सम्भवतः बाबा ने हरमेयस के सम्बन्धी से विवाह किया था और कुजुल ने उन दोनों के सम्बन्धों को स्थायी रखने-हेतु स्मृति में मुद्रा पर दोनों को साथ अंकित करवाया होगा।[61] ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा-निर्माण की नीति में कुजुल ने राजनीति से काम लिया और पार्थियन लोगों में किसी प्रकार का असन्तोष न हो अतः प्रारम्भ में उसने पूर्व प्रचलित मुद्रा-प्रणाली को ही अपनाया। यद्यपि धीरे-धीरे परिवर्तन करते हुए अपनी स्वतन्त्र प्रकार की मुद्रा बनवाई। इतिहासकार एलेन के अनुसार तक्षशिला के पुरास्तरी-करण से स्पष्ट है कि कैडफाइसेस प्रथम की मुद्रा गोण्डोफर्नीज़ के कुछ बाद की हैं। अतः उन्हें प्रथम श० के तृतीय-चरण में आसानी से रखा जा सकता है।[62]

चीनी-साक्ष्यों के आधार पर 80 वर्ष के एक दीर्घकालीन जीवन के उपरान्त कुजुल की मृत्यु हुई थी।[63]

वीम कैडफाइसेस

कुजुल कैडफाइसेस का पुत्र वीम कैडफाइसेस कुषाण-साम्राज्य का द्वितीय प्रसिद्ध प्रशासक हुआ। पिता के समान वह भी महत्वाकांक्षी एवं पराक्रमी था। चीनी-साहित्य में इसका नाम 'येन-काओ-चेन' मिलता है।[64] टैंग-काल में इसका नाम 'इयाम-काओ-तिएन' आता है।[65]

वीम कैडफाइसेस को उत्तराधिकार में काबुल, पार्थिया, गन्धार एवं भारत का उत्तरी-भाग कुजुल से प्राप्त हुआ था। पर वह एक महत्वाकांक्षी-शासक होने के कारण इस सीमित साम्राज्य से सन्तुष्ट न हुआ। उसने तो एक विस्तृत भू-भाग पर एकछत्र अधिकार के सपने देखे थे। अतः उन्हें साकार करने हेतु उसने अनेक संघर्ष किए। आधुनिक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वीम-साम्राज्य भारत के पूर्व में सम्भवतः बनारस तक विस्तृत था।[66] चीनी-साक्ष्यों के अनुसार तिएन-चाऊ अथवा शेन-तू टेंग-साहित्य का सिएन-डाउक[67] स्पष्ट रूप से सिन्धु है जो भारत का पुराना नाम था। चीनी-साहित्य बाद के हान-साहित्य में ही एक विवरण आता है कि वीम ने भारत पर पुनः विजय प्राप्त की।[68] अतः आशंका व्यक्त की गई है कि क्या यह कुषाणों की दूसरी विजय थी? जबकि प्रायः माना जाता है कि वीम ने ही सर्वप्रथम भारत विजित किया था। इस विषय पर विद्वानों ने विभिन्न मत प्रति-पादित किए हैं। एक विश्वास के आधार पर कुषाणों ने पार्थियन से भारत हस्तगत किया था और इन पार्थियन ने शकों द्वारा इसे ग्रहण किया था। प्रायः ऐतिहासिक-साक्ष्य शक एवं कुषाणों के परस्पर मधुर-सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं। अतः अनुमानतया पहले भारत पर शक-अधिकार था। इसके बाद जब कुषाणों ने भारत को पार्थियन से विजित किया तो इसे कुषाणों की ही दूसरी विजय के समान माना गया होगा।[69]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीम की विभिन्न विजयों के परिणामस्वरूप भारत का राजनीतिक व व्यापारिक सम्बन्ध चीन व रोम साम्राज्य से हुआ। उसकी मुद्रा रोमन-शासक आगस्टस व टिबेरियस की मुद्रा के प्रतिरूप हैं।[70] ऐसा प्रतीत होता है कि चीन के साथ वीम के सम्बन्ध मधुर न थे। वास्तव में वीम एवं चीनी जनरल पानाचाओ दोनों ही महत्वाकांक्षी-शासक थे। डोगलस के अनुसार पानचाओ मार्ग के स्थानों को विजित करता हुआ कैस्पियन-सागर के किनारे तक आ गया था। इधर वीम ने भी उत्तर-भारत पर विजय प्राप्त कर ली थी। अतः दोनों के मध्य संघर्ष नितान्त स्वाभाविक हो गया था। कुषाण वायसराय सी के नेतृत्व में 70,000 घुड़सवार सेना का सुंग-लिंग मैदान में चीनी-सेना से संघर्ष हुआ। इसमें वीम की पराजय हुई एवं उसे दण्ड में कर देना स्वीकार करना पड़ा।[71]

एक वक्तव्य के अनुसार अगस्टस के काल में भारतीय राजदूत रोम गए एवं सन्धि के उपरान्त उन्होंने भेंट में अन्य अनेक वस्तुओं के अतिरिक्त व्याघ्र एवं अन्य पशु रोमन-शासक को दिए जिन्हें रोमवासियों ने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। फ्लोरस के अनुसार त्रोजन के समय (ई० 98-117) में अनेक राजदूत आए थे जिनमें अधिकांश भारतीय थे।[72] वीम सर्वप्रथम शासक था जिसने व्यापारिक सुविधा की दृष्टि से स्वर्ण-मुद्रा का प्रचलन किया था।[73] वैसे भी स्वर्ण मुद्रा उन्नत अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार की द्योतक है। इसकी मुद्रा रोमन-वजन 124 ग्रेन की थी।[74] आयात-निर्यात के सिलसिले में मिर्च-मसाले, सिल्क एवं रत्नों के स्थान पर रोमन-स्वर्ण भारत-वसुन्धरा में प्रवाहित होने लगा।[75] और विकसित आर्थिक-स्थिति के कारण ही कला की उन्नति भी सम्भव हो सकी। वीम के शासन-काल में नव परिवर्तन मुद्रा-निर्माण में ताम्र के स्थान पर स्वर्ण का प्रचलन था। उसकी मुद्रा द्विभाषी एवं स्वर्ण व ताम्र की प्राप्त हुई हैं।[76] यह एक विस्तृत क्षेत्र यथा---ऑक्सस घाटी, काबुल घाटी एवं ऊपरी गंगा—नदी से लेकर मीटा, कौशाम्बी[77], बक्सर[78], बसाढ, कसिया[79] आदि से प्राप्त हुई हैं। अग्रभाग पर शासक की सजीव-आकृति अंकित है एवं पृष्ठ-भाग पर प्रायः शिव वाहन-नन्दी सहित प्रदर्शित है तथा उपाधि महीश्वर द्वारा भी उसके शैव होने की जानकारी होती है।[80] यह शिव-भागवत रूप की स्थापना का उदाहरण प्रतीत होता है।[81] बनारस से प्राप्त एक स्वर्ण-मुद्रा पर वह हाथी पर दृष्टि-गोचर होता है जिसे उसकी भारत-विजय का प्रतीक माना जाता है। इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने मुद्रा पर भी महरजस रजतिरजस सर्वलोग ईश्वरस्य महीश्वरस्य वीम कथफिसस त्रतरस, जैसी महान् पराक्रम को प्रदर्शित करने वाली विरुदावलियाँ अंकित कराई होगी।[82] वीम कैडफाइसेस की मुद्रा में एक विलक्षणता यह है कि शासक की राजकीय-आकृति सर्वत्र एक सी है। अतः वह एक ही आयु में स्थिर प्रतीत होता है।[83] वीम एवं हुविष्क मुद्रा में समानता के कारण इतिहासकार रोजेनफील्ड ने उन्हें पिता-पुत्र माना है।[84]

दुर्भाग्यवश वीम कैडफाइसेस का कोई भी अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है जिसे स्वतन्त्र रूप से उसका कहा जा सके। फिर भी कतिपय अभिलेखों से उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। सर्वप्रथम 136 वर्ष का तक्षशिला-अभिलेख है। इसमें शासक का नाम नहीं है। नाम मात्र कुषाण उल्लिखित है। कुछ इतिहासकार इस अभिलेख के कुषाण-शासक को वीम मानते हैं।[85] दूसरा अभिलेख तिब्बत-काश्मीर सीमा पर लद्दाख के पास से प्राप्त एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अज्ञात वर्ष से सम्बन्धित खलात्से-अभिलेख हैं।[86] तीसरा पूर्व वर्णित 122 वर्ष का पजंतर-अभिलेख है।[87] इसके अतिरिक्त हुविष्क के शासन-काल में माट के कुषाण-साम्राज्यवादी देवमूर्ति स्थान के पुनरुद्धार पर लेख में अनुमानतः वीम का भी उल्लेख होगा परन्तु वह लेख अत्यधिक दुर्दशा-प्राप्त है।

सोटर-मेगस कौन था एवं इसका वीम से क्या सम्बन्ध था अद्यावधि प्रश्न-सूचक है? इसकी मुद्रा विस्तृत रूप से पंजाब, कन्दहार, काबुल तथा पूर्व में मथुरा[88] तक प्राप्त हुई हैं। यह मुद्रा-लक्षणों के आधार पर वीम की प्रतीत होती हैं। मुद्राएँ संख्या में इतनी अधिक हैं कि वीम से भी महान् शासक की प्रतिभासित होती हैं।[89] संभव है कि यह मुद्राएँ विभिन्न-शासकों द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में निर्मित हुई हों जो सभी शासक मूल रूप से प्रमुख-शासक के अधीन होंगे। ये समस्त मुद्राएँ ताम्र-निर्मित हैं। इन मुद्राओं के अतिरिक्त सोटर मगस को पहचानने का हमारे पास और कोई साक्ष्य नहीं है। न ही उसके शकों, पह्लवों, कुषाणों से सम्बन्ध स्पष्ट हैं। इतिहासकार जो वीम को 78 ई० में आरम्भ होने वाले शक-सम्वत् का संस्थापक मानते हैं उनके अनुसार उसने 45 वर्ष 78 से लगभग 123 ई० तक शासन किया था।[90] ऐसा प्रतीत होता है कि इस अन्तराल में नहपान एवं चष्टन उसके राज्य के दक्षिण-पश्चिम में विशेष प्रतिनिधि एवं उत्तर में सोटर मेगस उसका प्रतिनिधि रहा हो। ग्रिषमैन द्वारा प्रकाशित रोमन-चांदी की मुद्रा द्वारा इस सन्दर्भ में अतिरिक्त प्रकाश पड़ता है। यह एजिस बेगलाऊ तेहरान के निखात में हैं. इसके मुख्य भाग्य पर वीम की मूर्ति जो कि अस्पष्ट ग्रीक-लेख द्वारा स्पष्ट है तथा पृष्ठभाग पर शासक की खड़ी-मूर्ति है। यह ग्रीक में शासक कनिष्क द्वारा स्पष्ट है। शासक एक माला लिए है और इसके पीछे वही गुम्फाक्षर है जो कि सोटर मेगस की मुद्रा के पीछे अंकित है। इस मुद्रा-साक्ष्य एवं मध्य-एशिया में सोटर मेगस की मुद्रा प्राप्ति-स्थान के आधार पर ग्रिषमैन ने निष्कर्ष निकाला है कि प्रसिद्ध कुषाण सम्राट् कनिष्क ने इस उपाधि का उपयोग किया था जब वह शासक हुआ। इसके पूर्व वह उसका वायसराय था पर इस विचार को पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं है। इतिहासकार मैक्डोवेल का मत है कि सोटर मेगस की मुद्रा पूर्ण निश्चित रूप से गोण्डोफर्नीज और ससन के अनुकरण पर आधारित थी एवं वीम की मुद्रा के पूर्व की थी।[91]

कतिपय मुद्राओं पर अंकित 'वी' कदाचित् शासक वीम नाम का प्रथम अक्षर रहा हो।[92] वीम के बाद कुछ काल कुषाण-सिंहासन शासक विहीन रहा।[93] अतः सोटर मेगस की मुद्रा वीम-काल में एवं उस अन्तराल में प्रचलित थी। 'वी' प्रकार की मुद्राएँ मुख्यतः वीम के समय की हैं। सोटर मेगस जो कि वीम का प्रतिनिधि भारत के एक विस्तृत-भूभाग में राज्य कर रहा था। उसने अपने स्वामी के जीवन-काल में उन्हीं की मुद्रा-प्रणाली को अपनाया एवं स्वामी के प्रतीक रूप में उस पर 'वी' (वीम) अंकित कराया होगा। प्रायः इतिहासकार वीम एवं बिना नाम वाले शासक की मुद्राओं को समानता एवं समान स्थान से प्राप्त होने के कारण परस्पर सम्बन्धित करते हैं।[94] इस सन्दर्भ में दो अनोखी-मुद्राओं का वर्णन करना भी अत्यावश्यक है। प्रथम ताम्र की बिना लेख की मुद्रा है इस पर वीम के चिह्न के साथ सोटर मेगस का चिह्न भी संभवतः है। एक अन्य अनोखी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्रा पर दो सिर एक ही धड़ में फिट है। इस पर वीम का सम्मान-सूचक चिह्न के साथ बिना नाम वाले शासक का भी चिह्न अंकित दृष्टिगत है।[95] चीनी-साहित्य से भी उसे बल मिलता है कि वीम ने स्वयं भारत पर शासन नहीं किया अपितु वायसराय को नियुक्त किया था।[96] इससे स्पष्ट होता है कि दोनों शासक समकालीन थे एवं किसी भी सम्बन्ध चाहे वह सम्राट् एवं प्रतिनिधि के रहे हों अथवा विजेता एवं विजित के द्वारा परस्पर जुड़े अवश्य थे।

कनिष्क

कनिष्क कुषाण-राजवंश का सबसे महान् शासक था। इसके सिंहासनारूढ़ होने से कुषाण इतिहास में एक नए अध्याय का सूत्रपात हुआ। जैन-ग्रन्थ के अनुसार कनिष्क किउ-शा परिवार का था। वास्तव में कनिष्क शब्द की उत्पत्ति कन् से होती है। कन् का अर्थ 'छोटा' अथवा 'युवक' से है।[97] संभवतः कनिष्क का अभिप्राय 'हृष्ट-पुष्ट नवयुवक' से था। कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारी जिनके नामान्त में ष्क (इष्क, एष्क) प्रयुक्त है प्रत्यक्ष रूप से एक ही कुषाण परिवार अथवा जाति के थे और अपने पूर्वजनों की भाँति उन्होंने देवपुत्र[98] उपाधि धारण की थी। कनिष्क वीम के बाद शासक हुआ। इन दोनों परिवारों के मध्य परस्पर क्या सम्बन्ध थे बहुत समय तक यह एक पहेली बनी रही। तक्षशिला से प्राप्त मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर मार्शल ने स्पष्ट किया था कि कनिष्क कैडफाइसेस परिवार का ही है।[99] मथुरा के समीप माट से राजपुरुषों की मूर्तियों में वीम तथा कनिष्क की भी मूर्तियाँ मिलीं। एक ही देवकुल में दोनों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा दोनों के निकट कुल-सम्बन्धों की सूचक है। वीम एवं कनिष्क की वेशभूषा में समानता के आधार पर भी दोनों को एक ही परिवार का माना जा सकता था।[100] पर कुछ वर्ष पूर्व ही इसकी पुष्टि कामरा से प्राप्त कुषाण अभिलेख से हो गई है जिसमें वाझेष्क अर्थात् वासिष्क को कुजुल का वंशज कहा गया है।[101] आश्चर्य है चीनी साक्ष्य जो कैडफाइसेस शासकों के विषय में प्रचुर बहुमूल्य-सामग्री प्रस्तुत करते हैं, अकस्मात् इस महान् शासक कनिष्क के विषय में मौन कैसे हैं?[102]

शक-सम्वत् का संस्थापक कौन था? यद्यपि स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता अथावधि देशी एवं विदेशी इतिहासविज्ञ इस समस्या को सुलझाने में संलग्न हैं। प्राप्त पुरातात्विक एवं साहित्यिक सामग्री के आधार पर कतिपय विद्वान् कनिष्क को 78 ई० से आरम्भ होने वाले शक-सम्वत् का संस्थापक स्वीकारते हैं,[103] जो आज भारतीय-संविधान द्वारा मान्य है। कनिष्क से लेकर वासुदेव तक की 1-98 तक क्रमिक तिथि ज्ञात हैं।[104]

अभिलेखों के सम्यक् अध्ययन द्वारा कनिष्क-साम्राज्य की सीमाएँ निश्चित हो जाती हैं। उसका साम्राज्य पूर्व में संभवतः बिहार से पश्चिम में खोरासन तक एवं दक्षिण में कोकण से उत्तर में खोतान तक विस्तृत था। उसके अभिलेखों की विशेषता है कि वे क्रमिक तिथि के आधार पर साम्राज्य-विस्तार के द्योतक हैं। प्रथम वर्ष का अभिलेख पेशावर से, दूसरे वर्ष का कोसम,[105] तीसरे वर्ष का सारनाथ,[106] चौथे वर्ष से तेईस वर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक मथुरा से,[107] ग्यारहवें वर्ष का सूइ-विहार (वहावलपुर), एवं जैंदा (उन्द) से, अठारहवें वर्ष का मन्किआला[108] रावलपिंडी से प्राप्त हुए हैं। इसी सन्दर्भ में उसके युद्ध एवं विजयों पर प्रकाश डालना भी उचित होगा जैसा कि अभिलेखों से स्पष्ट है। कनिष्क ने सैनिक-अभियान के दौरान सर्वप्रथम पूर्वी-भारत में बनारस तक के क्षेत्र पर आधिपत्य किया था। सारनाथ-अभिलेख में वर्णित क्षत्रप एवं महाक्षत्रप वनस्पर व खरपल्लान के सन्दर्भ के आधार पर डा० पुरी का अनुमान है कि सारनाथ-वाराणसी उसके साम्राज्य के मुख्यालय थे जो कि निश्चय ही केन्द्र में स्थित होगा तथा उसका वास्तविक राज्य-विस्तार बिहार तक था।[109] कनिष्क का बिहार तक साम्राज्य-विस्तार अनेक विवरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। उसकी एवं उत्तराधिकारियों की मुद्राएँ बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं।[110] चीनी तथा तिब्बती इतिहासकार पाटलिपुत्र तक उसके सफल अभियान का वर्णन करते हैं।[111] उल्लेख है कि चैन-तेन-किया-नि-च ने पाटलिपुत्र के शासक को पराजित किया और क्षतिपूर्ति-हेतु बौद्ध-दर्शन के उद्भट विद्वान् अश्वघोष को स्वीकार किया।[112] कल्पनामान्दीतिका में विवरण है कि देवपुत्र कनिष्क ने पूर्वी-भारत पर विजय प्राप्त की।[113] बौद्ध-इतिहास में पूर्वी-भारत का अभिप्राय पूर्वी-बिहार से है।[114] सम्प्रदाय-निदान-सूत्र के चीनी लेख में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि अश्वघोष पाटलिपुत्र के शासक के दरबार में रहता था जो (कनिष्क) पूर्वी-भारत का एकछत्र सम्राट् था।[115] एक अन्य स्रोत बोधगया-फलक से भी कुषाणों के बिहार पर अधिकार की पुष्टि होती है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर स्टेन कोनोव ने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि कनिष्क सर्वप्रथम गंगा-देश गया था। तत्पश्चात् कश्मीर होता हुआ अपने देश खोतान वापिस लौटा।[116] अन्य इतिहास विज्ञ गंगा-देश में रहने वाली मुरोडाई-जाति को कुषाणों से मिलाते हैं।[117] कोनोव इससे सहमत हो लिखते हैं कि मुरुण्ड शक शब्द है जिसका अभिप्राय स्वामी से है।[118] पुराणों में उल्लेख आता है कि गुप्तों के पूर्व इस स्थान पर मुरुण्डों का शासन था। समुद्रगुप्त के प्रयाग-अभिलेख में भी देवपुत्र शाही शहानुशाही शक-मुरुण्ड का विवरण है।[119] सिलवेन लेवी गंगा-देश में रहने वाली इस जाति (मुरोडाई) को मुरुण्ड कहकर उन्हें कुषाण अथवा शक जाति का मानते हैं। जैंदा-अभिलेख[120] में कनिष्क के लिए प्रयुक्त मुरोडस मर्झकस उपाधि को उसके द्वारा मुरुण्ड (बिहार) विजय का द्योतक मानते हैं। एक अन्य विचारक का विश्वास है कि ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में गंगा-देश में रहने वाले मुरुण्ड-शासक विदेशी थे।[121] मुद्रा-साक्ष्य द्वारा भी इस विवाद-ग्रस्त विषय-सम्बन्धी पर्याप्त-सामग्री उपलब्ध होती है। जिनके आधार पर विद्वान् प्रायः पूर्व में बिहार तक कनिष्क के साम्राज्य-विस्तार की कल्पना करते हैं। अतएव महत्वपूर्ण सन्दर्भ अवलोकनीय हैं।[122]

कनिष्क के सूई-विहार-अभिलेख[123] द्वारा पश्चिम-भारत में सिन्धु-क्षेत्र के निचले भाग तक उसका राज्य-विस्तार स्पष्ट होता है। इधर रुद्रदामन का जूनागढ़-अभिलेख[124] 130-150 ई० में सिन्धु-सौवीर पर रुद्रदामन का अधिकार बताता है। कनिष्क की तिथि 125 व 144 ई० मानने वाले विद्वानों के समक्ष यह समस्या है कि एक काल में दोनों समकालीन शासकों ने एक स्थान पर कैसे एकछत्र राज्य किया होगा।[125] इसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार पूर्वी-मालवा पर रुद्रदामन व वासिष्क समवर्ती शासक हुए।[126] जूनागढ़-अभिलेख में उल्लिखित 'स्वयम् अधिगता महाक्षत्रपानाम्ना'[127] से रुद्रदामन स्वतन्त्र एकछत्र शासक सिद्ध होता है। यदि यह दोनों शासक समकालीन होते तो कनिष्क के अभिलेखों में रुद्र-दामन का एवं रुद्रदामन के अभिलेखों में कनिष्क का कहीं तो वर्णन आता।

दक्षिण-भारत से कनिष्क का एक भी अभिलेख प्राप्त न होने के कारण दक्षिण में उसके राज्य की सीमा निर्धारित करना कठिन है। सांची से प्राप्त वासिष्क के अभिलेख द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वी-मालवा अकारा में 28वें वर्ष में कुषाण-शासन था।[128] यह तो निश्चित है कि कनिष्क-काल के बाद कुषाण-साम्राज्य की सीमा का विस्तार नहीं हुआ। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि यद्यपि कुषाणों ने दक्षिण में साम्राज्य-विस्तार नहीं किया था परन्तु दक्षिण के निकट अकारा तक अवश्य वह पहुँच गये थे।[129] महरौली अभिलेख[130] के शासक चन्द्र की पहचान कनिष्क से भी की जाती है। संभवतः उसने काश्मीर विजयोपरान्त सिन्धु के सातमुखों को पार कर अपने देश खोतान को प्रस्थान किया हो। ह्वेनसांग तो उसका आधिपत्य मध्य-एशिया के सुंग-लिंग पर्वत तक मानता है।[131] उल्लेखनीय है कि मध्य-एशियाई शासक कुषाण-राज्य में कैदी थे।[132] इस कथन से कनिष्क के मध्य एशिया में चीन से कटु-सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं। कदाचित् वृद्धावस्था में कनिष्क ने चीन के विरुद्ध असफल अभियान किया था।[133] परन्तु इतिहासकारों का दूसरा मत प्रस्तुत घटना को वीम से सम्बन्धित करता है। अपने मत के समर्थन में वह कहते हैं कि यदि चीन द्वारा कनिष्क पराजित हुआ होता तो अन्य विवरणों के समान चीनी साहित्य में इसका उल्लेख अवश्य होता। संभवतः कनिष्क को चीनी-शासक को कर देना अपमान-जनक लगा जो वीम की पराजय के बाद से चला आ रहा था एवं उसने देना बन्द कर दिया। यह भी कहा जाता है कि कनिष्क ने चीनी-सम्राट् की कन्या से विवाह का प्रस्ताव रखा जिसे चीनी जनरल पान-चाओ ने सम्राट् की प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। फलस्वरूप दोनों में युद्ध हुआ इसमें कनिष्क की विजय हुई एवं काशगर, यारकन्द, खोतान कनिष्क-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गए।[135] पार्थिया पर भी उसके द्वारा सफल अभियान के उल्लेख मिलते हैं।[136] कनिष्क ने रोम में भी राजदूत भेजे थे।[137]

कुषाण-साम्राज्य की राजधानी क्या थी? कुछ वर्ष पूर्व तक यह एक सन्देहास्पद विषय रहा। विभिन्न इतिहासकार पेशावर अथवा मथुरा अथवा दोनों को राजधानी मानते रहे।[138] चूंकि संभवतः अधिकांश मूर्तियाँ, अभिलेख, विहार आदि उपलब्धियाँ इन्हीं स्थानों से हुई हैं परन्तु इतिहासकार मुकर्जी ने सर्वप्रथम बल्ख को कुषाणों की राजधानी घोषित किया।[139]

अभिलेख एवं मुद्रा-साक्ष्य एक स्वर से कनिष्क को बौद्ध-धर्मानुयायी घोषित करते हैं। वास्तव में उसकी ख्याति एक विजेता रूप में उतनी न थी जितनी बौद्ध-धर्म प्रचारक रूप में।[140] अन्यथा भी यदि उसके कृत्यों पर दृष्टि डालें तो बौद्ध-धर्म के प्रति उसका विशेष योगदान स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उसने पेशावर में एक महान् विहार निर्मित करवाया था जो न केवल बुद्ध-जगत् में विख्यात हुआ वरन् नवीं श० के अभिलेख के अनु-सार बुद्ध-संस्कृति का केन्द्र हो गया था। उसे चीनी एवं मुस्लिम यात्री आश्चर्य-चकित हो

 CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by Sarayu Trust Foundation, New Delhi. Funding by Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha. Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri. Digitized by Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देखते थे।[141] प्रसिद्ध चतुर्थ-बौद्ध-संगीत का आयोजन कनिष्क ने काश्मीर के कुण्डलवन-विहार में करवाया था।[142] इसमें 500 बौद्ध-भिक्षु एकत्र हुए थे। तथा वसुमित्र अध्यक्ष एवं अश्वघोष उपाध्यक्ष मनोनीत हुए थे।[143] इस संगति के परिणामस्वरूप बौद्ध-धर्म के एक सर्वथा नवीन सम्प्रदाय 'महायान-सम्प्रदाय' का उदय हुआ। इस संगति की पाण्डुलिपि पर जो व्याख्याएं हुई थीं एक ताम्रपट पर अंकित कराकर स्तूप में रखी गईं। भारतीय-इतिहास की यह धरोहर भारतीय-वसुन्धरा में ही कहीं विलुप्त हैं जिस भी पुरातत्ववेत्ता को यह अमूल्य-निधि प्राप्त होगी वह बौद्ध-धर्म में एक नवीन-अध्याय का सूत्रपात करेगा।[144] इतिहासकार मुकर्जी ने तत्कालीन धार्मिक-दशा के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है निःसन्देह कुषाण बौद्ध-धर्म में परिवर्तित हो गए थे पर उपरान्त काल में बुद्ध-वाद भी कुषाण-वाद में परिवर्तित हुआ।[145] यद्यपि कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे कनिष्क की बौद्ध-धर्म के प्रति प्रगाढ़-आस्था अभिव्यक्त नहीं होती।[146] कनिष्क का दृष्टि-कोण बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के प्रति भी उदार था। इस बात की पुष्टि उसकी मुद्रा के पृष्ठभाग पर अंकित ग्रीक, सुमेरियन, इलेमाइट, पर्शियन और भारतीय देवी-देवताओं जैसे—ओइशो, अयशो, वोड्डो, माओ, मिअरो, नाना, आरलेग्नो, फेर्रो, हैलियन आदि की मूर्तियों द्वारा होती है।[147] कतिपय विद्वान् कनिष्क को द्वितीय-अशोक कहते हैं।[148] वास्तव में उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य की वीरता, पराक्रम और अशोक के बौद्ध-धर्म-प्रेम का अच्छा समन्वय था।[149] अशोक के समान कनिष्क-काल में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत के बाहर दूर-दूर तक हुआ।[150] मध्य-एशियाई एवं चीनी बौद्ध-ग्रन्थों में उसे चक्रवर्ती बताया गया है किन्तु बौद्ध-धर्म में उसे यह स्थान प्राप्त न हो सका जो अन्य चक्रवर्ती-सम्राटों को मिला क्योंकि शस्त्र-प्रयोग पर उसका विश्वास अन्त तक बना रहा और हिंसा से उसकी विरक्ति नहीं हो सकी थी।[151]

कनिष्क-काल में कला के क्षेत्र में मथुरा एवं गन्धार कलाएं विशेष प्रसिद्ध रहीं। गन्धार-कला तो कला-जीवन की पूर्ण युवावस्था में थी।[152] तत्कालीन कला में नव परि-वर्तन पूर्व प्रचलित प्रतीक के स्थान पर मूर्ति के रूप में प्रदर्शित हुआ। निर्माण-कार्य में भी कनिष्क की समान अभिरुचि प्रकट होती है। उसने अनेक विहार, संघाराम बनवाए थे। साहित्य का तो कनिष्क विशेष प्रेमी था ही।[153] उसके दरबार में न केवल बुद्ध-दर्शन प्रवीण अश्वघोष,[154] पार्श्व, बहुमित्र को ही आरक्षण प्राप्त था वरन् विद्वान् संघरक्ष उसका कुलगुरू था। बौद्ध-धर्म के महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भाष्यकार नागार्जुन एवं प्रसिद्ध शरीर विशेषज्ञ चरक उसके दरबार के विशेष आभूषण थे।[155] अत्यन्त प्रखर राजनीतिज्ञ माथर कनिष्क का मन्त्री था।

कनिष्क की मुद्राएं स्वर्ण एवं ताम्र की प्राप्त हुई हैं जो साम्राज्य में शान्ति, समृद्धता व प्रगति की प्रतीक हैं। मुद्राओं के अतिरिक्त कनिष्क का कोशाम्बी से मुद्रांकण भी प्राप्त हुआ है।[156] पृष्ठभाग पर ईरानी उपाधि शाओ नाना शाओ अंकित है।[157] अशोक के समान ही उसने भी सार्वभौम-सत्ता को प्रदर्शित करने वाली महाराज राजाति-राज देवपुत्र आदि उपाधियाँ धारण की थीं जो क्रमशः भारत, यूनान व चीनी साम्राज्य में परस्पर सम्बन्ध की द्योतक हैं।[158] कुषाण-शासकों द्वारा प्रयुक्त देवपुत्र उपाधि की

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्याख्या विद्वानों ने अपने-अपने विवेक द्वारा भिन्न-भिन्न की है।[159] एक इतिहासकार का विचार है कि इस उपाधि को धारण करने का उद्देश्य स्वयं को मनुष्य मात्र से श्रेष्ठ देवता-स्वरूप प्रदर्शित करना रहा होगा।[160]

कनिष्क ने 23 वर्ष एकछत्र शासन किया पर उसके अन्तिम दिन कष्टप्रद रहे। सम्प्रदाय-निदान-सूत्र में विवरण आता है कि किस प्रकार मन्त्री माथर की परामर्श से कनिष्क ने विश्व-विजय की इच्छा की।[161] जबकि उसके अधिकारी निरन्तर युद्ध करते-करते पस्त हो चुके थे। अतः उसकी महत्वाकांक्षा से क्षुब्ध हो अधिकारियों ने षडयन्त्र रचकर उसकी हत्या कर दी। उसके शासन-काल के अन्तिम वर्ष (23वें वर्ष) का एक अभिलेख प्राप्त होता है। इसके पश्चात् 24 वें वर्ष का मथुरा से वासिष्क का अभिलेख मिलता है।[162] अतः इन दोनों लेखों के तिथियों के अन्तराल में ही कनिष्क की मृत्यु हुई होगी।

वासिष्क

प्राप्त अभिलेखीय-साक्ष्यों के आधार पर वासिष्क कनिष्क का प्रथम उत्तराधिकारी था। वासिष्क शब्द का अभिप्राय संभवतः अत्यधिक शक्तिशाली अथवा तेजस्वी से था।[163] उसके राज्यकाल की जानकारी मात्र तीन अभिलेखों द्वारा होती है। कुछ वर्ष पूर्व 20 वें वर्ष के कामरा से प्राप्त अभिलेख में वासिष्क सम्बन्धी नवीन जानकारी मिलती है। इस लेख में वासिष्क के स्थान पर वाझेष्क शब्द प्रयुक्त है। जैसा कि विदित है कनिष्क ने 1 से 23 वर्ष राज्य किया था। संभवतः 20 वें वर्ष में वासिष्क कनिष्क का सह-शासक रूप में रहा होगा।[164] दूसरा अभिलेख 24वें वर्ष का मथुरा से प्राप्त हुआ है इसमें शासक महाराज राजातिराज देवपुत्रशाही उपाधियों से अलंकृत है।[165] तीसरा अभिलेख 28वें वर्ष का सांची से उपलब्ध है जिसमें शासक का नाम वासष्क एवं पूरी साम्राज्यवादी उपाधियाँ प्रयुक्त हैं।[166] इन अभिलेखों द्वारा उसका साम्राज्य मथुरा एवं पूर्वी मालवा पर स्पष्ट होता है। दुर्भाग्यवश वासिष्क की एक भी मुद्रा नहीं मिली। संभवतः इसका कारण उसका अल्पकालीन (24-28 वर्ष का) शासन था।

राजतरंगिणी में वर्णित जुष्क की समानता वासिष्क से की गई है। इसने जुष्कपुर नगर का निर्माण करवाया था जो श्रीनगर में स्थित आधुनिक जुकुर है।[167] हुष्क, जुष्क, कनिक काल में काश्मीर में बौद्ध-धर्म का विशेष प्रचलन रहा। यहाँ का बौद्ध-यशस्वी विद्वान् नागार्जुन एक छत्र शासक था। नागार्जुन कनिष्क के अतिरिक्त वासिष्क एवं हुविष्क का भी समकालीन था।[168] यद्यपि कतिपय विद्वान् नागार्जुन को कनिष्क-द्वितीय का समकालीन भी मानते हैं।

हुविष्क

हुविष्क वासिष्क के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ। इसकी 26 से 62 सम्वत् की क्रमिक-तिथियाँ ज्ञात हैं।[169] सं० 26 अमिताभ-बुद्ध-मूर्ति में मिला है और हुविष्क का नाम भी।[170] हुविष्क वासिष्क एवं कनिष्क द्वितीय (आरा-अभिलेख के) दोनों का समकालीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
था। आरा-अभिलेख के आधार पर इतिहासकार दो हुविष्क होने की भी कल्पना करते हैं। एक कनिष्क-द्वितीय के पूर्व हुआ एवं दूसरा उसके पश्चात्। मार्शल को हुविष्क के मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में एक नवीनता यह मिली कि उसके 40 वर्ष से पूर्व के लेखों में राजाधिराज उपाधि नहीं मिली पर बाद में वह राजाधिराज भी कहलाया।[171] ये दोनों हुविष्क संभवतः चाचा-भतीजे थे।[172] परन्तु उनके अभिलेखों व मुद्राओं में निरन्तरता के कारण इसके विपरीत संभावनाएं भी उत्पन्न होती हैं।[173] उसके महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाही, शाओ नाना शाओ, आदि विरुद्ध विस्तृत-साम्राज्य पर अधिकार के द्योतक हैं।[174] इतिहासकार पुरी के विचार में व्यक्तिगत विवरणों में छोटी उपाधि का धारण करना शासक की पदावनति को सूचित नहीं करता जैसा कि प्रायः माना जाता है।[175]

मुद्रा-साक्ष्य के सम्यक्-अध्ययन से उसकी ब्राह्मण-धर्म में विशेष आस्था परिलक्षित होती है। उसने हिन्दू देवी-देवताओं शिव-नाना[176] के साथ अन्य देवताओं कार्तिकेय[177] व विष्णु आदि का भी परिचय कराया था। इसके अतिरिक्त उसके अभिलेख जहाँ एक ओर जैन-धर्म में उसकी रुचि दिखाते हैं वहाँ उसे बौद्ध-धर्म का भी अनन्य-भक्त घोषित करते हैं। उसने मथुरा में एक अद्भुत विहार का निर्माण कराया था।[178]

माट (मथुरा) से प्राप्त एक विवरण में प्रयुक्त देवकुल[179] शब्द पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। यह देवकुल हुविष्क पितामह वीम की मूर्ति पर प्रतिष्ठापित है। अवलोकनीय है कुषाण-शासक अपने को देवपुत्र कहते थे। अतः देवकुल से उनका अभिप्राय मन्दिर के समान उस स्थान से रहा होगा जहाँ मृत कुषाण-शासकों की स्मृति में मूर्तियाँ स्थापित कराई गई। इस प्रकार उन्होंने मानव में देवत्व की कल्पना की थी। वास्तव में उस समय मानव-मात्र लौकिक-सुख-वैभव में इतना लिप्त था कि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अन्तिम कुषाण-काल में आते-आते उसके अन्दर आध्यात्मिक-परमतत्त्व को जानने (पाने) की इच्छा प्रबल हो गई थी जो गुप्त-कालीन कला में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

हुविष्क के अभिलेख 26 से 62 वर्ष तक के प्राप्त हुए हैं पर क्योंकि उसके उत्तराधिकारी वासुदेव का प्रथम अभिलेख 67 वर्ष का है अतः अनुमान है कि हुविष्क ने 62[180] वर्ष के उपरान्त भी राज्य किया। उसकी मुद्राएँ कपिशा से बिहार तक प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। यह स्वर्ण एवं ताम्र की हैं जो साम्राज्य में शान्ति व समृद्धता की द्योतक हैं। निश्चय ही हुविष्क को पिता से प्राप्त एक विस्तृत-साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने का श्रेय प्राप्त था।

कनिष्क द्वितीय

कनिष्क-द्वितीय की जानकारी सर्वप्रथम 41 वें वर्ष के आरा-अभिलेख से होती है। इसमें उसे वाझेष्क पुत्र कनिष्क कहा गया है।[181] एवं उनके लिए महाराज राजातिराज देवपुत्र कयसर उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं।[182] मात्र उपाधि कयसर होने पर ही इस कनिष्क को कनिष्क प्रथम से प्रथक् किया जाता रहा।[183] इतिहासकारों का एक वर्ग कनिष्क-द्वितीय को वासिष्क, हुविष्क एवं वासुदेव के पश्चात् मानता था। इधर मुद्रा-साक्ष्य द्वारा भी कनिष्क द्वितीय के वासुदेव के उपरान्त होने की पुष्टि होती थी।[184] उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्राओं के प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध होने के कारण एक विस्तृत शासन-काल का संकेत मिलता था। पर आज आरा-अभिलेख में विहित वासिष्क-पुत्र कनिष्क द्वितीय के विषय में नवीन सूचना कामरा से प्राप्त 20 वें वर्ष के खरोष्ठी-लेख से हो जाती है।[185] उसमें कनिष्क द्वितीय के जन्म-वर्ष का भी स्पष्ट उल्लेख है। अतएव 20 वें वर्ष में उत्पन्न कनिष्क-द्वितीय की आयु आरा-अभिलेख के 41 वें वर्ष में 21 वर्ष की रही होगी। इसी कनिष्क-द्वितीय ने काश्मीर में कनिष्कपुर-नगर की स्थापना की होगी।[186] कुछ विद्वान् नागार्जुन को कनिष्क-द्वितीय का समकालीन घोषित करते हैं। आरा-अभिलेख में प्रयुक्त कयसर उपाधि निश्चय ही रोम से सम्बन्ध को सूचित करती है। यद्यपि पहले इस उपाधि पर विचारकों ने आपत्ति प्रकट की थी पर अब उनके समक्ष इसे कयसर के अतिरिक्त और कुछ मानने का विकल्प भी नहीं है।[187]

वासुदेव

वासुदेव कनिष्क-परिवार का अन्तिम प्रमुख प्रशासक था। उसने सम्वत् 64 अथवा 67 से 98 के बीच राज्य किया था।[188] मात्र नाम 'वासुदेव' से ही उस पर पूर्ण भारतीय प्रभाव स्पष्ट होता है।[189] उसने अभिलेखों में महाराज देवपुत्र वासुदेव,[190] महाराज राजातिराज देवपुत्र[191] वासुदेव, महाराज राजातिराज शाही वासुदेव[192] और महाराज राजातिराज देवपुत्रशाही वासुदेव[193] जैसी गौरवपूर्ण विरुदावलियाँ धारण की थीं। वासुदेव की मुद्रा एक विस्तृत-क्षेत्र सहरी बहलोल[194], जमालगढ़ी[195], सिरकप, तक्षशिला के अन्य क्षेत्रों[196] एवं वैग्राम[197] आदि से प्राप्त हुई हैं जो बनारस से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान तक उसके आधिपत्य को सिद्ध करती हैं। उसके साम्राज्य-विस्तार से सम्बन्धित अनेक विवरण चीनी-साहित्य में मिलते हैं जिनके अनुसार पो-शियो ने एक राजदूत 230वें वर्ष में चीनीशासक के पास भेजा था। फलस्वरूप उसे ता-यू-ची-सम्राट उपाधि प्राप्त हुई थी।[198] इस पो-शियो को टेंग-साहित्य में पुआ-डिउ कहा गया तथा उसे वासुदेव से मिलाया गया।[199] एक अन्य विवरण में उल्लेख आता है कि यू-ची शक्ति कि-पिन (कपिसा) ताहिया (बैक्ट्रिया), तिएन-चाऊ (भारत) एवं काऊ-फू (काबुल) में तीसरी श० के मध्य विद्यमान रही।[200] परन्तु उपरोक्त सभी विवरणों के विपरीत मध्य-एशिया के शाहदल स्थान से वीम से हुविष्क तक की मुद्रा प्राप्त हुई हैं पर वासुदेव की नहीं हैं। अतः अनुमान है कि हुविष्क के अन्तिम समय में कुषाण-शासन इस स्थान में समाप्त हो चुका था।[201] वैसे भी कनिष्क एवं हुविष्क की अपेक्षा वासुदेव की मुद्रा कम प्राप्त होना इस बात का संकेत है कि उसके समय से कुषाण-शक्ति पतन की ओर अग्रसित होती गयी।[202] मूलरूप से वासुदेव शैव धर्मावलम्बी था। उसकी एक ही प्रकार की मुद्रा पर शिव वाहन-नन्दी सहित प्रदर्शित हैं।[203] अतः स्पष्ट है कि अपने पूर्वज वीम कैडफाइसेस के समान वासुदेव ने शैव-धर्म को स्वीकार किया था जबकि अन्य शासकों ने बौद्ध, यूनानी, पर्शियन देवी-देवताओं को अपनी मुद्रा में अंकित कराया था। यद्यपि वासुदेव नाम से उसके वैष्णव होने की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।[204] साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि इस समय तक आते-आते कुषाण-संस्कृति भारतीय-संस्कृति में पूर्ण आत्मसात् हो गई थी। इस बात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
की पुष्टि वासुदेव की वेश-भूषा से भी होती है।[205] वास्तव में कुषाण-शासक उदात्त-चित व सहिष्णु थे। वह शनैः-शनैः तत्कालीन प्रचलित बौद्ध-धर्म एवं तत्पश्चात् ब्राह्मण-धर्म की ओर झुकते हुए। इस प्रकार कनिष्क-परिवार वासुदेव के साथ-साथ समाप्त हो जाता है। तदुपरान्त बाद के कुषाण-शासकों का शासन अरम्भ होता है।

निष्कर्ष

ऐतिहासिक-पृष्ठभूमि में कुषाण-साम्राज्य का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में आने वाली विभिन्न विदेशी विजातियों यवन, शक, पह्लव कुषाण आदि में कुषाण सर्वप्रमुख थे। इस राजवंश में क्रमशः कुजुल कैडफाइसेस, वीस कैडफाइसेस, कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क, कनिष्क-द्वितीय एवं वासुदेव प्रमुख-शासक हुए यद्यपि इनके अतिरिक्त भी बाद के कुषाण-शासकों ने राज्य किया। इन शासकों के राज्यकाल से सम्बन्धित जानकारी तत्कालीन साहित्यिक, पुरातात्विक (अभिलेख एवं मुद्रा) साक्ष्यों एवं विदेशियों के विवरणों से होती है। उक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाण-साम्राज्य की सीमाएँ पूर्वी-भारत में सम्भवतः पाटलिपुत्र तथा भारत के बाहर सुदूर मध्य-एशियाइ-अंचलों में खोतान तक विस्तृत हुई। वास्तव में कुषाण-काल में ही कदाचित् भारतीय-साम्राज्य सर्वप्रथम उत्तर-पूर्व में चीन तक विस्तृत हुआ। इस दृष्टि से राजनीतिक-परिवेश में कुषाणों का महत्व और भी बढ़ जाता है। व्यापार के सिलसिले में भारत का सम्पर्क चीन व रोम से स्थापित हुआ था। इस काल में कुषाण-राजवंश ने समाज के विभिन्न आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं कलात्मक क्षेत्रों में विशेष योगदान दिया। कला में प्रतीक के स्थान पर मूर्ति-निर्माण एवं मथुरा तथा गन्धार कला की स्वतन्त्र-शैलियों के प्रादुर्भाव इस काल की अमूल्य देन है। धर्म के क्षेत्र में निश्चय ही कुषाण-काल में बौद्ध-धर्म को विशेष-प्रश्रय मिला। पर साथ ही अन्य धर्मों—भारतीय, यूनानी, पार्थियन आदि के प्रति भी उनका दृष्टिकोण कम उदार न था। प्रसिद्ध चतुर्थ-बौद्ध-संगति का आयोजन इसी काल में हुआ था। फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में एक नवीन सम्प्रदाय महायान-सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में साहित्य की आशातीत उन्नति हुई थी। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, माथर, चरक आदि विद्वानों की रचनाएँ उनकी विद्वता की प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं। स्वर्ण-मुद्रा का अंकन सर्वप्रथम इसी काल में आरम्भ हुआ जो उन्नत-आर्थिक-स्थिति का द्योतक है। अतः उपरोक्त विवेचन से भारतीय राजनीतिक इतिहास में कुषाण-राजवंश की महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

सन्दर्भ

1. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, दि डाइनैस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणाज़, पृ० 9 कुषाणों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण चीनी-साक्ष्य निम्न हैं—जनरल चेंग-चिएन (114 ई० पू० में मृत्यु के पूर्व 140 ई० पू० में सक्रिय था) यह निर्भीक अधिकारी ह्यू-गू-नू एवं पश्चिम-सीमा पर चीनियों के महाशत्रुओं को पराजित करने के लिए सर्वप्रथम पश्चिम में यू-ची की सहायता-हेतु भेजा गया था। उसने 13 वर्ष इन और अन्य

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातियों के मध्य व्यतीत किए और 128 ई० पू० यू-ची राज्य की यात्रा की। इसके विवरण (ऐतिहासिक-विवरण) शी-की के 123 अध्याय में वर्णित हैं। यह सु-मा-चिएन (मृत्यु 110 ई० पू० हुई) द्वारा आरम्भ की गई एवं पुत्र स्से-मा-चिएन द्वारा लगभग 110-90 ई० पू० समाप्त हुई। देखिए चेवेनीज़ का शी-की अनुवाद 'लेस ममोयर्स डे से मा सिएन' और देखिए हिर्थ, ज० अमे० ओरि० सो०, 1917, पृ० 89 से, पूर्व-हान-इतिहास (चेन-हान-शू) मुख्य रूप से पान-कू द्वारा (ई० 32-92 लगभग ई० 80 में संकलित किया गया। पिता पान-पियो जिसकी मृत्यु ई० 54 में हुई, के शोध पर आधारित है। देखिए ए० विली, ज० रा० एशि० सो०, 10, 1881, 11, 1882, उत्तर-हान-इतिहास (हाऊ-हान-शू), फान-ये की मृत्यु (ई० 446) 5 वीं श० तक संकलित नहीं किया गया था। अधिकांश पश्चिमी-क्षेत्र का विवरण जनरल पान-युंग की सूचना पर आधारित है। यद्यपि ई० 125 के कुछ बाद भी विवरण जोड़े गए हैं। इस विवरण में चिएन-हान-शू की गल्तियों को सुधारने का साहसिक कार्य भी किया गया। पान यूंग का उल्लेख विस्तृत रूप से पिता पान-चाओ के साहसिक कार्य से लिया गया प्रतीत होता है जो शासक सिएन-सुंग द्वारा ई० 74 में तारीम-बेसिन से पामीर के पार तक व्यापारिक-मार्ग से जन-जाति के विद्रोह को दूर करने के लिए भेजा गया था। उसने सम्राट् को ई० 78 में एक स्मारक-पत्र लिखा जो कि चीनी मूल राजनीति (हाऊ-हान-शू 77—44 अ) पर बहुमूल्य उल्लेख है। वह सौ वर्ष तक सक्रिय था जब चीन लौटा। उसका पुत्र 124 से 27 ई० तक उसी सीमा में रहा। पर ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों से उसके निकट-सम्बन्ध न हो पाए थे। पान-चाओ को अभिज्ञेय-साक्ष्य के आधार पर कुषाणों की काफी निकट की जानकारी थी। फिर भी उसका एवं उसके पुत्र का ज्ञान तारीम-बेसिन के बाहर समकालीन घटनाओं के विषय में काफी अस्पष्ट है। केवल कुजुल एवं वीम की उत्पति-सम्बन्धी विशेष रूप से कुषाण शहर की मूल घटनाओं का उल्लेख है। देखिए चेवेनीज, टींग-पाओ 8 (1907), पृ० 149-243, और भी टींगपाओ, 7 (1906), पृ० 210-269।

तीन राज्यों के विवरणों (सान-काओ-चिह) में तीन बाद के हान राज्यों का इतिहास है, यह हैं—वे (220-268), शू-हान (221-263), और वू (222-280)। यह (तीनों) चेन-शाओं द्वारा (233-297 ई० में) संकलित हुए। इनमें से वे-चिह में यू-ची के दो महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ आते हैं। देखिए चेवेनीज़, टोंग-पाओ, 5 (1904), पृ० 489 से लेकर, फ्रेकेल, अनुवादों के केटेलाग, पृ० 11।

वे का संक्षिप्त-विवरण (वे-ल्यूह) ई० 239 और 265 के बीच यू-ह्वान द्वारा प्रकाशित हुआ। मूल पाठ खो चुका है पर उसके अंश पेइ-सुंग-चिह की व्याख्या सान-काओ-चि में उल्लिखित ई० 429 में प्रकाशित हुआ। देखिए चेवेनीज़ टोंग पाओ 6 (1905 पृ० 519-571, और ज० एशि०, 1900, 15, 451-468।

2. चिएन-हान-शू, अध्याय 96 अ।

3. चटर्जी, बी०, कुषाण स्टेट एण्ड इण्डियन सोसायटी, पृ० 28।

CC-0. Panjab Digital Library. Digitized by eGangotri. Funded by Sarayu Trust. Contributed by Panjab Digital Library. Digitized by Kamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4. शी० की०, 123-4
5. इन० एण्टि०, 1919, 48 पृ० 70
6. कुमार बी, दि, अर्ली कुषाणाज़, पृ० 15 हूण प्रमुख।
7. को० इन० इन०, 2, 1, भूमिका पृ० 19 से
8. शी-की, 123-4, 96 अ।
9. मजूमदार, ए० इम० यू०, पृ० 136
10. चिएन-हान-शू, 96 अ, वही, 61
11. को० इन० इन०, 2, 1, 65
12. चिएन-हान-शू, 96 अ, 114 ब।
13. स्मिथ, अ० हिस० इन०, पृ० 264
14. टार्न थ्री० वे० हन०, पृ० 278
15. नारायण, ए० के०, दि इण्डो-ग्रीक्स पृ० 135
16. मजूमदार, ए० इम० यू०, पृ० 136
17. रेप्सन, के० हिस० इन०, पृ० 791
18. शी की, 123-4
19. चिएन-हान-शू, 61
20. गेफुराव, बी०, कुषाण स्टडीज़ इन यू० एस० एस० आर०, पृ० 3
21. रॉलिन्सन, एच० जी०, वही, पृ० 93
22. ज० रा० एशि० सो०, 1903 पृ०,19-20
23. ज० अमे०, ओरि० सो०, 1917, पृ० 96
24. चिएन-हान-शू, 96 अ, 14 ब
25. बाशम, व दै० इन०, पृ० 61
26. ज० अमे० ओरि० सो०, 1945, 65, पृ० 72
27. म० भा० 12।65। 13
28. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही०, पृ० 9
29. ज० अमे० ओरि० सो०, 1945, 65 पृ० 77-80
30. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, पृ० 8
31 ह्वीलर, आर० इ० एम०, रोम बियोण्ड दि इम्पीरियल फ्रण्टीयर्स, पृ० 137-72
32. बु० स्कू० ओरि० एफ्रि०, स्ट०, 1950, 13, पृ० 397-9
33. हाऊ-हान-शू, 118
34. को० इन० इन०, 2, 1, 33
35. वान लोहुजेन डी लिउ, इ० जे०, दि सीथियन पीरियड, पृ० 329
36. कार्लग्रेन, बी०, एनालिटिक डिक्शनरी ऑफ चायनीज़ एण्ड साइनो-जेपनीज़, नं० 406, 252, 461
37. ज० रा० एशि० सो०, 1913 पृ० 632 पाद-टिप्पणी 1, पह्लवी केड—प्रमुख—पीसेस या पेस—स्वरूप, आकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

38. ओझा, के० सी०, फॉरेन रूल इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 123
39. हाऊ-हान-शू, 118
40. को० इन० इन०, 2, 1, 56 से
41. ओझा, के० सी०, वही, पृ० 124
42. हाऊ-हान-शू, 118
43. ज० रा० एशि० सो०, 1930, पृ० 189
44. ज० रा० एशि० सो०, 1930, पृ० 188-90
45. ज० वि० उ० रि० सो०, 1952, 38, पृ० 1-3
46. सरकार से० इन०, भाग 1, पृ० 126
47. ज० न्यू० सो० इन०, 1947, 9, 78 से
48. ज० रा० एशि० सो०, 1914 पृ० 977-8
49. चटर्जी, वही, पृ० 26-60
50. ज० वि० उ० रि० सो०, 1957, 43 पृ० 188
51. मार्शल तक्ष० गा०, 1 पृ० 67
52. स्टील, एफ० ए०, इण्डिया थ्रू दि एजेज़, पृ० 57
53. प० म्यु० कैटे०, प्ले० 17, 24, सन्दर्भ नं० 11
54. चटर्जी अ० हिस० ना० इन०, पृ० 71
55. को० इन० इन०, 2, 1, 63 से
56. ज० रा० एशि० सो०, 1906, पृ० 194
57. वेले पी० इन०, पृ० 40
58. मजूमदार ए० इम० यू०, पृ० 138
59. ज० रा० एशि० सो०, 1906, पृ० 194 पाद-टिप्पणी 1
60. रेप्सन के० हिस० इन०, पृ० 561-2
61. टार्न ग्री० वै० चा०, पृ० 343
62. एलेन, जे० और अन्य, वही, पृ० 74
63. हाऊ-हान-शू, 118
64. वही, 118
65. कार्लग्रेन, वी०, वही, न० 247, 808 और 1191
66. ज० रा० एशि० सो, 1950, 1, 12, भाग 2
67. कार्लग्रेन, वी०, वही, नं० 869, 645
68. हाऊ-हान-शू, 118
69. ज० इन० हिस०, 1933, 12, पृ० 34-5
70. वेले पी० इन०, पृ० 41
71. पुरी इन० जन० कुषा०, पृ० 27 पाद-टिप्पणी 107
72. मैक्रिन्डल एन० इन; पृ० 212, 213
73. न्यू०, क्रो०, 1934, 14 पृ० 232

 Digitized by Panjab Digital Library, Punjab Archives, Chandigarh, Punjab. Funded by Kirtanam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

74. कनिंघम म० भा० मु०, पृ० 16
75. कनिंघम प्रा० भा० सि०, पृ० 50
76. वाइटहैड, आर० बी०, इण्डो-ग्रीक-मुद्रा, पृ० 174
77. आर० स० इन, एनु० रि०, पृ० 29-94
78. ज० न्यू० सो० इन०, 1950, 12, पृ० 121-3
79. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1913-4, पृ० 122, 181; 1911-2 पृ० 134-40
80. मुकर्जी भा० सं० क०, पृ० 122
81. पाणिनि, 4, 1, 112
82. ब्रि० म्यु० क्वा०, 1933, 8, पृ० 73
83. एनु० रि० इन० आर०, 1936, 11, पृ० 7-8
84. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, पृ० 22
85. पुरी, इन० जन० कुषा०, पृ० 22
86. ज० रा० एशि० सो० 1930, पृ० 191
87. ज० न्यू० सो० इन०, 1947, 9, पृ० 80
88. न्यू० क्रो०, 1890, 10 पृ० 115 से
89. पं० म्यु० कैटे; पृ० 16 से
90. पुरी इन० जन० कुषा०, पृ० 22
91. मैक्डावेल, डी० डब्लू०, लन्दन सेमिनार, 1960
92. को० इन० इन०, 2, 1, 68
93. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1912-3 पृ० 8
94. को० इन० इन०, 2, 1, 69
95. न्यू० क्रो० 1892 पृ० 77 प्ले० 15 चि० 14
96. न्यू० क्रो०, 1890, 10, पृ० 115 से
97. बील, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ दि वैस्टर्न वर्ड, जि० 1, पृ० 56
98. लूडर्स, नं० 774, 814
99. मार्शल ने तक्षशिला के उत्खनन के प्राप्त भवनों के स्तर-विन्यास का अवलोकन किया। उनके अनुसार चिरस्तूप के भवन चार स्तरों के एक के ऊपर एक मिले हैं प्रत्येक स्तर के निर्माण में भिन्न-भिन्न ईंट, पत्थर का प्रयोग और प्रत्येक स्तर में शासकों या वंशों के सिक्के प्राप्त हुए हैं। (1) सबसे ऊपर के स्तर (तह) में अर्ध संगीन चिनाई एवं अर्ध फूलकारी, वासुदेव एवं बाद के कुषाण शासकों की मुद्रा। (2) दूसरे स्तर पर बड़ी विस्तृत फूलकारी, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव की मुद्राएँ (3) तीसरे स्तर में कम फूलकारी कैडफाइसेस I और II की मुद्राएँ (4) चतुर्थ स्तर में सबसे नीचे मलवा व शक-पह्लव मुद्रा, पुरी, इन० जन० कुषा०, पृ० 64, पाद-टिप्पणी 60।
100. पुरी, इन० जन० कुषा०, पृ० 35

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

101. ज० ई० वै०, 1975, 25, पृ० 105-9
102. को० इन० इन०, 2, 1, 75
103. वान लोहुसेन डी लिड, जे० ई०, वही, पृ० 65
104. कनिष्क परिवार के कुषाण-शासकों के विवरण में कनिष्क का राज्यकाल 2-23 वासिष्क का 24-8, हुविष्क का 28-60, कनिष्क द्वितीय का 41 और वासुदेव का 67-98 वर्ष है मजूमदार, ए० इम० यू०, पृ० 143
105. कलकत्ता रिव्यू, 1934 जुलाई, पृ० 83 से
106. एपि० इन०, 1905-6, 8, पृ० 179 से
107. ज० रा० एशि० सो०, 1924, पृ० 397, नं० 2
108. सरकार से० इन०, जि० 1, पृ० 135-9
109. पुरी इन० जन० कुषा०, पृ० 50
110. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1912-3, पृ० 53-86
111. इन० एन्टि०, 1903, 32, पृ० 382-5
112. इन० एन्टि०, 1903, 32, पृ० 385
113. वही
114. कनिंघम एन० ज्या० इन०, पृ० 43
115. इन० एन्टि०, 1908, 37, पृ० 57
116. इन० हिस० क्वा०, 1938, 14, पृ० 149 से
117. मजूदार-शास्त्री, एंशियट इन्डिया—टालेमी, पृ० 212
118. को० इन० इन०, 2,1 भूमिका पृ० 20
119. मजूमदार, पी० के०, भारत के प्राचीन अभिलेख, पृ० 117
120. ज० रा० एशि० सो०, 1863, 32, पृ० 5
121. एलेन, जे० और अन्य, वही, भूमिका, पृ० 29
122. ज० न्यू० सो० इन०, 1950, 12, पृ० 121-3
123. ज० एशि० सो०, वें०, 1870, 39, पृ० 65 से
124. मजूमदार, पी० के०, वही, पृ० 109
125. इन० हिस० क्वा०, 1930, 6, पृ० 149 से
126. एपि० इन०, 1905-6, 8, पृ० 141 से
127. वही, 1905-6, 8 पृ० 44
128. लूडर्स, नं० 161
129. मुकर्जी कुषा० ए० ड०, पृ० 109
130. ज० एशि० सो० वें०, 1943, 9, पृ० 79 से
131. वील, वही, जि० 1, पृ० 50
132. पुरी, इन० जन० कुषा० पृ० 51
133. ज० रा० एशि० सो०, 1912, पृ० 674
134. इन० एन्टि०, 1903, 32, पृ० 421-2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

135. वेले, पी० इन०, पृ०44
136. को० इन० इन०, 2,1, 79
137. एडवर्ड्स, एम०, वही, पृ० 66
138. चन्द्र, द्रे० द्रे० रु० एन० इन०, पृ० 10
139. मुकर्जी, डिस० कु० अम०, पृ० 1 से
140. इन० एन्टि०, 1903, 32, पृ० 381 से और 346
141. मुकर्जी, मा० सं० क०, पृ० 128
142. ला० वु० स्ट०, पृ० 71
143. मजूमदार ए० इम० यू०, पृ 147
144. मुकर्जी हिस० इन० सिवि० पृ० 106
145. मुकर्जी मा० सं० क० पृ० 104
146. शर्मा बु० आ० म०, पृ० 176
247. मजूमदार ए० इम० यू०, पृ० 147
148. स्मिथ, एन० इन०, पृ० 58
149. वेले, पी० इन० पृ० 48
150. आर० स० इन०, एनु० रि०, एपेन्डिक्स ए 1872-3, 5 पृ० 194
151. पुरा० संप्र० प० 1973, अंक 11 पृ० 21
152. इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया, 2, पृ० 115 से
153. कनिष्क ने एक हिन्दू नाटक एवं एक बड़ी संस्कृत कविता बुद्ध-जीवन पर लिखी थी, एडवार्ड, एम० वही, पृ० 67
154. सो०, भूमिका पृ० 21
155. ज० एशि० 1896, 480-3
156. शर्मा, कुषा० स्ट०, पृ० 45
157. मजूमदार, ए० इम० यू०, वही, पृ० 148
158. सरकार, सै० इन० ,जि० 2, नं 51, 1-2, पृ० 24, न० 31,1
159. ज० बि० रि० सो०, 1975, पृ० 56-7
160. पुरा० संग्र० पं०, 1973, अंक 11 पृ० 21
161. आरक्योलाजिकल रिव्यू, 1, 238
162. लूडर्स, न० 142 ए
163. वेले, लन्दन कान्फ्रेन्स, 1960
164. ज० ई० वे०, 1975, 25, भाग—1-2, पृ० 105-9
165. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1910-11 पृ० 41
166. रोजेनफील्ड, जे० एम०, वही पृ० 57
167. स्मिथ, अ० हिस० इन. पृ० 275
168. ओझा, के० सी०, वही, पृ० 131
169. एपि० इन०, 1892, 1, 398

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

170. शर्मा बु० आ० म० पृ० 231-2 चि० 154
171. मार्शल, तक्ष० गा०, पृ० 41
172. बु० स्कू० ओरि० एफ्रि० स्ट०, 1957, 20, पृ० 84-5
173. ज० रा० एशि० सो०, 1952, पृ० 108-16
174. एपि० इन०, 1931-2, 21, पृ० 59
175. पुरी इन० जन० कुषा०, पृ० 57
176, न्यू क्रो०, 1892, पृ० 117-8
177. इन० हिस० क्वा०, 1936, 12, 153-6, बनर्जी, जे० डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्रेफी पृ० 146
178. लूडर्स, नं० 62
179. ज० बि० उ० रि० सो० 1919 पृ० 98-9
180. एपि० इन० 1894, 2, 204
181. को० इन० इन०, 2, 1, 81
182. इन० एन्टि०, 1908, 37, पृ० 58
183. को० इन० इन०, 2, 1, 80
184. न्यू० क्रो०, 1893, पृ० 93-123, 166-262
185. ज० एशि० सो०, 1976, 18, पृ० 108
186. राय चौधरी, एच० सी०, वही, पृ० 477
187. बु० स्कू० ओरि० एफ्रि० स्ट०, 1957, 20, पृ० 85-8
188. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, पृ०
189. स्मिथ, अ० हिस० इन०, पृ० 288,
190. एपि० इन०, 1967, 37, पृ० 152
191. न्यू० क्रो०, 12 पृ० 50, नं० 66
192. इन० एन्टि०, 1904, 33, पृ० 108
193. म० म्यु० कैट०, न० वी० 4
194. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1911-2, पृ० 95 से
195. को० एन० इन०, 1, 1, पृ० 117
196. आर० स० इन०, एनु० रि०, 1912-3 पृ० 10-2,
197. पुरी, इन० जन० कुषा०, पृ० 58
198. को० इन० इन० 2, 1, पृ० 77
199. कार्लग्रेन, बी०, वही, न० 753, 1240
200. रायचौधरी, एच० सी०, वही, पृ० 478 पाद-टिप्पणी 2,
201. ज० न्यू० सो० इन०, 1966, 28, 1
202. वही, 1951, 13, भाग 2,
203. रोज़ेनफील्ड, जे० एम, वही, पृ० 104
204. बु० स्कू० ओरि० एफ्रि० स्ट०, 1957, 20, पृ० 78
205. ज० न्यू० सो० इन०, 1953, 15, पृ० 68

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

2

आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ को मनुष्य-जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में स्थान मिला है। अर्थ विहीन धर्म, काम, मोक्ष की कल्पना-मात्र दुष्कर है। चूंकि मनुष्य का प्रत्येक कार्य अर्थ द्वारा पूर्ण होता है अतएव अर्थ के अभाव में वह (मनुष्य) पंगु ही रह जायेगा। यदि समाज के सन्दर्भ में अर्थ की उपयोगिता को देखा जाए तो राजनैतिक अथवा धार्मिक अथवा सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक अथवा कलात्मक किसी भी क्षेत्र में उन्नति हेतु अर्थ पर निर्भर करना पड़ता है। वस्तुतः अर्थ एक अपरिहार्य-तत्व है। अतएव समाज का अध्ययन भी आर्थिक-अध्ययन के बिना एकाकी ही कहलाएगा। इसी को दृष्टिगत करके कुषाण-कालीन-समाज के अध्ययन में आर्थिक-पृष्ठभूमि प्रस्तुत है।

कुषाण-कालीन आर्थिक-अध्ययन हेतु प्राथमिक-साक्ष्यों को साहित्यिक (ब्राह्मण, बौद्ध व जैन) एवं पुरातात्विक (अभिलेख, मुद्रा व मूर्तियाँ) साक्ष्य पूर्ण प्रकाश डालते हैं जिनका समर्थन आधुनिक-ग्रन्थों द्वारा भी होता है।

कृषि

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम कृषि विषय की चर्चा करना उचित होगा चूंकि प्राचीन-काल से ही भारतवर्ष विश्व में कृषि-प्रधान देश के नाम से अभिहित रहा है। कृषि प्रमुख व्यवसाय होने के कारण अधिकांश जनता इसी पर निर्भर थी। लोग कृषि करते थे (मनुष्या : कृषि कृषन्तिः)।[1] इतिहासकार पुरी के अनुसार राजनीतिक-उतार-चढ़ाव का इन कृषकों पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ा।[2] उनकी उपयोगिता, कर्तव्य एवं अधिकार यथावत (अक्षुण्य) बने रहे। अवदान-शतक में इन कृषि करने वालों को कर्षकाः कहा गया[8] जिनका उद्देश्य कृषि द्वारा अन्न उत्पादन करना था (शस्यादीनि कृषन्ति)।[4]

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में विहित है कि खेत को प्रदेश[5] तथा क्षेत्र[6] कहा जाता था। ललित-विस्तार में इस खेतिहर-भूमि के लिए उद्यान-भूमि शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7] उत्पादन के दृष्टिकोण से कृषि-योग्य-भूमि चट्टान एवं वन-प्रदेश में उचित नहीं रहती थी। अतएव उपयुक्त-भूमि के निरीक्षण के उपरान्त कृषक मिट्टी खोदकर हल द्वारा पृथ्वी की जुताई (कषित्वा) करता था। इस क्रिया को कर्मान्त (कृषि कर्मान्त)[8] कहा जाता था। हल का

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'लोह-भाग' सीर कहलाता था। सोने के सीर (स्वर्ण-सीरकां) का भी उल्लेख मिलता है।[9] जुताई के उपरान्त बुआई (वपित्वा), सिंचाई (उदकम् पएसेत्वा), घेराबन्दी (रखित्वा), देखभाल (गोपेत्वा), खड़ी फसल काटना (लवन), और अन्त में खलिहान (भट्टानेन) बनाकर कृषक श्रेष्ठ-उत्पादन का अधिकारी होता था (बहुधानको होती)।[10] अभीष्ठ-वस्तु की खेती के अनुरूप ही बीज-वपन किया जाता था (यथाफल विशेषार्थकम् बीजं वपति कर्षकाः)।[11] खेत में बीज बोने से पूर्व मिट्टी को चिकना, कोमल और भुरभुरा करना आवश्यक था ताकि बीज भली प्रकार लग सके।[12] कृषकों के लिए भूमि का उत्पादक होना महत्वपूर्ण अवश्य था।[13] परन्तु वही पर्याप्त न था वरन् बीज बोना एवं सिंचाई भी इसके आवश्यक अंग थे। सिंचाई का मूल-साधन वर्षा का जल था (कालेज च कालं देवो वृष्यते)।[14] नहरों का भी प्रबन्ध किया गया था। इसके अतिरिक्त जलाशय, पुष्करिणी, कुए का विवरण मिलता है।[15] उत्तर-पश्चिमी-भारत में शक और कुषाण प्रमुखों द्वारा तालाब निर्माण के उल्लेख हैं और अनेक व्यक्तियों द्वारा उत्तर-प्रदेश में भी प्रथम-द्वितीय श० में तालाब-दान देना धार्मिक-कार्य माना जाता था। मनु घर, तड़ाग, बगीचा और खेत की सुरक्षा का उल्लेख करता है ताकि उस पर कोई अधिकार न करे।[16] कृषि की सुरक्षा-हेतु कानून बने थे जो निरन्तर विदेशी-आक्रमण के कारण सम्यक् रूप से लागू नहीं हो पाए थे। मनु का आदेश था कि जो मनुष्य नहीं जमने वाले बीज को जमने वाले कहकर बेचे, अच्छे बीज में दूषित-बीज मिलाकर बेचे तथा सीमा को नष्ट करे राजा उसके अंग कटवा-कर दण्डित करे।[17] यह भी विहित है कि वस्तु की समयोपयोगिता विचार कर दण्डित करना चाहिए।[18]

दिव्यावदान,[19] चरक-संहिता[20] आदि ग्रन्थों से तत्कालीन निम्न उत्पादक-वस्तुओं का ज्ञान होता है यथा—

कपसि — कपास	मसूरा—मसूर
काद्रव—कौदों	माषक या माष—उर्द
कुलमाष—कुलथी	मुदग—मूंग
कुलत्था—कुलथी	यव—जौ
कुरुविन्द—	व्रीहि—एक प्रकार का चावल
गोधूम—गेहूँ	शण—सन
चणक—चना	शालि—चड़हन चावल
तिल—	सर्षप—सरसों
तण्डुल—चावल	

उक्त उत्पादन के अतिरिक्त अरण्यों से भी विविध फलफूल और औषधियाँ प्राप्त होती थीं। साहित्यिक उद्धरणों से विदित होता है कि सामान्यता कठोर-परिश्रमो-परान्त भी कृषकों को उचित-पारिश्रमिक नहीं मिल पाता था एवं वह प्राप्त लाभांश के प्रति असंतुष्ट ही रहते थे। इसके अतिरिक्त कृषकों को अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष (अनावृष्टया तदुर्भिक्षं) का सामना भी करना पड़ता था। यद्यपि आर्थिक-क्षेत्र में नियन्त्रण का अधिकार वैश्य-वर्ण को था परन्तु आपत्काल में तो कोई भी सहायता कर करता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा के पास सैन्यबल के साथ राज्य-कोष भी होता था। अतएव राजा का कर्त्तव्य था कि किसी भी आन्तरिक एवं वाह्य-संकट से प्रजा की रक्षा करे। अन्य साधनों द्वारा सहायता न मिलने पर त्राहि-त्राहि मच जाती थी। लोग भूख से मरने लगते थे। दिव्यावदान में कंचु, श्वेतस्थी एवं शलाकवृत्ति 3 प्रकार के दुर्भिक्षों का उल्लेख हुआ है (त्रिविधं दुर्भिक्षं भविष्यति)।[21] यही राष्ट्र-विनाश था (दुर्भिक्ष राष्ट्र भंग)।[22] ऐसे हाहाकार के वातावरण में चोरी आदि कुत्सित्-कार्यों की संभावना अधिक हो जाती थी।[23] अश्वघोष तो यहाँ तक लिखते हैं कि क्षुधा-त्रसितजन मृत की हड्डियों और निकट-सम्बन्धियों के मांस तक को खा लेते थे।[24] अतएव राजा इस हेतु सराहनीय कदम उठाता था (वह प्रजा को सामर्थ्यानुसार पूरी सहायता पहुँचाता था।[25] समस्त अन्न को एकत्र कर प्रत्येक ग्राम, नगर, शहर के कोषागार में भिजवाता था।) सभी को समान अन्न प्राप्त हो जाए, अतएव जनसंख्या-गणना की व्यवस्था की जाती थी। समान-वितरण-प्रणाली के लिए कवद, माणिक, प्रस्थ, अधक आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अवदान-शतक में लोगों को एक कवद और राजा को दो कवद (राजानो द्वो कवदों) देने का उल्लेख है।[26] इसी प्रकार एक मणिक एक जन को दिए जाने का भी वर्णन है। प्राप्त आंकड़ों द्वारा इस विषय की सम्पूर्ण जानकारी हो जाती है। स्पष्ट है इस प्रकार के प्राकृतिक-प्रकोप कोई आश्चर्य न थे। अपितु यदा-कदा होते रहते थे। अतएव लोग इन विकट-परिस्थितियों के अभ्यस्त थे तथा उन्होंने इनसे त्राण पाने की व्यवस्था भी कर रखी थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-कालीन राज्य-प्रशासन द्वारा नियुक्त प्रमुख के अधीन दास और किराये के मजदूरों के स्थान पर कुषाण-काल में कृषि पर कृषकों का व्यक्तिगत-अधिकार हो गया था। मनुस्मृति में वर्णित है कि व्यर्थ के पेड़ काटकर एवं भूमि की जुताई आदि करके बुआई योग्य बनानेवाले की भूमि होती है।[27] मिलिन्द-पह्लों में व्यक्तिगत-कृषकों द्वारा बंजर पेड़ आदि को साफ करके भूमि को जुताई योग्य बनाने के उदाहरण मिलते हैं।[28] मनु का कथन, कि ब्राह्मण को जुते हुए खेत की अपेक्षा बिना जुते खेत के दान स्वीकार करने पर कम दोष लगता है,[29] इस बात की पुष्टि करता है कि इस दान का तात्पर्य बिना जुती भूमि को उपजाऊ बनाना था। बड़ी संख्या में व्यक्तिगत-कृषकों द्वारा बुआई की जाती थी। उक्त-विवरणों से भी स्पष्ट है कि राजा का राज्य-विषयक मामलों में कतिपय हस्तक्षेप अवश्य शेष था। गाँवों और जनपदों पर प्रमुख नियुक्त करना राजा के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। मिलिन्द-पह्लों भी शहरों, समुद्रगाहों (पत्तनों) आदि पर राजा का ही अधिकार वर्णित करता है।[30]

भारत में भूमि-अनुदान का सर्वप्रथम अभिलेखीय-साक्ष्य प्रथम श० ई० पू० का है। इसमें सातवाहन-शासक द्वारा एक गाँव पुरोहितों को अश्वमेध-दान-स्वरूप दिया गया वर्णित है।[31] इस दान की भूमि में कर का प्रावधान न था। वाह्य-रूप से यद्यपि यह भूमि-दान धार्मिक उद्देश्य से किये जाते थे परन्तु प्राप्त-साक्ष्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह दान भूमि की बुआई-हेतु किये जाते थे।[32] द्वितीय श० ई० के गौतमी पुत्र शातकर्णी के अभिलेख द्वारा विदित होता है कि सातवाहन-शासक द्वारा बौद्ध-भिक्षु को दिये गये दान में प्रशासनिक-अधिकार को पूर्ण तिलांजलि मिल चुकी थी। फलस्वरूप इस भूमि में राजकीय-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दल नहीं प्रवेश कर सकता था, न राजकीय-अधिकारी जनसाधारण को उत्पीड़ित कर सकते थे, न ही जिला-पुलिस का हस्तक्षेप चलता था।[33] कुषाण-शासक बौद्ध-धर्म के उत्साही-अनुयायी थे। आश्चर्य है उनके बुद्ध-भिक्षुओं को दिये गये भूमि-दान के उल्लेख प्राप्त नहीं होते। सम्भवतः वह नष्ट हो गये हैं।

तत्कालीन भूमि-व्यवस्था के स्वरूप का उल्लेख किसी भी साक्ष्य में सम्यक् रूप से नहीं मिलता। परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि मौर्य-कालीन-कर जिनमें—जबरन मजदूर बनाना, परोपकारिता एवं फलफूलों पर कर थे, कुषाण-काल में प्रचलित न रहे। यद्यपि आपात्काल में अवश्य ही इनका उपयोग होता था। मिलिन्द-पन्हों में आए उल्लेख से भी स्पष्ट है कि इस काल में कर-व्यवस्था में पूर्वकाल की अपेक्षा सुधार आया था।[34]

अभिलेखों से विदित होता है कि सम्भवतः भू-धारण की अक्षय-नीवि-व्यवस्था का प्रतिपादन कुषाण-शासकों ने ही किया था।[35] इस अवस्था में दाता को दी गई सम्पत्ति पर ब्याज रूप में निश्चित समय तक निरन्तर लाभ होता था। हुविष्क के राज्यकाल के 28वें वर्ष के मथुरा-अभिलेख में दो श्रेणियों द्वारा 550 पुराण प्रत्येक के द्वारा अक्षयनीविरूप में दान का उल्लेख है। प्रथम-श्रेणी समितकर की थी जो गेहूँ-आटा पीसते थे तथा दूसरी श्रेणी का मात्र 'रक' शब्द प्राप्त है। इस दान के पूर्व निश्चित हुआ था कि इस अक्षय नीवि पर प्राप्त ब्याज के धन से पुण्यशाला में 100 ब्राह्मणों को प्रतिमास भोजन कराया जाएगा तथा शेष से द्वार पर आये भूखे-प्यासों के हितार्थ प्रबन्ध किया जाएगा।[36] इतिहासकार मुकर्जी के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय व्यापारिक-संघ के पास पर्याप्त-धन और बल था जिससे वह धार्मिक अथवा सामाजिक-धार्मिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं को नियन्त्रित रखते थे।[37]

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी भूमि की आर्थिक-व्यवस्था का परमावश्यक-अंग था। पशुओं का आधिक्य होने के कारण तत्जनित विशेष लाभ थे।[38] बौद्ध-साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय पशु-पालन एक विज्ञान रूप में प्रतिपादित हो चुका था। ललित-विस्तार में अश्व-लक्षण, हस्ति-लक्षण, गो-लक्षण, अज-लक्षण, मित्र-लक्षण आदि के अध्ययन-अध्यापन का वर्णन हुआ है।[39] पशु-पालक, गो-पालक, महिषी-पालक एवं तृण-हारकों की निजी श्रेणियों का होना निःसन्देह उनकी उन्नति का सूचक है।[40]

पशु-पालन के निम्न उपयोग थे यथा—सर्वप्रथम गाय, भैंस और बकरी (गोमहिषी अजः) दूध एवं अन्य खाद्य-पदार्थों हेतु उपयुक्त मानी गई थी। इनके बच्चे बछड़े (वत्सान), महिष (भैंसा) और बकरे भी अन्य कार्यों में उपयोग किए जाते थे।[41] पशुचर गोप कहलाते थे जो चरने गई गायों द्वारा फसलों को नष्ट होने से बचाते थे।[42] बैलों को हल लगाकर खेतों में जोता (फालेहि) एवं बैलगाड़ी (शकटेहि) के कार्यों में प्रयोग किया जाता था।[43] ऊँट, बैल, गदहे, पिटक आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर बोझा ढोने हेतु प्रयुक्त होते थे। घोड़ा भी अति उपयोगी पशु था। महावस्तु में विदित है कि कम्बोज के घोड़ों का व्यापार भी होता था।[44] इसी ग्रन्थ में पशुओं की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए वर्णित है कि उन्हें आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टिकोणों से विशेष महत्वपूर्ण समझा गया था। सिंह, व्याघ्र और हाथियों का वध चर्म हेतु किया जाता था (चर्मणार्थ सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्याघ्र द्वीपयों हन्यन्ति)।[45] दाँत के लालच में हाथी मारे जाते थे (दन्तार्थं हस्तिनागा हन्यन्ति)। मृग एवं वाराह का वध मांस हेतु किया जाता था (मांसस्यार्थं मृग वाराह हन्यन्ति)।[46] मेढ़ों का मांस भी विक्रय होता था (उरभ्रान् प्रधात्य मांस विक्रीय जीविर्का कल्पयामि)।[47] बालों के मोह में समूरदार-पशु-वध किया जाता था (बालार्थं चमरीयो हयन्ति)। यही नहीं औषधियों हेतु तीतर, कपिन्जल आदि पक्षी मारे जाते थे (मेषज्यार्थं तितिर कपिजलानि हन्यन्ति।[48] अतएव स्पष्ट है कि विविध पशुओं की उपयोगिता विविध कारणों से मान्य रही। समाज एवं राष्ट्र जीवन की समृद्धता अश्व, उष्ट्र, गर्दभ, अजा, मेढा (मेण्ड), मृग, सिंह, व्याघ्र, हाथी, श्वान, सूकर, बिलाव (बिडाल) एवं गाय-भैंस आदि पशुओं पर निर्भर थी।[49] जन-साधारण के जीविकोपार्जन का साधन भी इन पर आधारित था।

व्यापार एवं व्यवसाय

वाणिज्य जीविनों वैश्यान् अर्थात् वैश्यों की प्रमुख-जीविका वाणिज्य थी।[50] कुषाण-कालीन व्यापारिक एवं व्यवसायिक-उन्नति एक मान्य सत्य है। यह उत्पादन, स्वस्थ-योजना एवं व्यवसाय के लोगों की कार्य-दक्षता पर आधारित थी। इन व्यापार एवं व्यवसायों की प्रकृतिगत विशेषता उनके सामूहिक क्रिया-कलाप थे जो व्यक्तिगत रूप से असम्भव थे। आर्थिक-क्षेत्र में आरम्भिक-काल से हम देखते हैं कि कृषि-प्रधान देश में लोग सामूहिक रूप से कृषि-कर्म करते थे। शनैः-2 नगरीय-सभ्यता के विकास के साथ कृषि पर पूर्ण निर्भरता भी घटती गई। समयानुसार व्यापार एवं व्यवसाय आर्थिक जीवन के केन्द्र-बिन्दु हो गए। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में भारत व रोम के मध्य व्यवसाय व्यवसाय-इतिहास में नवीन-अध्याय था।

व्यवसायों को जिन समूहों द्वारा क्रियान्वित किया जाता था उसके लिए प्राचीन भारतीय-साहित्य एवं अभिलेखों में श्रेणी शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि इसके समवाची-शब्द गण, पूग, व्रात, संघ, देशी, सार्था, निगम आदि भी प्रयुक्त रहे। श्रेणी का तात्पर्य एक ही व्यवसाय करने वाले किसी भी जाति के समुदाय से था।[51] अतएव श्रेणी की सदस्यता सभी जाति के लोगों के लिए समान थी। यद्यपि गण द्वारा एक ही जाति के सदस्य बनाने की अधिक सम्भावना थी।[52] सामान्यतया व्यवसायों के आधार पर ही श्रेणियों का नामकरण होता था। कभी-कभी यदि पूरे गाँव में एक शिल्प के लोग रहते थे तो गाँव के नाम पर भी श्रेणी का नामकरण हो जाता था।[53] जातकों[54] एवं जैन-साहित्य[55] में गणों की संख्या 18 वर्णित है परन्तु शताब्दियों के व्यापार और व्यवसायों के विकास के फलस्वरूप गणों की संख्या-वृद्धि हुई। अतएव दीर्घ-निकाय में 24, महावस्तु में 36, कामसूत्र में 64 शिल्प एवं व्यवसायों का उल्लेख हुआ है। कुषाण-कालीन सर्वाधिक 88 श्रेणियों की सूची महावस्तु[56] में निम्नवत वर्णित है—

धातुकर्मी (कम्भार)
व्यापारी (वणिक्)
काफिला-व्यापारी (सार्थवाह)
माला-निर्माता (मालाकार)

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुनार (सुवर्णकार)
बैंकर (हैरण्यिका)
वस्त्र-विक्रेता (प्रवारिका)
शंख वस्तुओं के कर्मकार (शांखिका)
रत्नाकर, जौहरी (मणिकार)
पत्थर के कर्मकार (प्रस्तारिका)
सुगन्धकार (गन्धिकास)
कोषाविकास
तैल-विक्रेता (तैलिकास)
घी के बर्तन-विक्रेता (घृतकुण्डिका)
चीनी-खान वाले (गौलिका)
वस्त्र, दही, केक बनाने वाले (पुपिका)
खण्डकारक
कण्डकास
फल-विक्रेता (फलवाणिज)
अग्रिवनियास
अविधाकास
चीनी एवं चाशनी से मिठाई बनानेवाले हलवाई (गुड़-पाचक)
सूखी अदरक-विक्रेता (सुन्धिका)
आसवन-यन्त्र (सिद्धाकारक)
लोहार (लोहाकारक)
चमार (ताप्रकुट्ट)
लकड़ी के प्याली-निर्माता (तट्टुकार)
प्राध्वोपाकास
रोशिनास
टिन-कर्मकार (त्रपुकार)
सीसा की चादर-निर्माता (शीशा पिच्छतकार)
बर्तन-निर्माता (कुम्भकार)
चर्मशोधक (चर्मकार)
हाथीदाँत-निर्माता (दन्तकार)
वस्त्र क्रय-विक्रय करने वाले (कर्पासिका)
दधि-विक्रेता (दध्यीका)
लड्डू-निर्माता (मोदक कारक)
गेहूँ का आटा पीसने वाला (समित कारक)
जौ का आटा पीसने वाला (सत्तुकारक)
पौधे के मूल के विक्रेता (मूलवणिजा)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चूर्ण-निर्माता (चूर्ण कुट्ट)
सुगन्धित तेल-विक्रेता (गन्ध तैलिका)
उबले चावल-विक्रेता (अहवाणिज)
मिश्री-निर्माता (खण्डपाचक)
शराब-निर्माता (सिद्धूकारक)
शहद एकत्रित करनेवाले (मधुकारक)
चीनी-व्यापारी (शर्कर-वाणिज)
यन्त्र कारक
पुरिमा कारक
कण्डु कारक
ऊनी रेशे (डोरे) निर्माता (उर्णवायका)
शस्त्र-गाड़ी निर्माता (वरुथतन्त्रकारक)
रजक (रक्त-राजक)
देव वस्त्र-निर्माता (देवता तन्त्रवाय)
वस्त्र-धोवक (चेलधोवक)
धोबी (रजका)
दर्जी (शुचिका)
बुनकर (तन्त्रवाय)
सूतकातने वाले (तुलवाय)
चित्रकार (चित्रकारका)
बढ़ई (वर्धकी रूपकारका)
गलंनिर्माता (काल पत्रिका)
टोकरी-निर्माता (पेलालका)
मिट्टी के मूर्तिकार (पुस्तकारका)
लेपन करनेवाले प्लास्टर (पुस्तकर्मकार)
नाई (नापित)
बाल बनाने वाले (कल्पिका)
लकड़ी काटने वाले (छेदक)
ईंटों की पर्तों वाले (लेपक)
वस्तु-शिल्पी (स्थापती)
कृषि-उत्पादन को एकत्र करनेवाले (उप्तकोषस्थकारका)
कूएं खोदनेवाले (कूपखानक)
मिट्टी उठानेवाले मजदूर (मृत्तिका वाहका)
लकड़ी उठानेवाले मजदूर (काष्ठ वाहका)
तृण अथवा घास विक्रेता (तृणवाणिज)
वल्कल-व्यापारी (वल्कल वाणिज)

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घास और शाक क्रय-विक्रय करनेवाला (स्तम्बवाणिज)
बाँस के व्यापारी (बाँस वाणिज)
नाव खेनेवाला (नाविका)
नाववाला (ओलुम्पिका)
स्वर्ण-धूलि धोने वाला (सुवर्ण धोवक)
धोखेबाज-द्यूत (मौस्तिका)
नवकर्मिकास
बाण बनाने वाले (सुलभालयिकानाम्)
पशु-पालक (गौशहितकास)
धान्य-विक्रेता (धानिका सेनिये)
कांसकार

ए स्टडी ऑफ महावस्तु ग्रन्थ में बसाक लिखते हैं कि इस विस्तृत श्रेणी-सूची से तत्कालीन आर्थिक-उन्नति स्वतः परिलक्षित होती है।[57] साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिल्पकारों की श्रेणियों का संगठित होना निःसन्देह शिल्पों के उन्नत-स्वरूप का सूचक है। महावस्तु में शिल्प की प्रशंसा में लिखा है—शिल्पं लोके प्रशंसन्ति शिल्पं लोके अनुत्तरं। सुशिक्षिसेन वीणायां धनस्कन्धों में आहतो।[58] लोक में शिल्प की प्रशंसा होती थी और उससे परमगति तथा अमितधन की प्राप्ति होती थी।

साहित्य एवं अभिलेखों में श्रेणी के किसी प्रमुख के अधीन कार्य करने के उल्लेख हैं। श्रेणी का प्रमुख निम्न शब्दों द्वारा सम्बोधित होता था यथा—सेठी, श्रेष्ठिन, श्रेणी-मुख्य, महत्तर, महर, प्रधान, महाश्रेष्ठी, राजा, पट्टालिक।[59] विभिन्न-स्थानों पर प्रयुक्त तैलिक राजा, तैली पटेल, कल्लपाल-महत्तक, मालिका-महर, गण-प्रमुख के सूचक हैं।[60] सर्वप्रथम याजवल्क्य स्मृति में उल्लेख है कि श्रेणी का प्रमुख जो 'श्रेणी-मुख्य' कहलाता था उसे कार्य-कारिणी-समिति द्वारा सहायता दी जाती थी। मात्र इसी ग्रन्थ से हमें इस अधिकारी 'समूहहितवादिन' पद प्राप्त करने हेतु आवश्यक वरीयताओं का उल्लेख भी मिलता है।[61] मनुस्मृति में 'श्रेणी-धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो इन श्रेणियों के करणीय-कर्तव्यों का बोधक है।[62] श्रेणी-धर्म पर विस्तृत जानकारी-हेतु महाभारत, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति अवलोकनीय हैं।

औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों वश ही श्रेणी-संस्था का प्रादुर्भाव हुआ था। मूलतः उच्चवर्णों द्वारा निम्नवर्णों को दबाकर रखना, असुरक्षा की भावना, उच्च-स्तरीय-उत्पादन एवं बौद्ध व जैन धर्मों के प्रचार, श्रेणी की आवश्यकता और निरन्तर अस्तित्व में रहने के मुख्य कारण थे।[63]

श्रेणियों की कोषागार-क्रिया भी इस काल में विकसित हुई थी। इसके द्वारा श्रेणियों ने अपना दायरा जन-साधारण तक विस्तृत कर लिया था। श्रेणियों का यह कार्य जो इस काल के अभिलेखों में स्पष्ट वर्णित है श्रेणियों के गौरव एवं ईमानदारी पर लोगों के विश्वास की पुष्टि करता है।[64] बैंक रूप में श्रेणियों ने समाज के धार्मिक-समुदाय की प्रशंसनीय सेवा की थी। अभिलेखों में ब्याज की दर और दानदाता के उद्देश्य स्पष्ट वर्णित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए हैं।[65] अभिलेखों में इन श्रेणियों के दान देने के अनेकानेक उल्लेख मिलते हैं।[66] जो श्रेणियों की उन्नत आर्थिक-दशा, धार्मिक-प्रवृत्ति एवं समाज में स्वयं को विलक्षण प्रदर्शित करने की उत्कट्-भावना के प्रतीक थे। इतिहासकार देव के अनुसार अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी दान व्यापारी-वर्ग अथवा अन्य व्यवसायियों द्वारा दिए गए थे शासक-वर्ग द्वारा नहीं। व्यक्तिगत-दान का भी विशेष-प्रचलन रहा। कनिष्क-सम्वत् के 28वें वर्ष के मथुरा-प्रस्तर अभिलेख में वकनपति[68] द्वारा पुण्यशाला के दान का उल्लेख है।[69] कंकाली-टीला से प्राप्त अभिलेखों में विदेशी अक्का और ओथा स्त्रियों द्वारा दान के विवरण उनके द्वारा जैन-धर्म स्वीकार करने के भी द्योतक हैं।[70] जैन अभिलेखों में गणिकाओं द्वारा दान के उल्लेखों से जैन-धर्म में जाति-व्यवस्था के व्यवस्थित न होने का संकेत मिलता है।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त उत्खनन-सामग्री के आधार पर इन श्रेणियों की स्वतन्त्र मुद्रा, मुहर एवं मुद्रांकण की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य-मुद्राओं के प्रचलित होने पर श्रेणियों ने इनका निर्माण बन्द कर दिया था। इस विषय की पर्याप्त-सामग्री उपलब्ध है।[71] वर्णनीय है इन मुद्रा, मुहर एवं मुद्रांकण का निर्माण व्यापारी-वर्ग ने ही किया था शिल्पी-वर्ग ने नहीं। अतएव शिल्पियों की मुद्रादि का न मिलना प्रमाणित करता है कि शिल्पी-वर्ग व्यापारी-वर्ग के अधीन था।[72]

श्रेणियों के संविधान की लोकतान्त्रिक व्यवस्था शताब्दियों तक श्रेणी-संगठन को अस्तित्व में रखने में सहायक हुई। अतएव 12 श० ई० तक इनके उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि गुप्त-शासन के पतन के समय से इस संस्था का भी पतन आरम्भ हो गया था। श्रेणी समाज में राज्य के अन्तर्गत छोटे राज्य के समान संस्था थी। श्रेणियों के पूर्ण सक्रिय होने से राज्य-शासन को काफी सहायता मिली। वस्तुतः श्रेणियों ने आर्थिक-व्यवस्था को नियन्त्रित कर रखा था। एवं विशिष्ट योगदान के फलस्वरूप वह अपरिहार्य राजनीतिक व सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकृत थी। यद्यपि श्रेणीविषयक उक्त विवरण कतिपय विस्तृत हो गया है परन्तु कुषाण-कालीन आर्थिक-उन्नति में श्रेणियों के योगदान को विचार कर सभी सन्दर्भों का प्रासंगिक महत्त्व जान पड़ा।

व्यापार का स्वरूप

कुषाण-काल में वाराणसी, सूपरिक, राजगृह, श्रावस्ती आदि स्थान प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र थे।[74] इतिहासकार लहरी ने मथुरा को व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए लिखा है कि समाज के दो प्रमुख विषय—(क) विविध धार्मिक-सम्प्रदाय, (ख) व्यापार, मथुरा के स्थानीय शासकों, जिनके नामान्त में मित्र और दत्त था, के अधीन अपने चरमोत्कर्ष पर थे।[74] अभिलेखों में मथुरा के व्यवसायियों के लिए वणिक्, सार्थवाह, व्यवहारी और श्रेष्ठी शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[75] व्यापार दो प्रकार के होते थे एक स्थायी-व्यापार और दूसरा अस्थायी-व्यापार अथवा चलायमान-व्यापार। इनमें प्रथम वणिक कहलाते थे जबकि बाद वाले सार्थवाह।[76] स्थायी-व्यापारी एक दुकान पर ही वस्तु-विक्रय करता था।[77] सौन्दरनन्द में दुकानदार एवं काफिले-व्यापारी के लिए वणिक् शब्द प्रयुक्त हुआ है।[78]

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिव्यावदान में विवरण है कि व्यापारी नगरी-वीथियों में भी सामान-विक्रय करते थे।[79] कपिल-वस्तु में बड़े-बड़े बाजार और सौदागरों का वर्णन हुआ है (महापणेभ्यों व्यवहारिणश्च)।[80] ललित-विस्तर में नगरों के मध्य बाजार होने के प्रमाण मिलते हैं।[81] चलायमान-व्यापार में स्थान-स्थान जाकर वस्तु-विक्रय की जाती थी। यह व्यापारी पण्य-सामग्री लेकर देश-देशान्तर विचरण करते थे (वयं पण्यभादाय देशान्तरं गच्छाम)।[82] अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अब स्थलीय-व्यापार और समुद्रीय-व्यापार का पृथक्-पृथक् विवेचन करना समुचित होगा।

स्थलीय-व्यापार उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मध्य होता था। महावस्तु में विवरण है कि उत्कल नामक नगर का सार्थवाह 500 गाड़ियों सहित दक्षिणापथ स्थल-मार्ग से आता था।[83] यह भी वर्णित है कि उनके साथ 550 रथ-यात्रिक भी महान् पण्य-सामग्री युक्त थे।[84] दिव्यावदान में व्यापारियों के उत्तरापथ से वाराणसी तक आने के उल्लेख हैं।[85] महावस्तु में इन स्थल-व्यापारियों के मार्ग में आने वाली अनेक प्रकार की समस्याओं का उल्लेख हुआ है। व्यापारियों को वन्य-पशुओं सिंह, व्याघ्र, गेन्डा और हाथी आदि के अतिरिक्त वनदेव-भय, चोर-भय, उदक-भय सदैव बना रहता था।[86] अन्य विकल्प न होने के कारण व्यापारी उन्हीं भयानक-मार्गों में सतर्कतापूर्वक यात्रा करते थे। वास्तव में उस समय प्रशस्त-मार्ग तो थे नहीं अतएव वनों में होकर जाना आवश्यक था। बहुधा ऐसा भी देखा जाता था कि व्यापारी मार्ग-विभ्रम होकर रेगिस्तान पहुँच जाते थे। अवदान-शतक में श्रावस्ती के 500 व्यापारियों के इसी प्रकार विभ्रमित होने का वर्णन हुआ है।[87] ललित-विस्तर में डकैतों द्वारा कारवाँ के लोगों की डकैती के उल्लेख हैं। व्यापारिक-दलों को कभी-कभी जल एवं वन देवता आगे बढ़ने से रोक लेते थे। यह भी उल्लेख है कि राक्षसी वणिजों को खा लेती थी (भक्ष्यन्ति राक्षसीभिरिव वणिजः) अथवा गाड़ियों के भाग टूट जाते थे, अथवा भूमि में धँसे हुए गाड़ी के पहिए प्रयत्न करने पर भी नहीं निकलते थे।[88] ऐसे में उनकी परेशानी का अनुमान लगाया जा सकता है।

समुद्र-व्यापार ही भारतीय-संस्कृति के विदेशों में प्रचार-प्रसार का एक प्रधान-माध्यम था। अपने धर्म एवं विचारों को सर्वव्यापी बनाने के इच्छुक साधु दूरस्थ-द्वीपों एवं देशों का भ्रमण इन व्यापारियों के साथ करते थे।[89] वास्तव में 46 ई० में हिप्पेलस द्वारा मानसून की खोज हो जाने से समुद्र-व्यापार को आने वाले समय में विशेष प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप विम एवं कनिष्क के समय रोम और भारत के मध्य उन्नत-व्यापार के उल्लेख मिलते हैं। समुद्र-व्यापार में सार्थवाह दूरस्थ-स्थानों में जाया करते थे। (सार्थवाह-महासमुद्रामवर्तीणः)[90] सार्थवाहों के बड़े-बड़े काफिले बड़े जहाजों से अनेक पण्य-सामग्री लेकर जाते थे।[91] अवदान-शतक में राजगृह के एक सार्थवाह के जहाज द्वारा महासमुद्र पार कर जाने एवं लौटने का उल्लेख है।[92] ये काफिले-व्यापारी, सार्थवाह अपने प्रमुख-सार्थवाह जेठक या प्रमुख[93] को साथ ले जाते थे। प्रायः सभी बौद्ध-ग्रन्थ सार्थवाहों द्वारा स्वर्णभूमि, आयसनगर, उत्तरकुसद्वीप, राक्षसीद्वीप, बन्दरद्वीप, रत्नद्वीप आदि दूरवर्ती देशों में आवागमन का वर्णन करते हैं।[94] वहाँ से सार्थवाह रत्नमणि और स्वर्ण आदि लाते थे। यह भी उल्लिखित है कि ये सार्थवाह अपने देश से प्रभूत-मुद्राएँ लेकर समुद्रपत्तनों को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाते थे। महावस्तु से विदित होता है कि एक सार्थवाह कौशलाधिपति के पास धन-हेतु गया था। समुद्रीय-व्यापार की उन्नति के लिए राजा भी अपने कोष से व्यापारियों को सहायता पहुँचाते थे।[95]

समुद्र-व्यापार में अनेक प्रकार के संकट थे। मकर-मत्स्य जहाज को टक्कर मार-कर क्षत-विक्षत कर देते थे। तूफान आदि के कारण व्यापारी भगवान् की प्रार्थना करते थे। समुद्र-व्यापारियों को स्थल-व्यापारियों से अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता था परन्तु जैसा कि महावस्तु में विहित है कि शूर-वणिक् समुद्र को चीरते हुए पार कर लेते थे। पोत-भंग होने पर वह धन का मोह त्यागकर अदम्य-उत्साह व साहस का परिचय देते हुए समुद्र में कूद जाते थे।[96] इस प्रकार के कष्टों से निवारण एवं व्यापारिक निर्देशन हेतु सार्थवाह की परमावश्यकता थी। अतएव इन सार्थवाह एवं व्यापारियों के मध्य पर-स्पर मधुर-सम्बन्ध से ही यात्रा सफल होती थी। दिव्यावदान में वर्णित है कि मार्ग में होने वाली परेशानियों का उत्साहपूर्वक सामना करने के लिए उन्हें यात्रा (जहाज चलाने) के पूर्व ही धन से सन्तुष्ट कर दिया जाता था (गुल्मतरपण्य)।[97] सुरक्षित लौट आना (व्युति-ष्ठति), (व्यत्पादयति) व्यापारी-जीवन की शुभ-घटना थी।[98]

दिव्यावदान में वर्णित है कि इस श्रेणी का एक व्यापारी प्रायः इच्छुक व्यापारियों को घण्टा-ध्वनि द्वारा आमन्त्रित करता था (घण्ट-अवघोषानाम् कारितुम्)[99] इसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि सामान्यतया पेशगी का 1।6 भाग कार्य आरम्भ होने के पूर्व जमा करना आवश्यक था। इसके उपरान्त सौदा करने वाला व्यक्ति सामान पर मुहर लगा देता था। (स्वमुद्रालक्षितं क्रित्वा)।[100] बड़े-बड़े क्रय-विक्रय पर एक ही व्यापारी के एकाधिकार को रोकने हेतु हतोत्साहित किया गया था। व्यवसायिक व्यवहार में ऐसी व्यवस्था सामान को एकत्रित करने पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु थी ताकि व्यापारी कम मूल्य में विशेष सामान लाकर संकट-काल में अधिक मूल्य में न बेचें।

आयात-निर्यात सम्बन्धी वस्तुएँ

कुषाण-काल में चीन एवं बैक्ट्रिया के मध्य व्यापार अपने सर्वोच्च-शिखर पर था। चीन से बैक्ट्रिया सिल्क के निर्यात के स्थान पर बैक्ट्रिया से चीन को घोड़े निर्यात होते थे।[101] तत्कालीन आयात-निर्यात की वस्तुओं की सम्पूर्ण जानकारी पेरिप्लूस एवं प्लीनी लेखकों के विवरणों से मिल जाती है। इतिहासकार पुरी के अनुसार खनिज-वस्तुओं की समृद्धता की पुष्टि भारत के विदेशी बाजार पर अधिकार से होती है।[102] पेरिप्लूस लिखता है कि भारतीय मिर्च, अदरक और विलासपूर्ण-वस्तुओं का रोम में विशेष-आकर्षण था।[103] इसके अतिरिक्त सिल्क, मखमल, सूती-वस्त्र, बहुमूल्य-पत्थर, मोती और खनिज-पदार्थ, गुग्गुल, फिरोजा, रावट, रेशमी (रोमिल), खाल, नील(जम्बुकी), हाथी-दाँत, गोमेद आदि वस्तुएँ देश के प्रत्येक भाग से लाकर बेरिगाजा-बन्दरगाह से निर्यात होती थी। इतिहासकार शर्मा के अनुसार भृगुकच्छ (भड़ोच), अरिक-मेडु (पौंडिचेरी) और ताम्रलिप्ति प्रमुख भारतीय बन्दरगाह थे।[104] दक्षिण-भारत मसाले, मखमल, मोती, रत्न-पत्थर आदि के उत्पा-दन के लिए विख्यात है।[105] रोमवासी भारत में व्यापार-हेतु आए थे परन्तु वह मुख्यतया

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिण एवं पश्चिम तक ही सीमित रहे।[106] पेरिप्लूस आयात की वस्तुओं में मूँगा, लोबान, काँच के बर्तन, चाँदी, सोना, ताँबा, टिन, सीसा, मीठा तिपतिया, मरहम, अन्तःपुर-हेतु गायक लड़के और सुन्दरियाँ, अच्छी मदिरा आदि का उल्लेख करता है। अरिकमेडू के उत्खनन में ये आयाती-वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त उपमहाद्वीप से 57 रोमन-मुद्राओं की प्राप्ति से प्लीनी का चिन्तित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।[107] अवदान-शतक में विहित है कि व्यापारी समुद्रपार रत्नद्वीप से रत्न-संग्रह कर भारत लौट आते थे।[108] महावस्तु में अश्व-व्यापार का वर्णन है। यह भी वर्णित है कि अश्वों को लेकर व्यापारी तक्षशिला से वाराणसी तक आते-जाते थे। जिसमें उन्हें अच्छा लाभ होता था।[109] ललित-विस्तर में बहुमूल्य-पत्थरों हिरण्य, सुवर्ण, मणिमुक्ता, वैडूर्य, शंख, शिला, प्रवाल, रजत, जातरूप, लोह, सीसा आदि का उल्लेख है।[110] प्लीनी[111] भी भारत को बहुमूल्य-पत्थरों की एकमात्र-जननी एवं अतिमूल्यवान रत्नों का सर्वाधिक उत्पादक मानते हैं। विवरण है कि भारत को प्रतिवर्ष व्यापार में रोम से 1 लाख सेसोस्टर का लाभ होता था। यह भी उल्लेख है कि क्या रोमवासी इतना अधिक धनविलास की वस्तुओं एवं स्त्रियों के लिए व्यय करते थे? प्लीनी के इस कथन में रोम-मुद्रा के अतिशय व्यय हेतु गहरा पश्चा-ताप है।

ईसा पूर्व 30 मार्क एन्टोनी के समय से 550 ई० जस्टिनियम के समय तक भारत एवं रोम के सम्बन्ध सर्वाधिक महत्त्व का विषय थे।[112] वास्तव में पूर्व एवं पश्चिम के मध्य व्यवसायोन्नति का कारण खनिज-पदार्थों की समृद्धता के अतिरिक्त राजनीतिक और सांस्कृतिक-सम्बन्ध भी थे। दक्षिण-भारत से प्राप्त रोम-मुद्रा के अध्ययन के आधार पर सीवेल[113] इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत और रोम के मध्य व्यापार आगस्टस के समय से नीरो के समय 65 ई० तक सर्वोच्च-शिखर पर रहा। इसी समय भारत ने विलास की वस्तुओं को रोम भेजा जिसके लिए उन्हें अच्छे मूल्य चुकाने पड़े थे। इतिहासकार सीवेल का विचार है कि प्लीनी द्वारा रोमवासियों को भारत से हो रहे व्यापार में घाटे के प्रति सचेत करने का कतिपय प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। दक्षिण-भारत में रोम-मुद्रा का अभाव वहाँ की सामाजिक-व्यवस्था का कारण था न कि उक्त राजनीतिक कारणवश। परन्तु वार्मिगटन इसका स्पष्ट शब्दों में खण्डन करते हुए लिखते हैं कि शायद ही इस बात की पुष्टि हो सके कि उस समय भारतीय-संचार में कमी आई थी अथवा उच्च-वर्ग को विलासी-जीवन त्यागना पड़ा था। चूँकि भारत के विषय में स्पष्ट उल्लेख न करने वाले लेखक भी रोम-व्यवसाय की पूर्व के साथ निरन्तर प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।[114]

व्यावसायिक जन

आवश्यक-वस्तुओं के कर्मकारों में गेहूँ पीसने वाले (समितकार), धान्य-विक्रेता (धानिक), जौ पीसने वाले (सत्तुकारका) और आटा पीसने वालों (चूर्णकुट्टक) के अपने सहायक-संघ थे।[115] तैयार खाद्य-पदार्थों के प्रबन्ध-सम्बन्धी अन्य कर्मकार निम्न थे—बने चावल-विक्रेता (औदानिक), केक-विक्रेता (पुविका), मछली-विक्रेता (मच्छिका), मछली वालों से भिन्न (बालासिक), भेड़-मांस विक्रेता (औरभ्रम), चाशनी-निर्माता (गुड़पाचक),

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मधु-निर्माता (मधुकारिका), चीनी (शर्करवाणिज), खण्डिकारक, मिठाई विक्रेता (उक्कारिकापानां), मसाले-विक्रेता (गन्धिका पणिका) और ईधन दुकानदार (काष्ठ मनियाम)। इसके अतिरिक्त तेल खान वाले (तिलापीडका), तिलचूर्ण-निर्माता (तिलकुटक), अन्न फटकने वाले (पवनेनाथ्यापिका) आदि व्यवसायी भी थे। आवश्यक न था कि विभिन्न वस्तुओं के निर्माता ही उनके विक्रेता हों यथा—मछुआरे और मछली बेचने वाले (मज्जिका) भिन्न-भिन्न थे।[116]

विलास की वस्तुओं के विक्रेताओं में मणिकार, गन्धिका आदि थे। (लोहित-चन्दानाम्) लाल-चन्दन की लकड़ी के निर्माता, (मुलारत्नाम्-मुक्तारत्नाम्) अलंकरण-सम्बन्धी मोतियों एवं मालाकार आदि सभी प्रकार की सजावट की वस्तुओं के विक्रेताओं के निजी गण थे (सिंगार-वाणिजगनानचरितम्)।[117] साहित्य में कम से कम 7 प्रकार के रत्नों का उल्लेख है (सप्तमायरत्नस्य) सोने-चाँदी (सुवर्ण-रुपया), वैडूर्य, स्फुटिक, लाल-मोती, पन्ना (असमागर्म) और मूंगा (मुसारगल्व)।[118]

वस्त्र-उद्योग में सूती-वस्त्र सर्वाधिक प्रचलित रहा। महावस्तु में कुश से वस्त्र (कुशचीर) बनाये जाने का उल्लेख है। वल्कल-वस्त्रों का उद्योग भी प्रमुख उद्योग था। (वल्कल वाणिज)।[119] इसके अतिरिक्त कोशाविक और उर्णवायक रेशमी एवं ऊनी वस्त्रों के सूचक थे। मथुरा के शाटक-वस्त्र विशेष प्रसिद्ध थे। कुविन्द सम्भवतः कपड़ा बुननेवाले केरी थे।[120]

यान्त्रिक, राजमिस्त्री और कलाकार

यान्त्रिक-कलाओं में निपुण (शिल्पिका),[121] द्रव्य-चालित-इंजन वालों (यन्त्र-कारका)[122] को नासिक-लेख[123] में आदायान्त्रिका कहा गया। इनमें वाहन-निर्माता (रथकार) और तैल चक्र-निर्माता (तैलिका चक्र) थे।[124] राजमिस्त्री-वर्ग के अन्तरगत वास्तुकार (पेशालक), पलस्तर-पत्तों (लेपक), कुएँ खोदनेवाले (कूप खनक) और मिट्टी रखने वाले (मृतिका वाहक) थे।[125] इनमें रथकार, नाई, चमार, बुनकर, बर्तन-निर्माता, टोकरी-निर्माता आदि आते थे।

धातु की वस्तुओं के कर्मकार

धातु-कर्मकारों में लोहार या लौह-व्यापारी (लोहकार), सूई-निर्माता (शुचिकार), सुनार (सुवर्णकार), ताम्रकार (ताम्रकुट्टकार) कांच व सीसे के कर्मकार (शीसकार) हाथी दाँत पर काम करनेवाले (डंटकार) और लौह पर कार्य करनेवाले (आयकर) थे।[126] इतिहासकार वाजपेई के विचार से मथुरा के अभिलेखों में वर्णित धातुकर्मी (लोहिकाकारकास) अन्य अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उद्योग-सम्बन्धी व्यवसायों को करते थे।[127] लोह कार्य में विशेष उन्नति हुई थी।[128] लोह-वर्ण, लोहकार मथुरा के दो अथवा तीन ब्राह्मी-अभिलेखों में मिलता है।[129] इस व्यवसाय की समृद्धता इससे स्पष्ट है कि सुनार जो वास्तव में उच्च आर्थिक-स्तर का था अपनी पुत्री का विवाह लोहार-पुत्र से करता था।[130] महावस्तु में उल्लेख है कि लोहार से अपेक्षित था कि वह समस्त-कलाओं में

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Jammu

चतुर हो (महाप्रज्ञो सर्व शिल्पेही अभिनो)।[131]

सोन्दरनन्द में स्वर्ण-शुद्धि की प्रक्रिया वर्णित हुई है।[132] सुनार स्वर्ण-शुद्धि करके अनेक प्रकार के आभूषण बनाने में दक्ष थे। मथुरा के एक लेख में सुनार-पुत्री द्वारा दान का विवरण है।[133] मिलिन्दपन्हों में 8 शिल्प-धातु की वस्तुओं सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबा, पीतल, लोहा और बहुमूल्य-पत्थर या रत्न का उल्लेख है।[134]

शिल्पकार

महाभाष्य[135] में 'पंचकारुकी' शब्द 5 शिल्पकारों के लिए प्रयुक्त हुआ है परन्तु उनके नाम नहीं मिलते। सम्भवतः यह शब्द मृद्माण्ड-निर्माता (कुलाल), बढ़ई (वरचकी), चमार (करमार), नाई (नापित) और धोबी (रजक) के लिए प्रयुक्त हुआ है। बर्तन बनाने वाले कुलाल या कुम्भकार का उल्लेख साहित्य में मिलता है।[136] नासिक-लेख[137] में कुलेरिका बर्तन-निर्माताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनकी श्रेणियाँ हैं। बर्तन-निर्माताओं के लिए कुम्भकारका चारकम[138] एवं घटिकार[139] शब्द भी आए हैं।

बढ़ई-शिल्पकार के लिए अभिलेखों में वधकिन, वदकिन या वघइ शब्द प्रयुक्त हैं।[140] यह लोग निम्न-व्यवसाय से सम्बन्धित थे।

अध्यवसायी

अध्ययन करना भी एक व्यवसाय था। इनमें लेखक (पुस्तक-कारक) चिकित्सक (भिषज) और शिल्प-चिकित्सक आदि थे। ललित-विस्तार में पाठक का उल्लेख 'ज्योतिष-ज्ञाता' के लिए हुआ था।[141] अश्वघोष चित्रकार को अपने विषय में अभिरुचि लेनेवाला वर्णित करता है।[142]

मनोरंजन-सम्बन्धी-व्यवसायी

इनमें स्त्री-पुरुष-कलाकार (नट-नटी) नृतक, कलाबाज (लंघक), जादूगर अथवा मायावी (इन्द्रजालिका) और वैश्या (गणिकास) से सम्बन्धित व्यवसायी आते थे। महा-वस्तु में इस सदर्भ में 'ऋल्ल' शब्द आता है जिसका तात्पर्य बाजा बजानेवालों से था। गायनक गवैये एवं गान्धर्विक वीणा पर गानेवाले होते थे। इसी श्रेणी में ननर्तक, पाणि-स्वरिका तालिका आते थे। इसके अतिरिक्त खेलुक, लाघिक एवं मल्ल खेलकर मनोरंजन करते थे।[143] मनोरंजन-विषयक प्रदर्शन संगठित-व्यवसाय में भी प्रचलित था। एक अभिलेख में मथुरा के सामूहिक अभिनेताओं को छन्दक-बन्धु कहा गया था। एक अन्य अभिलेख में नाट्य-गृह का विवरण है जहाँ नाटक एवं नृत्य का अभिनय होता था।[144]

निम्न-व्यवसायी

निम्न-व्यवसायियों में शिकार करनेवाले (लुब्धक), सर्पपालक (अहितुण्डिकास), वल्कल के वृक्षों के विक्रेता (वल्कल वाणिज),[145] बांस के कर्मकार (वेण) आदि थे। इनके अतिरिक्त शवदाही (छवदाहकास) हिरण का छिपकर शिकार करने वाले (मागविकास), मछुआरे (बालिसिकास), लकड़ी काटने वाले (तत्छकास-काष्टहारकास), चिड़ीमार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(शकुनिकास), सूकर-विक्रेता (सीकारीकास) और नाव-चालक (निषाद) आदि भी थे।[147]

श्रम एवं चाकरी-सम्बन्धी-व्यवसायी

इन व्यवसाय-सम्बन्धी अनेक-प्रकार के कर्मकार थे यथा—माली का काम करनेवाला (आरामिकास),[147] भोजन बनाने वाला (सूपकारास या सूद्रास),[148] दास एवं दासी के कार्य करने वाला (दासी दास कर्मकारास),[149] द्वारपाल का कार्य करने वाला (द्वारपालास), नहलाने का कार्य करने वाला (नहापकास), कुदासियों द्वारा कुएं से जल निकालनेवाला (कुम्भदासी),[150] महिला-अध्यक्ष के कार्य करनेवाली (कंचुकीस)[151] मजदूरी (पौरुषेयास)[152] एवं खरीदे भतकों (भतक)[153] से मजदूरी करानेवाला आदि। महिला-कर्मचारी घर के स्वामी एवं स्वामिनी के अंगराग एवं शृंगार-प्रसाधन का प्रबन्ध करती थी।[154] सद्धर्मपुण्डरीक में वर्णित है कि निम्न-स्तरीय कार्य-कर्त्ताओं को दुगुना-वेतन दिया जाता था (द्विगुणम् वेतानाम्)। इसी ग्रन्थ में श्रमिकों का प्राप्त-आय के प्रति असन्तोष विहित है।[155]

संचार-सम्बन्धी-व्यवसायी

इनमें चलायमान-व्यापार के स्थलीय एवं समुद्रीय व्यवसायी आते थे। जिनमें मार्ग प्रदर्शन का कार्य 'सुदेशिका' करता था। इन व्यवसायों में सुदेशिका की महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। इसे दिशा का पूर्ण ज्ञान होता था। इसके अतिरिक्त गाड़ी चलानेवाले (शक्तिकास) और सारथी भी होते थे। समुद्रीय-व्यापार में चालक (नियामक) और नाविक (मल्लाह) की आवश्यकता होती थी। किराए के मजदूर सामान ढोने का कार्य करते थे।[156]

नाप-तोल

नाप-तोल व्यापार का प्रमुख-अंग है। कुषाण-कालीन व्यावसायिक-विवरणों में नाप-तोल सम्बन्धी अनेक शब्दों का उल्लेख समकालीन साहित्य एवं अभिलेखों में मिलता है। प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द पृथक्-पृथक् हैं। सर्वप्रथम मथुरा के एक अभिलेख में वजन विषयक अधिक, प्रस्थ और घटक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[157] शब्द-कोष में अधक की तौल अनाज के 1/4 कर्ष = 4096 माष = लगभग 7 पाउण्ड, 11 ऑन्स वर्णित है।[158] सद्धर्मपुण्डरीक में प्रस्थ को अधक का 1/4 माना गया।[159] और घटक 4 अधक अथवा 1 द्रोण के समान था।[160] मिलिन्दपन्हों में अम्माण (अर्पण) नाप वर्णित है।[161] दिव्यावदान में अंजली, मणिक, विल्वामात्रम और प्रवेध शब्द आते हैं।[162] अंजली कुदव के समान धान्य का नाप था तथा प्रस्थ का 1/4 और 12 मुट्ठी था। मणिक 8 पाल या 2 कुदव या शराब के समान होता था। विल्व पाल अथवा 1/4 कुदव के समान निश्चित तौल थी।[163] अवदान-शतक में कवद शब्द अन्न की तौल-हेतु प्रयुक्त हुआ है।[164] इनके अतिरिक्त नाप-सम्बन्धी अन्य निम्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं, अंगुल, व्याम और योजन। अंगुल उंगलियों की लम्बाई (8 जौ) बराबर, 12 अंगुल की वितस्ती और 24 हस्त या 18 इंच

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Gurugram

था।[165] दो फैले हुए हाथी की लम्बाई के समान व्याम होता था (=5 अरातनिस)। दो क्रोश या 8-9 मील समान लम्बी दूरी योजन थी। दिव्यावदान में श्रावस्ती और सोपारा के मध्य की दूरी 100 योजन वर्णित है (सात्रिनेकं योजनाशतम्)।[166] इनके अतिरिक्त ललित-विस्तर में व्यापारिक-वस्तुओं की नाप-तौल के लिए इससे भिन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

7 मरमाणु	=	1 रेणु,
7 रेणु	=	1 त्रुटि,
7 त्रुटि	=	1 वातायन रज,
7 वातायन रज	=	1 शश रज,
7 शशरज	=	1 एडक रज,
7 एडकरज	=	1 गोरज,
7 गोरज	=	1 लिक्षारज,
7 लिक्षारज	=	1 सर्षप,
7 सर्षप	=	1 यव
7 यव	=	1 अंगुलिपर्व्व (अंगुल)
12 अंगुलिपर्व्व	=	1 वितस्ति,
1 वितस्ति	=	1 हाथ
4 हाथ	=	1 धनु,
1000 धनु	=	मागध क्रोश (यह क्रोश मगध में प्रचलित था। इसीलिए इसे मागधक्रोश कहा गया)
1 क्रोश	=	1 योजन[167]

व्यापारिक-मार्ग और संचार-संसाधन

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से तत्कालीन व्यापार-मार्ग पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। महावस्तु में विहित है कि उत्कल एवं कलिंग में व्यापारी पहुँच चुके थे। इसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि उत्कल नामक नगर का सार्थवाह 500 गाड़ियों सहित दक्षिणापथ स्थल-मार्ग से आता था।[168] अवदान-शतक में व्यापारियों द्वारा मध्य-देश से दक्षिण (मध्य-देशाद्वणिजो दक्षिणाम् पथम् गवाह) आने का उल्लेख है।[169] इसी प्रकार ललित-विस्तर में दक्षिण के दो व्यापारी भाइयों द्वारा सामान लेकर उत्तर आने का वर्णन है। उनके साथ 550 रथ-यात्रिक भी महान् पण्य-सामग्री युक्त थे।[170] महावस्तु में श्रावस्ती-सोपारा एवं तक्षशिला-काशी[171] के परस्पर-सम्बन्ध होने का विवरण है। भारत के अतिरिक्त बल्ख एवं सेतान भी आन्तरिक संचार-मार्ग में आ गए थे। इतिहासकार चक्रवती के अनुसार कपिसा से होते हुए पुष्कलावती (पेशावर) और वैक्ट्रिया के बीच व्यापार होता था इसमें चाँदी का भारत में खूब यातायात होता था।[172] यह चीन व रोम के मध्य प्रसिद्ध सिल्क-व्यापार-मार्ग को जोड़ता था। संस्थापित लेखक कारवां-मार्ग पाटलिपुत्र से पर्शियन-खाड़ी का उल्लेख करते हैं।[173] यहाँ तक कि ईरान का पाटलिपुत्र से सीधा स्थल-व्यापार होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
था।[174] इतिहासकार रॉलिसन के अनुसार सम्भवतः एराटोस्थेनैक्स पाटलिपुत्र के लिए राजकीय-मार्ग था।[175] चेंग-किएन का इस सन्दर्भ में कथन है कि चीन से सीधा स्थल-व्यापार मार्ग ईरान को वैक्ट्रिया से होता हुआ जाता था। यही पाटलिपुत्र तथा बेरिगाज़ा तक भी जाता था।[176] मिलिन्दपन्हों में विहित है कि भारतीय समुद्र-व्यापार बंगाल के किनारों से लेकर कोलोपत्तन, सौवीर, सूरत तक ही सीमित न था परन्तु एलेक्जेन्ड्रिया, पश्चिम में तकोला और पूर्व में चीन-जावा-सुमात्रा तक होता था।[177] एक विद्वान् ने इससे सहमत हो भारत और एलेक्जेन्ड्रिया के मध्य नियमित सामुद्रिक-व्यापार का उल्लेख किया है। वर्णित है प्रत्येक वर्ष जुलाई में 120 जहाजों का बेड़ा लाल-सागर में सिन्ध के मुहाने और मालाबार में मदिरा, ताम्र, सीसा, टिन और दारू लेकर जाता था यह बेरिगाज़ा के बड़े बाजारों से मिर्च, मोती, हीरा और सूत की वस्तुओं से युक्त लौटता था।[178]

संचार के संसाधन व्यापारिक-प्रगति हेतु परमावश्यक हैं जो व्यापारिक सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने ले जाने में सहायक थे। पशुओं में ऊँट, गदहे, बैल आदि इस दृष्टि से लाभप्रद थे।[179] इसी प्रकार रथ, शकट, नाव, यान भी प्रमुख-साधन थे। रथों में छोटे बैल जुते रहते थे। मिलिन्द पन्हों में सारथी का वर्णन है।[180] घोड़ों को अनुशासित रखने वाले अस्सदाम्मसारथी कहलाते थे। इन्हें घोड़ों के प्रशिक्षक रूप में भी समझा जा सकता है।[181] गाड़ी को शकट कहते थे। महावस्तु में इसके लिए 'घुर' शब्द प्रयोग हुआ है। स्थल-व्यापार में शकट विशेष प्रचलित रहे। नदियों को नाव द्वारा पार किया जाता था। (नावमारुह्य)।[182] अवदान-शतक में वर्णित है कि नाव का प्रयोग बहुतायत में होता था।[183] बड़े-बड़े समुद्रों में नावें (प्लाव) चलती थीं।[184] दिव्यावदान एवं ललित-विस्तर में इन नावों के समुद्र में टूटने के भी उल्लेख हैं।[185] वैसे समुद्रों में जहाज सर्वश्रेष्ठ रहते थे। महावस्तु में व्यापारियों द्वारा व्यापारिक-वस्तुओं सहित जहाज से बड़े-बड़े समुद्र पार करने का उल्लेख है। इसी में व्यापार-सामग्री के जहाज से नाव में स्थानान्तरण का भी वर्णन है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी सामान का गट्ठर समुद्र में गिर जाता था (पोटालिका समुद्रे पतिता)।[186] अश्वघोष के अनुसार जहाज हवा (वातहत)[187] और तरंगों से (तरंगाभिहत)[188] अभिहत होते थे। तथा नावचालक (नियामक)[189] भयंकर समय में भी तरंगों से नाव को बुद्धिमत्ता-पूर्वक बचा लेता था।[190] उक्त साधनों के अतिरिक्त अश्वरथ, शिपिका, और विमान भी प्रचलित रहे।[191]

आदान-प्रदान का माध्यम और वस्तु-विनिमय

सद्धर्म-पुण्डरीक में विहित है कि आयोजित अर्थनीति में आत्म-निर्भरता के स्थान पर दूसरों पर आधारित आदान-प्रदान का सामान्य माध्यम (परिवर्तन) और वस्तु-विनिमय (निमिनित्व या विस्सज्जेया) है।[192] सभ्यता की प्रारम्भिक-अवस्था से ही समाज में अदला-बदली का प्रचलन रहा। मिलिन्द-पन्हों में विवरण है कि अधिकोषकों के अतिरिक्त वस्त्र-विक्रेता (दुस्सीकाम) भी थे।[193] इनके कोष में (काशिका वस्त्र) काशी से लाये गये बुने वस्त्र होते थे। विक्रेता (क्रयिकास) व्यापारिक-वस्तुओं को केशकों से परस्पर बदलते थे। इस क्रिया को प्रतिपन्य कहा गया। सद्धर्मपुण्डरीक में एक यात्री द्वारा बड़े शहर जाने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और आवश्यकताओं की पूर्ति-हेतु रत्न के स्थान पर धन लेने का विवरण है।[194] व्यापार में विनिमय का विशेष महत्व था। दिव्यावदान में भी माल का आदान-प्रदान (प्रतिपन्य) वर्णित है। धन आदान-प्रदान का माध्यम था। यह मुद्राओं के रूप में प्रचलित रहा। संस्कृत-बौद्ध-साहित्य एवं अभिलेखों में सुवर्ण, निष्क, पुराण, कार्षापण, दीनार आदि मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं।[195] सुवर्ण एवं निष्क प्राचीन प्रथित स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। पुराण चाँदी की मुद्रा को कहा जाता था। हुविष्क के 28वें वर्ष के मथुरा-लेख में श्रेणियों द्वारा पुराण दिए जाने का उल्लेख है।[196] मनु के अनुसार पुराण माश की कोड़ी के 10 पण के समान था।[197] महावस्तु में भी इसका वर्णन आया है।[198] कार्षापण चाँदी एवं ताम्र प्रचलित-मुद्रा थी। दीनार मुद्रा भी जनप्रिय रही।[199] अवदान-शतक में कतिपय असमान-स्वर्ण टुकणों का उल्लेख है।[200] निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह दीनार किस मुद्रा-प्रकार का सूचक है। कुजुल की मुद्राएँ अन्तर्राष्ट्रीय सफल व्यापार-हेतु रोम की मुद्रा से प्रभावित रही।[201]

पुरावेत्ता ह्वीलर का विचार था कि स्वर्ण एवं चाँदी की मुद्रा का प्रयोग भारतीय नहीं जानते थे। अधिकांश स्थानों पर आयाती-मुद्रा (बुलियन) सोना-चाँदी रूप में ही प्रयुक्त होती रही।[202] परन्तु प्राप्त अभिलेखीय एवं कुछ चाँदी की आन्ध्र-मुद्राओं के पण्य प्रयोग के आधार पर उक्त विश्वास का खण्डन होता है। निःसन्देह सर्वप्रथम कुषाणों द्वारा स्वर्ण का पण्य-प्रयोग बड़ी संख्या में किया गया था।[203] सद्धर्मपुण्डरीक में विहित है कि व्यापारी-वर्ग के लोग मुद्रा एवं स्वर्ण-टुकड़ों को गिनने में रत रहते थे (धनं हिरण्यं गनती)।[204] स्वर्ण-पारखी हेराणिक कहलाते थे।[205] धन उधार देने वाले हेराणिक-श्रेणी में आते थे। जो ब्याज पर उधार धन देते थे।[206] यह धन एक तीसरे मध्यस्थ व्यक्ति (इन्साधका) द्वारा दिया जाता था।[207]

इस प्रसंग में तत्कालीन स्वर्ण के आयात का किंचित् विश्लेषण आवश्यक है क्योंकि कुषाण-समाज आयाती-स्वर्ण की आभा से ही प्रदीप्त हुआ था। इतिहासकार टार्न के अनुसार तत्कालीन भारतीय स्वर्ण सुवर्णभूमि (दक्षिण-पूर्व एशिया) से प्राप्त करते थे।[208] कुषाणों द्वारा मध्य-एशिया से स्वर्ण प्राप्ति के भी विवरण मिलते हैं। यद्यपि इसकी पुष्टि-हेतु कोई पुरातात्विक-साक्ष्य उपलब्ध नहीं है क्योंकि लेनिनग्रेड के हर्मिटेज-संग्रहालय में उस काल की कोई स्वर्ण-मुद्रा नहीं है।[209] इस पर आपत्ति प्रकट करते हुए इतिहासकार ठाकुर ने लिखा है कि आवश्यक नहीं यदि अमुक संग्रहालय में स्वर्ण-मुद्रा न हो तो उस क्षेत्र में स्वर्ण-मुद्रा को भी अस्वीकार किया जाए चूँकि भारत के अनेक महत्वपूर्ण संग्रहालयों में कुषाण स्वर्ण-मुद्रा नहीं प्राप्त होती।[210] परन्तु यह स्पष्ट है कि भारत में कुषाण स्वर्ण-मुद्राएँ अवश्य थीं। एक अन्य मतानुसार तत्कालीन अधिकतर स्वर्ण औक्सस-क्षेत्र से आया था। कुषाण-स्वर्ण का आयात न केवल सीथिया वरन् उराह और अल्टाई क्षेत्रों से भी होता था।[211] पाश्चात्य-देशों के अतिरिक्त स्वर्ण भारत में भी उपलब्ध होता था। महाभारत में स्वर्ण-उत्खनन करनेवाली चीटियों को पिपालिका कहा गया। एलेक्जेन्डर के समय स्वर्ण-खान भारत के सिन्ध-प्रान्त में स्थित थी। अतएव कुषाण-युगीन सभी स्वर्ण-मुद्राओं को रोम-स्वर्ण निर्मित नहीं कहा जा सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूर्तियाँ

कुषाण-कालीन आर्थिक-उन्नति की पुष्टि तत्कालीन मूर्तियों से भी होती है। यह मूर्तियाँ मथुरा, लखनऊ, कलकत्ता, दिल्ली आदि संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। मथुरा तो वैसे भी कुषाण-युग की अधिकांश पुरातात्विव-धरोहर अपने में संजोए है चूँकि सर्वाधिक कुषाण-मूर्तियाँ मथुरा एवं उसके निकटवर्तीय स्थानों से मिलती हैं। इन मूर्तियों में प्रदर्शित आभूषणों से साहित्य, अभिलेख एवं मुद्राओं द्वारा वर्णित आर्थिक-उन्नति का समर्थन हो जाता है। इन मूर्तियों में प्रयुक्त आभूषण ठोस हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः मूर्तियों में सिर से पैर तक प्रत्येक-अंग में अनेकों आभूषणों का भी प्रचलन मिलता है।[212] जैसे—यदि गले के आभूषण को लें। तो एक लम्बे-हार के अतिरिक्त भारी-कण्ठी का बहुधा प्रयोग होता था। यह हार आर्थिक क्षमतानुरूप ही दो, तीन, अथवा अधिक पहने जाते थे। इसी प्रकार हाथ की चूड़ी कलाई से लेकर लगभग कोहनी तक पहनी जाती थी। आगे भारी-कड़े भी लगाए जाते थे। भुजाओं में पुनः चौड़े भुजपट्ट होते थे। प्रायः सभी आभूषणों का प्रयोग इसी प्रकार होता था। आभूषणों की डिजाइन से भी इनका भार विदित होता है। भारी होने के अतिरिक्त डिजायन युक्त आभूषण विकसित-कला के द्योतक हैं। अन्यथा भी कला का विकास बिना आर्थिक-विकास के असम्भव है।

वस्तुतः कुषाण-कालीन-मूर्तियों में वस्त्र का प्रदर्शन अत्यधिक कम हुआ है। गर्म देश भारत में लोग अत्यावश्यक वस्त्र ही धारण करते थे। अपनी समृद्धता को वह आभूषणों से पूर्ण शरीर द्वारा प्रदर्शित करते थे। इन आभूषणों का प्रयोग हमें मथुरा-कला की कुषाण-मूर्तियों में विशेष मिलता है। क्योंकि कुषाण पहनावे में शरीर वस्त्रावृत होने एवं आभूषणों का प्रदर्शन सम्भव न होने के कारण अधिक आभूषण पहनने का कोई औचित्य भी न था।[213]

कुषाण-कालीन-मूर्तियाँ वस्त्र-आभूषण के अतिरिक्त मुख के भाव द्वारा भी तत्कालीन समृद्धता को स्पष्ट करती हैं। प्रायः कुषाण-मूर्तियों में आँख, ओंठ एवं स्त्रियों के नृत्य आदि के दृश्यों से स्पष्ट है कि वह भौतिक-जीवन से पूर्णतः सन्तुष्ट हैं।[224] अतएव स्पष्ट है कि कुषाण-कालीन-मूर्तियों के आभूषण एवं मुख की भाव-भंगिमा ही एकमात्र—साक्ष्य तत्कालीन आर्थिक-उन्नति की पुष्टि में सक्षम हैं। यद्यपि इसके समर्थन में साहित्यिक एवं अन्य पुरातात्विक-साक्ष्य भी उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष

प्राप्त साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा कुषाण-कालीन आर्थिक-दशा-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है जिसके आधार पर तत्कालीन आर्थिक-विकास स्वतः परिलक्षित होता है। भारत की अधिकांश जनता कृषि पर आधारित होने के कारण इसका महत्व सदैव बना रहा। विवरणों से विदित होता है कि कुषाण-काल में कृषि एवं कृषकों के महत्व को तो स्वीकार किया गया था परन्तु उनकी विपन्नता से यह भी प्रमाणित है कि श्रम के अनुपात में कृषकों को उपलब्धि कम होती थी।

कुषाण-कालीन आर्थिक-व्यवस्था की विशेषता कृषि पर राज्य-नियन्त्रण का

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाप्त होना था। फलस्वरूप हमें व्यक्तिगत-कृषकों के उल्लेख मिलते हैं। बंजर-भूमि पर उसी व्यक्ति का अधिकार माना जाता था जो उसे जुताई योग्य बनाता था। दान की गई भूमि में भी बंजर-भूमि का विशेष महत्व था। सम्भवतः इसका अभिप्राय अधिकाधिक भूमि को उपजाऊ बनाना था। परन्तु गाँव व जनपदों पर प्रमुख की नियुक्ति का अधिकार राजा को प्राप्त होने से विदित होता है कि राजा का हस्तक्षेप आंशिक रूप में अब भी विद्यमान था। पशु-पालन भी भूमि की आर्थिक व्यवस्था का परमावश्यक-अंग था। पशुओं का आधिक्य एवं विविध-प्रकार होने के कारण उनसे लाभ भी नानाविध थे।

कुषाण-कालीन आर्थिक-विकास में मूल-योगदान तत्कालीन व्यापार एवं व्यवसाय ने दिया। परिणामस्वरूप भारत का सम्पर्क वर्तमान ईरान, मध्य-एशिया, पश्चिम-एशिया एवं यूरोप से हो गया था। इन स्थानों में उस समय विशाल एवं सुसंगठित साम्राज्य थे जिनके साथ व्यवसायिक-सम्पर्क भारत की अभूतपूर्व व्यवसायिक-अभिवृद्धि में परिणित हुआ। वस्तुतः कृषक एवं व्यापारी आवश्यकता से अधिक उत्पादन एवं सफल विदेशी-निर्यात द्वारा अपने देश को समृद्ध बना रहे थे।

व्यवसायिक-क्षेत्र में हुई उन्नति की पुष्टि श्रेणियों की विस्तृत-संख्या से हो जाती है। इन श्रेणियों से संगठन की सम्पूर्ण व्यवस्था का विश्लेषण करने से विदित होता है कि जन-साधारण का इन पर असीम-विश्वास हो गया था। पुनः अधिकांश रूप में मान्यता देना भी जहाँ एक ओर श्रेणियों पर विश्वास का सूचक है दूसरी ओर उनकी सम्पन्नता को भी स्पष्ट करता है। इसी प्रकार अभिलेखों में वर्णित अक्षय-नीवि-व्यवस्था का सूत्रपात्र सर्वप्रथम इसी युग में हुआ था जो धार्मिक-प्रवृत्ति के अतिरिक्त आर्थिक-उन्नति का सूचक है। प्रायः सेठों द्वारा दिए गए दान के अनेक उल्लेख भी आर्थिक-उन्नति के बोधक हैं।

जैसा कि सर्वज्ञात है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था में वैश्य-वर्ण को व्यवसाय करने का अधिकार प्राप्त था। परन्तु व्यवसाय के विस्तृत होने पर उसी अनुपात में कार्य-कर्त्ताओं की भी आवश्यकता ज्ञात हुई। ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण को इन कार्यों की अनुमति न थी। अतः शूद्रों ने निम्न-व्यवसायों में सहयोग दिया। इसीलिए इस काल में वैश्य व शूद्र वर्ण परस्पर निकट आ गए थे।

कुषाण स्वर्ण-मुद्रा, जो रोमन-मुद्रा के अनुरूप निर्मित थी, का विशेष प्रचलन विदेशी-व्यापार के उन्नत स्वरूप का द्योतक है। सर्वप्रथम वीमकैडफाइसेस की स्वतन्त्र स्वर्ण मुद्रा प्राप्त होती है। निःसन्देह रोम से हुए आयात-निर्यात में भारत को अत्यधिक लाभ हुआ था। व्यापारिक उन्नति संचार-संसाधनों की उचित-व्यवस्था द्वारा सम्भव है।

तत्कालीन गृहस्थ-गृहस्थियों के जीवन के विभिन्न-आयामों को प्रदर्शित करती हुई अनेक मूर्तियाँ विशेष कर मथुरा से प्राप्त हुई हैं। मथुरा कुषाण-युग की संस्कृति का जनक है। इन मूर्तियों के आभूषण विशेष भारी हैं। साथ ही एक-एक अंग में अनेक आभूषण पहनने का भी प्रचलन था, मूर्तियों को देखने से ज्ञात होता है कि अधिकांश शरीर आभूषणों से आवृत्त रहता था। भारी आभूषणों का अत्यधिक प्रयोग निःसन्देह समृद्धता का सूचक है। इन आभूषणों की कला उत्कृष्ट है जो पुनः आर्थिक- उन्नति से सम्भव है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आभूषण के अतिरिक्त केवल मूर्ति की मुख-भंगिमा एवं नृत्य आदि के दृश्यों से स्पष्ट है कि वह सांसारिक-आनन्दों से तृप्त हैं। सांसारिक-आनन्दों की तृप्ति आर्थिक-स्वतन्त्रता एवं सम्पन्नता से ही सम्भव है।

कुषाण-युग की विशेषता विभिन्न संस्कृतियों का संगम था। ऐसे समय में उन्नति होना वास्तव में श्रेयस्कर है क्योंकि अनेक संस्कृतियों के सामंजस्य-काल में एक कौतुहल का वातावरण होना स्वाभाविक था। विदेशी कुषाण-शासन, साथ ही नए धर्म बौद्ध व जैन धर्म के प्रचलन, अन्य चीनी, रोमन, ईरानी आदि संस्कृतियों से सम्पर्क के फलस्वरूप समाज के विभ्रमित होने की अधिक सम्भावना थी परन्तु भाग्यवश ऐसा न हुआ। कुषाण-कालीन आर्थिक उन्नति निःसन्देह सामाजिक-उन्नति को स्पष्ट करती है।

सन्दर्भ

1. दिव्या०, 131125-6
2. पुरी इन० अन० कुषा०, पृ० 113
3. अवदान० 5।282।11, 6।29319
4. दिव्या०, 131124-5
5. दिव्या० 30114
6. महाव०, 3150
7. ललित०, 128113
8. ललित०, 128113
9. महाव०, 3150
10. मिलिन्द०, पृ० 360
11. सौ०, 11127
12. दिव्या०, 43122
13. सौ०, 12135
14. दिव्या०, 43123
15. ललित०, 430115
16 मनु०, 8।264
17. मनु०, 9।291
18. मनु०, 9।293
19. दिव्या०, 18416-21
20. चरक०, 27। 14-28
21. दिव्या०, 8।27; 9।1, 17513-4; 82115-6
22. मंजु श्री०, 1।209।9
23. दिव्या०, 18116, 9
24. सौ०, 14।13
25. अवदान०, 2।7515

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

26. वही, 4।175।7-8
27. मनु०, 9।44
28. मिलिन्द०, 219
29. मनु०, 10।114
30. मिलिन्द०, 359
31. सरकार से० इन०, पृ० 188, 1।11
32. शर्मा ला० अ० इन० सो० इ०, पृ० 72
33. सरकार से० इन०, पृ० 192, 4-5
34. मिलिन्द०, 147
35. सरकार से० इन०, पृ० 146, 11, 1-3
36. एपि० इन०, 21, पृ० 55-61 हरित कलापक
37. मुकर्जी म० सो०, पृ० 125
38. दिव्या०, 78। 10
39. ललित०, 156।14
40. अवदान०, 6।307।6-7, 6।331।6-8
41. सद्धर्म०, 18।241, 18।23
42. सौ०, 14।41, 9।42
43. महाव०, 2।70
44. वही, 2।185
45. वही, 2।213
46. वही
47. दिव्या०, 6।11-2
48. महा०, 2।218; 2।410
49. वही, 2।4।2
50. दिव्या०, 361।17
51. जैन०, वी०, गिल्ड आरग्नाइज़ेशन्स इन नार्थ इण्डिया, पृ० 4-6
52. एन्स्टे, वी०, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइन्सेज़, 7, पृ० 427
53. आर० स० वे० इन०, जि० 4, नं० 24, पृ० 96
54. जातक, 6।538।14
55. पन्नवण, 1।61
56. महाव०, 3।113, 442
57. बसाक, ए स्टडी ऑफ महावस्तु, पृ० 41
58. महाव० 3।35
59. को० इन० इन०, 2, 1, पृ० 23
60. एपि०, इन०, 1, 21, पृ० 166; 1, 203, पृ० 160
61. याज्ञ०, 2।188, 191

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

62. मनु०, 8।41
63. ज० वि० उ० रि० सो, 6, प्ले० 1, पृ० 35
64. एपि० इन०, 8, 15, पृ० 88
65. वही, 21, 10, पृ० 58
66. वही, 2, 15, पृ० 203, 31, 23, पृ० 167, 21, 10, पृ० 58, 2, 7, पृ०, 92, 24, 35, पृ० 254
67. जैन-निबन्ध-माला, 1977, 1, पृ० 92
68. बु० स्कू० ओ०, एफ्रि० स्ट०, 14, पृ० 420-3
69. एपि० इन०, 21, 10, पृ० 60
70. श्री महा० जै० वि० सु० म० ग्रं०, 1968, पृ० 157
71. आर० स० इन० एनु० रि०, 1905-6, पृ० 153, 1913-4, पृ० 220 से
72. जैन, वी०, वही, पृ० 251
73. दिव्या०, 144, 9-10
74. लहरी, वी०, इन्डीजनस स्टेट्स आफ नार्दन इण्डिया, पृ० 159
75. ज० यू० पी० हिस० सो०, 1939, 14, पृ० 24
76. महाव०, 1।131
77. अवदान०, 5।261।10-2
78. सो०, 18।50
79. दिव्या०, 170।32
80. सो० 5।1
81. ललित, 77।14-5
82. दिव्या०, 17।11
83. महाव०, 2।303
84. ललित०, 381।5 महता सार्थेन पंचभिर्धुरशतैः सुपरिपूर्णः।
85. दिव्या०, 13।32 तथा 14।1 उत्तरापथात् सार्थवाहः पण्यमादाय वाराणसी-मनुप्राप्तः।
86. महाव० 2।303
87. अवदान०, 2।7।15-6, श्रावास्त्यां पंचमात्राणि वणिकशता-कान्तार—मार्गं प्रति-पन्नानि। तेमार्गात्परिभ्रष्टा बालुकास्थलमनुप्राप्ताः।
88. ललित०, 207।18; 208।4-5; 381।11-3, 19-20
89. लाल, ए०, संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भारतीय-जीवन, पृ० 32
90. अवदान०, 3।129।5
91. महाव०, 3।351
92. अवदान०, 7।370।2
93. महाव०, 3।161
94. दिव्या०, 4।24; 5।11; 64।18-20

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

95. महाव०, 3।351
96. वही, 3।286
97. दिव्या०, 98।29
98. वही, 21।23
99. वही, 20।29
100. वही, 20।2
101. प्रसाद, पी० सी०, फॉरेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशियंट इण्डिया; पृ० 67
102. पुरी, इन० अन० कुषा०, पृ० 116
103. मजूमदार, आर० सी०, क्लैसिकल एकाउन्ट्स आफ इण्डिया, पृ० 290
104. स्कॉफ, डब्ल्यू० एच०, दि पेरिप्लूस आफ दि एरिद्रियन सी, पृ० 23
105. व्हीलर, आर० ई० एम०, रोम बियोन्ड दि इम्पीरियल फ्रन्टीयर, पृ० 164
106. थपलियाल, यू० पी०, फॉरेन एलीमेन्ट्स इन एंशियंट इण्डियन सोसायटी, पृ० 6
107. व्हीलर, एम०, वही, पृ० 165
108. अवदान०, 2।66।4
109. महा०, 2।167
110. ललित०, 379।9
111. मैक्रिन्डल, एन० इन०, पृ० 130
112. बाम्बे गर्जेटियर, 1, 1, पृ० 49
113. ज० रा० एशि० सो०, 1904, पृ० 50 से
114. वार्मिगटन, इ० एच०, दि कामर्स बिटविन दि रोमन अम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ० 89
115. महाव०, 3।442
116. वही, 3।113, 442
117. मिलिन्द०, 210
118. सद्धर्म०, 6।105
119. महाव०, 3।216, 3।443
120. दिव्या, 171।1
121. महाव०, 2।465-6
122. वही, 477।3
123. लूडर्स, न० 1137
124. मिलिन्द०, 331
125. महाव०, 3।442
126. मिलिन्द०, 331, 174
127. बाजपेई, के० डी० अर्ली इन्सक्रिप्शन्स आफ मथुरा—ए स्टडी, पृ० 118 से
128. मिलिन्द०, 415
129. लूडर्स, न० 29, 51, 54

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

130. एपि० इन०, 1, 1, पृ० 381
131. महाव० 2।87
132. सी०, 15।65-8
133. एपि० इन०, 2, 105
134. मिलिन्द०, 331
135. महाभा०, 1, 1, 48, 118
136. ललित०, 15।207
137. लूडर्स, नं० 1137
138. ललित०, 15।207
139. दिव्या०, 443।31
140. एपि० इन०, 10, 4, पृ० 111
141. ललित०, 58।4
142. सो०, 15।39
143. महाव०, 3।255, 3।442-44
144. एपि० इन०, 1, पृ० 391
145. महाव०, 1।94; 1।131; 3।442
146. मिलिन्द०, 331, 412, 413
147. अवदान०, 1।36।9
148. महाव०, 2।478
149. ललित०, 332।2
150. मिलिन्द०, 155, 330, 331
151. ललित०, 196।15
152. सद्धर्म०, 4।101
153. मिलिन्द०. 155
154. सो०, 4।26
155. सद्धर्म०, 3।70
156. मिलिन्द०, 378, 379
157. एपि० इन०, 21,10, 60-1
158. विलियम्स, एम० एम०, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ 134
159. सद्धर्म०, 4।108
160. विलियम्स, एम० एम०, वही, पृ० 375
161. मिलिन्द०, 102
162. दिव्या०, 436।25; 181।32; 43।19
163. विलियम्स, एम० एम०, वही, पृ० 11, 806, 732
164. अवदान०, 4।174।1
165. विलियम्स, एम० एम०, वही, पृ० 1038

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

166. दिव्या०, 43।13
167. ललित०, 169।21-170।5 तक
168. महाव०, 3।303; 3।361
169. अवदान०, 9।103।5-6
170. ललित०, 38।।4-5 छौ भ्रातरौ त्रपुषमल्लिक नामको वणिजौ पण्डितौ,
निपुणो विविध पुण्यं गृहीत्वा महालब्यलाभौ दक्षिणापथादुत्तरापथं गच्छेतेस्म ।
171. महाव०, 3।442, 2।66
172. चक्रवर्ती, एच० ट्रेड एण्ड कामर्स ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० 157
173. वार्मिग्टन, इ० एच०, वही, पृ० 12
174. टार्न, ग्री० दै० इन०, पृ० 87
175. सॅलिन्सन, एच० सी०, इन्टरकोर्स बिटविन इन्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ड, पृ० 93
176. स्कॉफ, डब्लयू०, एच०, दि पेरिप्लूस ऑफ दि एरिद्रियन सी, पृ० 48,64
177. मिलिन्द०, 359
178. प्रसाद, पी० सी०, वही, पृ० 65
179. दिव्या०, 144।9; 147।17; 205।25-6; 3।16
180. मिलिन्द, 266
181. डेविड्स एण्ड स्टेडे, पालि संस्कृत डिक्शनरी, पृ० 90
182. महाव०, 2।303; 3।421
183. अवदान, 2।64।2-5
184. सौ०, 4।44
185. दिव्या०, 10।।1
186. महाव०, 3।286; 2।86, 90
187. बु० च०, 1।21
188. सौ०, 2।52
189. मिलिन्द०, 378, 399
190. सौ०, 4।44
191. महाव०, 2।441; 2।216
192. सद्धर्म०, 8।211; 4।।21
193. मिलिन्द०, 262
194. सद्धर्म०, 8।211
195. दिव्या०, 19।19; 277।24; 49।8, 16 अवदान०, 4।225।12; 4।198।9
196. एपि० इन०, 21, 10, पृ० 60-1
197. मनु०, 8।136
198. महाव०, 2।275
199. दिव्या०, 282।।5
200. अवदान०, 4।198।13-4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

201. ज० न्यू० सो० इन०, 1960, 22, पृ० 78-9
202. ह्वीलर, आर० इ० एम०, वही, पृ० 167
203. वार्मिग्टन, इ० एच०, वही, पृ० 291, 96-7
204. सद्धर्म०, 4।8 3।9
205. मिलिन्द०, 331
206. सद्धर्म०, 4।8 3।9
207. मिलिन्द०, 365
208. टार्न, ग्री०, वे० इन०, पृ० 107-8
209. ज० न्यू०, सो० इन०, 1969, 31, पृ० 2
210. ज० ई० वे०, 1980, पृ० 107
211. आघा, जी० एल०, अर्ली-इन्डियन इकॉनामिक्स, पृ० 180
212. रा० सं० म० मू० सं०, 14-369
213. वही, 12-269, इ० 25
214. वही, 14-405, 14-369

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

3

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण शब्द की उत्पत्ति 'वृ' धातु से होती है जिसका अभिप्राय 'वरण' करना है। इसके अतिरिक्त वर्ण शब्द 'रंग' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वर्तमान समय में वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया है। मनुस्मृति में वर्ण एवं जाति शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[1] संक्षेप में इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वर्ण व्यवसाय पर आधारित स्वभावतः अस्थिर है जबकि जन्म पर आधारित जाति स्थिर होती है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण यद्यपि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है पर उसके मूलार्थ में कोई भिन्नता नहीं है। व्यक्ति के कृत्यों (व्यवसाय) एवं अर्जित-गुणों (जन्म पर आधारित) का तात्पर्य सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से है। ब्राह्मण-वर्ण का सम्बन्ध सत्वगुण से होने के कारण इसका वर्ण श्वेत, क्षत्रिय रजोगुण पर आधारित रक्त-वर्ण, एवं शूद्र तमोगुणी होने के कारण कृष्ण-वर्ण माने जाते हैं। सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण द्वारा ही समाज को चार-वर्णों में विभाजित किया जाता है। इन गुणों के आधर पर ही सभी वर्णों के कार्य निर्धारित होते हैं।[2] अतः स्पष्ट है कि गुण एवं कर्म परस्पर अभिन्न हैं।

भारतीय-सामाजिक-व्यवस्था का मूलाधर वर्ण-व्यवस्था है।[3] बिना वर्ण-व्यवस्था के स्वस्थ समाज की परिकल्पना कदाचित् दुर्लभ है। वर्ण-व्यवस्था को 'वर्ण-चतुष्ट्य' भी कहा जाता है।[4] यह कहना अनुचित न होगा कि सामाजिक-व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था का वही महत्व है जो शरीर में रीढ़ की हड्डी का है। अपनी इसी उपयोगिता एवं उपादेयता के कारण भारतीय जाति-व्यवस्था सदैव से ही देशी एवं विदेशी विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। इनमें कतिपय तो जाति-व्यवस्था की आवश्यकता पर बल देते हुए इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं जबकि अन्य कटु-आलोचना भी। स्वयं कुषाण-कालीन ग्रन्थों दिव्यावदान एवं सौन्दयानन्द आदि में चतुर्वर्ण-व्यवस्था की भर्त्सना की गई है। यदि कुछ समय के लिए वर्ण-व्यवस्था में आने वाली विषमताओं को न विचारा जाए, तो भी स्वस्थ एवं उन्नत समाज के लिए समाज का विभाजन होना एवं निर्धारित-कार्यों का सम्यक् रूप से पालन करके ही उसे साकार किया जा सकता है। इसी आधार पर वर्ण-व्यवस्था की सार्थकता को भी स्पष्ट किया जा सकता है। यद्यपि पाश्चात्य-देशों जैसे—अमेरिका तथा अन्य देशों—अफ्रीका, इटली, फारस, जापान आदि समाज में वर्ण-व्यवस्था

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सदैव से ही विद्यमान रही है। पर भारत में वर्णों से क्रमशः राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यवसायिक कारणों से समाज में बहु-जटिल जाल सा विस्तृत होने के कारण समस्त-विश्व का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। भारत में समय-समय पर वर्ण-व्यवस्था के उद्‌गम, तत्सम्बन्धी विकास के समय में अनेक अनुमान, विचार-धाराएं एवं मान्यताएं उत्पन्न होती रही हैं जो कदाचित् वर्ण-व्यवस्था को जन्म अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित करती हैं।

कुषाण-कालीन वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में शुंग-कालीन वर्ण-व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा। वास्तव में कुषाण-जाति विदेशी बर्बर-जाति थी जिसकी अपनी निजी कोई वर्ण-व्यवस्था न थी। अतः जब वह भारत में प्रविष्ट हुए शुंग-वंश पतन की ओर अग्रसित था फिर भी समाज में शुंग-कालीन वर्ण-व्यवस्था अवश्य विद्यमान थी जिसमें जन्म पर आधारित क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र जातियाँ थीं।[5] महात्मा बुद्ध के समय से मौर्य-काल तक बौद्ध-धर्म का विशेष प्रचलन होने के फल-स्वरूप वैदिक-कालीन वर्ण-व्यवस्था पर विशेष कुठाराघात हुआ। मूल रूप से देखा जाए तो बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति का कारण ही वैदिक वर्ण-व्यवस्था का विकृत-स्वरूप था जिसमें ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे तथा शूद्र आदि निम्न जातियों का उत्पीड़न एवं शोषण किया जाता था। इसी की प्रतिक्रिया थी जो बौद्ध-धर्म में ब्राह्मणों का स्थान कदाचित् क्षत्रियों ने ले लिया। महावस्तु में वर्णक्रम क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र मिलता है।[6] यद्यपि परम्परागत वर्ण-क्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र का भी उल्लेख उन्हीं ग्रन्थों में किया गया है।[7] वास्तव में बौद्ध-धर्म में जाति-प्रथा का कड़ा विरोध किया गया। दिव्यावदान में वर्णन आता है कि सभी मनुष्यों में पैर, जाँघ, नख, मांस, पार्श्व और पृष्ठ समान रूप से हैं ऐसा कोई भी तो विशेष अंग उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर वर्णों का पृथक्-पृथक् विभाजन किया जा सके।[8] बौद्ध-साहित्य में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप जन्मना न होकर कर्मणा स्वीकार किया गया अर्थात् जो भी व्यक्ति तेजस्वी, तपस्वी, पण्डित, विनीत एवं सदाचारी होगा वही ब्राह्मण-पद का वास्तविक अधिकारी है।[9] मनुष्य के कर्मानुसार ही उनको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि विभिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं वस्तुतः सब एक ही हैं। परन्तु शुंग-काल में पुनः वैदिक-धर्म की स्थापना की गई थी। इस विषय में मालविकाग्निमित्र एवं महाभाष्य ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों के उल्लेख द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

प्रस्तुत विषय के विभिन्न-पहलुओं पर विस्तृत रूप से विचार करने के पूर्व वर्ण-व्यवस्था का उद्‌गम-स्रोत जानना परमावश्यक होगा। ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त वर्ण-व्यवस्था का मूल-स्रोत माना जाता है जिसमें वर्णन आता है कि 'विराट-पुरुष' के मुख ब्राह्मण हैं, भुजाएँ क्षत्रिय, उरु वैश्य तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। महाभारत में भी इसका विवरण आया है।[10] जैसा कि ऊपर वर्णित है वैदिक-काल में वर्ण का तात्पर्य रंग के आधार पर ही लिया गया जिसमें आर्य श्वेत-वर्ण एवं अनार्य कृष्ण-वर्ण माने गए। वे न केवल रंग में वरन् भाषा, रहन-सहन, धर्म, रीति-रिवाज, एवं मूल-स्वरूप में भी पर्याप्त भिन्न थे।

प्राचीन-काल में ही वर्ण-व्यवस्था की जड़ें इतनी मजबूत हो गई थीं कि यह व्यवस्था न मात्र मनुष्यों तक सीमित रही अपितु देवताओं में भी इसके आधार पर विभा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जन दृष्टिगोचर होता है यथा-अग्नि एवं वृहस्पति देवता ब्राह्मण, इन्द्र, वरुण, यम देवता क्षत्रिय, वसु, रुद्र, मरुत वैश्य तथा पूषा शूद्र-वर्ण थे। यही नहीं ऋतुओं में बसन्त-ऋतु ब्राह्मण, ग्रीष्म-ऋतु क्षत्रिय एवं वर्षा-ऋतु वैश्य माने गए।[11] इसी प्रकार वृक्षों में पलाश, नक्षत्रों में रोहिणी, पशुओं में अज और दिन-रात में दिन को ब्राह्मण कहा गया है।[12] नामकरण-संस्कार में भी वर्ण-विभेद का विचार किया गया था। यह आवश्यक था कि ब्राह्मण का मंगल-सूचक नाम रखा जाए तथा उपाधि शर्मा, इसी प्रकार क्षत्रिय का नाम शक्ति-सूचक एवं उपाधि वर्मा, वैश्य का नाम धन-सूचक और (जो वैभव को स्पष्ट करे) उपाधि भी धन-वाचक तथा अन्त में शूद्र का नाम निन्दनीय होना चाहिए उपाधि भी दास हो।[13] वात्स्यायन ने मानव-मात्र के आनन्दमय जीवन-निर्वाह हेतु चार प्रकार के व्यवसायों द्वारा चारों वर्णों को स्पष्ट किया है। ये हैं—दान स्वीकार करना (प्रतिग्रह), संघर्ष (जय) व्यापार (कार्य) और वेतन (निर्वेश)[14] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय वर्णों के व्यवसाय उनके जन्म पर आधारित थे वह स्वेच्छा-पूर्वक व्यवसाय चयन नहीं कर सकते थे।[15] इतिहासकार केतकर के विचार से उस समय ब्राह्मण वर्ण एवं जाति दोनों थे पर क्षत्रिय व वैश्य केवल वर्ण थे जाति नहीं शूद्र भी जाति थी।[16]

निश्चय ही जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रयोजन समाज को सुचारु-रूप से चलाना था। इसी को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न चारों-वर्णों के कर्त्तव्यों, अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का निर्धारण किया गया।

ब्राह्मण-वर्ण

ब्रह्मा ने हव्य तथा कव्य को पहुँचाने और सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा-हेतु तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया। ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ माने गए।[17] दिव्यावदान में इन्हें ज्येष्ठ कहा गया है।[18] अपने उच्च एवं पवित्र आचार-विचार तथा ब्रह्मज्ञान के कारण ब्राह्मण समाज की सबसे प्रतिष्ठित-इकाई माने जाते रहे।[19] यदि उक्त योग्यताएँ न भी हों तो जन्म से ब्राह्मण होना पर्याप्त था। यही कारण है कि विष्णु एवं मनुस्मृति में 10 वर्ष के ब्राह्मण को 100 वर्ष के क्षत्रिय से अधिक सम्माननीय माना गया।[20] महावस्तु में ब्राह्मण उदार-वर्ण कहे गए थे।[21] दिव्यावदान में ब्राह्मणों का विभाजन तीन वर्गों में किया गया। प्रथम-श्रेणी के ब्राह्मण अपनी सम्पत्ति आदि को त्यागकर जंगलों में पर्णकुटी बनाकर साधना-निमग्न दिन व्यतीत करते थे तथा रात्रि में नगरों में सोने एवं प्रातः भोजनार्थ पिण्ड पाने के लिए आ जाते थे। द्वितीय श्रेणी के ब्राह्मण सम्पत्ति-दान कर जंगलों में ही अपना, सम्पूर्ण जीवन निर्वाह करते थे यह 'बहिर्मनस्क-ब्राह्मण' कहे जाते थे। तृतीय श्रेणी में ब्राह्मण अध्यापक आते थे जो गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए अध्यापन-कार्य करते थे।[22]

मनुस्मृति में ब्राह्मणों के कर्त्तव्य एवं विशेषाधिकार इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—अध्ययन, अध्यापन, पूजा करना, पुरोहिती, दान देना, दान ग्रहण करना।[23] प्रायः ऐसी धारणा थी कि ब्राह्मणों को लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्य की प्राप्ति उक्त कर्त्तव्यों को पूर्ण करने पर प्राप्त होती है।[24]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1. वेदाध्ययन

वेदाध्ययन का अधिकार 'द्विज मात्र' को प्राप्त था। द्विज अर्थात् जिसके दो जन्म हुए हों। एक तो माता से तथा दूसरा उपनयन संस्कारोपरान्त।[25] वेदाध्ययन ब्राह्मण का परमोच्च-धर्म था। अतः नितान्त आवश्यक भी। मनुस्मृति में वेदज्ञान को ब्राह्मण का तप माना है।[26] याज्ञवल्क्यस्मृति के विवरण के अनुसार विधाता ने धर्म की रक्षा-हेतु ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है।[27] इसी प्रकार महाभाष्य में ब्राह्मणों को बिना किसी अभिप्राय के वेद एवं वेदांगों में निरत रहने का उल्लेख है।[28] याज्ञवल्क्य के मतानुसार जो द्विज निरन्तर वेदाध्ययन में निरत रहता है वह वैभव-सम्पन्न पृथ्वी के तीन बार दान एवं सबसे बड़े तप के फल का भागी होता है। आगे विहित है कि द्विज वेदाध्ययन द्वारा त्याग, तपस्या एवं श्रेष्ठ-कर्म को प्राप्त करता है।[29] वेदों के अतिरिक्त भी उनसे सम्पूर्ण जीवन अन्य सहायक-विज्ञानों में व्यस्त रहना अपेक्षित था।[30] अन्यथा उसका जाति-पतन हो जाता था। मनु-स्मृति में आता है कि इस शास्त्र को पढ़ता हुआ इसके अनुसार नित्य-व्रतानुष्ठान करता हुआ ब्राह्मण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म-दोषों से मुक्त हो जाता है। धर्मशास्त्र (वेद) बुद्धिवर्धक, यशोवर्धक, आयुवर्धक और मोक्ष का साधक था। वेदज्ञानी-ब्राह्मण सात पीढ़ी पूर्वजों एवं सात ही पीढ़ी वंशजों को पवित्र करता हुआ पृथ्वी को धारण करने योग्य होता था। एक प्रसंग के अनुसार विद्या ब्राह्मणों के पास आई और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा-हेतु उसने प्रार्थना की। मनुस्मृति में उल्लिखित है कि ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि, कृतबुद्धि में अनुष्ठान करने वाले और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मण जो खाता है, पहनता है, दान देता है वह सब उसका अपना है। वास्तव में ब्राह्मण विश्व की समस्त सम्पत्ति का स्वामी है।[31] एक विद्वान् के अनुसार अध्ययन ब्राह्मण-जीवन का प्रमुख अंग था चूंकि अध्ययनहीन-ब्राह्मण काष्ठ-निर्मित-हाथी एवं चर्म-निर्मित-मृग के समान महत्वहीन होता है।[32]

2. वेदाध्यापन

अध्यापन ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था। विहित है यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार द्विजों को प्राप्त है पर वेदाध्यापन केवल ब्राह्मणों को ही करना चाहिए। यह प्रतिष्ठित-कार्य समाज में ब्राह्मणों के सर्वोच्च-पद का द्योतक था। मनुस्मृति में वर्णित है कि विद्वान्-ब्राह्मणों द्वारा सम्यक् रूप से शिष्यों को धर्मशास्त्र का ज्ञान कराना चाहिए। इस कार्य को क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण न करें।[33] मात्र आपात्काल में यह कार्य अन्य-वर्ण भी कर सकते हैं परन्तु आपात्काल के पश्चात् पुनः अपने निश्चित व्यवसाय पर लौट आना चाहिए। मनु ने लिखा है कि एक नैष्ठिक-ब्रह्मचारी किसी अब्राह्मण-गुरु के घर ठहर नहीं सकता हालांकि हितकारी कला-कौशल किसी शूद्र से भी सीख लेना श्रेयस्कर है।[34]

3. पूजा करना

देव-अर्चना ब्राह्मण-जीवन का आवश्यक अंग था। मनुस्मृति में लिखा है यदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण प्रातः एवं सायंकालीन सन्ध्याएँ न करे तो उसे राजा द्वारा शूद्रोचित-कार्य दिया जाना चाहिए।[35]

4. पुरोहिती

पुरोहिती पर ब्राह्मण और केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार था। पुरोहिती की परम्परा प्राचीन-काल से चली आ रही है। धार्मिक-यज्ञादि से पुरोहितों को दक्षिणा में अच्छी धन-सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती थी।[36] मनुस्मृति में लिखा है कि जो ब्राह्मण तीन वर्ष तक मन्दिर में पुरोहिती द्वारा दान-दक्षिणा ग्रहण करता है तीन वर्षोपरान्त श्राद्ध एवं हव्य-कव्य में नहीं बुलाया जाता।[37] अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पुरोहिती ब्राह्मणों का विशेषाधिकार अवश्य था पर साथ ही यह निम्न कार्य माना जाता था। धार्मिक-कृत्यों को करने वाले ब्राह्मण के लिए आवश्यक था कि वह गौर-वर्ण, शुद्ध-आचरण, पिंगल-वर्ण और लाल-केश सम्भवतः रंगे हुए (कपिल-केश) आदि विशेषताओं से युक्त हो।[38]

5-6 दान एवं प्रतिग्रह

अतिप्राचीन-काल से ही दान एवं प्रतिग्रह समाज में धार्मिक-संस्था के रूप में मान्य रहे हैं। सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ एवं कलियुग में दान को महर्षियों ने प्रधान-धर्म कहा है।[39] याज्ञवल्क्य के अनुसार दान-स्वीकृति मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक रूप से हो सकती है।[40] मनु ने दान की पात्रता पर विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया है। दान ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी को देने से साधारण-पुण्य मिलता था, ब्राह्मण को देने से दुगुना, शिक्षित-ब्राह्मण को देने से सौ हजार गुना एवं वेदज्ञानी और अंग जानने वाले ब्राह्मण को देने से असीमित पुण्य प्राप्त होता था। अधिकांशतः निकट के योग्य-ब्राह्मण को ही दान देने की व्यवस्था थी किन्तु यदि निकट ब्राह्मण मूर्ख हो तो दूर के योग्य-ब्राह्मण को ही दान दिया जाना श्रेष्ठ था।[41] कपटी एव वेद अज्ञानी ब्राह्मण को दान का पात्र नहीं स्वीकार किया गया था।[42]

मनुस्मृति में वर्णित है कि जिस प्रकार पानी में पत्थर की नाव से तैरता मनुष्य नाव सहित डूब जाता है उसी प्रकार मूर्ख दान लेने वाला एवं मूर्ख को दान देने वाला दोनों नरक-गामी होते हैं। दान स्वेच्छा से श्रद्धा-पूर्वक देने एवं प्रेमपूर्वक लेने पर ही पुण्यदायक होता था अन्यथा नहीं। दान अनेक वस्तुओं का होता था तथा उनका पुण्य भी भिन्न था। पर जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत इन सबके दानों से ब्रह्म-दान वेद का पढ़ाना सर्वोत्तम फलदायक था। जो मनुष्य वेदज्ञाता तथा पुत्र-पुत्री आदि परिवार से युक्त ब्राह्मण को धन, गौ, भूमि, सुवर्ण अन्नादि का दान देता है मरणोपरान्त स्वर्ग को जाता है।[43] दान देते समय एक बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक था कि दान गुप्त-रूप से दिया जाए, ताकि बायाँ हाथ न जान सके कि दाएँ हाथ द्वारा दान दिया गया है। लोगों को प्रकट करके दिये दान का फल नष्ट हो जाता था। विहित है कि दान सामर्थ्य के अनुरूप ही होना चाहिए। परिवार जन का समुचित पालन न करके दिए गए दान से न मात्र इहलोक प्रत्युत परलोक भी नष्ट हो जाता है।[44]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दान देने का अधिकार प्रथम तीनों वर्णों को प्राप्त था पर दान प्रतिग्रह के योग्य ब्राह्मणों को ही माना गया था। काम-सूत्र में तो ब्राह्मणों की जीविकोपार्जन का सर्वोत्तम साधन प्रतिग्रह को कहा है।[45] हुविष्क के मथुरा के ब्राह्मी-अभिलेख से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों को दान, उपहार, भोजन आदि करवाया जाता था। दिव्यावदान के सन्दर्भों से स्पष्ट है कि बहिजातीय वैर्वानिका एवं नीची जाति का मातंग और दास ने विभिन्न परिस्थितियों में दान-दक्षिणा दी थी।[46] मनु का विचार था कि यदि शूद्र द्वारा दिए दान से यज्ञादि किये गये तो अगले जन्म में चाण्डाल होना पड़ेगा।[47] अतः स्पष्ट है बिना मांगे दिया दान स्वीकार कर लेने की अनुमति तो थी पर शूद्र के दान से धार्मिक कृत्य करने का विधान नहीं था। दान सम्बन्धी विषय पर मनु के विशेष चिन्तित होने का कारण सम्भवतः कुषाण-शासकों के समय आर्थिक उन्नति के फलस्वरूप निम्न व्यवसायियों (निम्नवर्णों) द्वारा भी अनेक दान-धर्म करने से था। अतएव मनु ने उनके विरुद्ध कठोर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार हमने देखा कि समाज में दान एवं प्रतिग्रह सम्बन्धी व्यवस्था प्रारम्भ से ही विद्यमान थी पर उपरान्त-काल में ब्राह्मणों की संख्या-वृद्धि, दानाभाव, धार्मिक ग्रन्थों की अशिक्षा के कारण दान-सम्बन्धी मान्यताओं में शिथिलता आ गई। आज दान देते समय केवल ब्राह्मण होने पर विचार किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मणों को प्राप्त विशेषाधिकारों वेदाध्ययन, पुरोहिती एवं प्रतिग्रह में अन्तिम सर्वश्रेष्ठ था क्योंकि प्रथम दो प्रकारों में दूसरे को बाध्य करके अधिक धन लिया जा सकता था परन्तु प्रतिग्रह में तो स्वेच्छा से दिए दान को स्वीकार करना था।[48] मुख्य रूप से ब्राह्मणों के तीन व्यवसाय निर्धारित थे पर चूंकि अध्यापन, पुरोहित एवं प्रतिग्रह में सभी ब्राह्मणों को पर्याप्त-धन नहीं प्राप्त हो पाता था। मात्र कतिपय योग्य-ब्राह्मण ही श्राद्ध आदि किंचित् अवसरों पर लाभान्वित होते थे। आजकल की भाँति अध्यापन द्वारा निश्चित आय नहीं मिलती थी। अतः ब्राह्मण आपात्काल में जीवन-रक्षा हेतु क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वृत्ति भी अपना सकता था। मनुस्मृति के विवरणानुसार वैश्य-वृत्ति को अपनाता हुआ भी ब्राह्मण कृषि-कर्म तो न करे क्योंकि इससे बैल एवं फावड़े आदि द्वारा जीव-हिंसा होती है अतः कृषि-कर्म सज्जनों द्वारा निन्दित है।[49] आपात्काल में उसे निम्न 10 प्रकार के व्यवसाय करने की अनुमति थी। विद्या, कलाएँ एवं शिल्प, पारिश्रमिक पर कार्य, नौकरी, पशु-पालन, वस्तु-विक्रय, कृषि, सन्तोष, भिक्षा एवं कुसीद।[50] याज्ञवल्क्य ने इनमें से सात को स्वीकार करते हुए कुछ अन्य व्यवसायों के नाम दिए हैं।[51] जो ब्राह्मण कृषक-कार्य करते थे—उन्हें 'कृषक-ब्राह्मण' कहा जाता था।[52] दिव्यावदान में विवरण आता है कि सभी ब्राह्मण तो वेद-पारंगत नहीं हो सकते, अतः उन्हें अन्य निम्न-कर्म के व्यवसायों से ही सन्तुष्ट होना पड़ता था यद्यपि वह जाति के ब्राह्मण ही कहलाते थे।[53] महावस्तु में अत्यधिक धन-वैभव सम्पन्न ब्राह्मण का उल्लेख है जिसका कोष धन व अन्न से पूर्ण था।[54] स्मृति-साहित्य के अनुसार वर्णाश्रम-धर्म पर जब-जब दुष्टों का आक्रमण हो, गायों, नारियों एवं ब्राह्मणों की रक्षा हेतु ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करना चाहिए।[55] महाभारत के द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य नामक योद्धा ब्राह्मण ही थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणों को जहाँ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं वहीं उन्हें कठोर नियमों से युक्त जीवन-निर्वाह भी करना पड़ता था। खान-पान से सम्बन्धित प्रतिबन्धों का पालन उनके लिए अनिवार्य था। वह शूद्र द्वारा दिया भोजन नहीं ग्रहण कर सकता था। पर अन्य साधन उपलब्ध न होने पर आत्मरक्षा-हेतु कच्चे अन्न ले लेने का विधान था पका-अन्न तो कदापि नहीं। खाद्य एवं पेय पदार्थों में प्याज, लहसुन, मांस-मदिरा आदि पदार्थ अपवित्र माने जाते थे, अतः त्याज्य थे।[56] ब्राह्मणों द्वारा इन नियमों का उल्लंघन करने पर ब्राह्मणत्व को खोना पड़ता था।

दण्ड-विधान

कुषाण-साहित्य से ज्ञात होता है कि अपराध करने पर ब्राह्मण को भी दण्ड दिया जाता था। यद्यपि यह दण्ड अपेक्षाकृत काफी हल्का था जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लिखित है कि ब्राह्मण अवध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य माना जाता था पर यह मात्र विद्वान्-ब्राह्मणों से सम्बन्धित था।[57] इस विषय में मनु का भी आदेश था कि ब्राह्मण को किसी भी परिस्थिति में प्राण-दण्ड नहीं देना चाहिए। झूठी-गवाही एवं अन्य दुराचारों के लिए धन-दण्ड उचित माना जाता था। ब्राह्मणों को प्राण-दण्ड होने पर उसका मुण्डन करा देना ही प्राणदण्ड का सर्वोत्तम स्वरूप था। अपराधी का सिर मुड़ाकर, ललाट पर अंक लगाकर तथा गदहे पर चढ़ा बस्ती में चारों ओर घुमाकर निकाल-बाहर करना अनादर का सबसे बड़ा रूप माना जाता था।[58] यदि ब्राह्मण गवाही के लिए बुलाए जाने पर कुछ छुपाए तो उसे दण्ड में देश निकाला दे देने की व्यवस्था थी।[59] दिव्यावदान में वर्णित है कि स्वर्ण-हरण से बढ़कर और कोई स्तेय नहीं है। स्वर्ण-हरण करने वाला विप्र अब्राह्मण कहलाता है।[60] मनुस्मृति में विहित है कि ब्राह्मण अपने शूद्र-दास की सम्पत्ति को ले सकता है चूँकि सम्पत्ति रखने का उसे कोई अधिकार नहीं है।[61] इतिहासकार जायसवाल ने इस पर व्यवस्था की है कि उस समय बौद्ध-संघ काफी धनी हो गये थे अतः सम्भवत. उस अपार-धन पर ब्राह्मण-अधिकार को कानूनी-मान्यता दी गई थी।[62]

महत्ता

वैदिक-काल से ही ब्राह्मण समाज में सर्वोच्च-पदासीन रहे हैं। स्मृतिशास्त्रों में भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलती है। वास्तव में उन्हें यह सम्मान जन्म से ही प्राप्त था परन्तु बड़े होने पर वह अपने पुनीत आचरण द्वारा उस गरिमा को स्थिर रखते थे। यही कारण है कि 10 वर्ष का ब्राह्मण 100 वर्ष के क्षत्रिय से अधिक सम्मान-नीय कहा गया था। एक उक्ति है कि देवता तो परोक्ष-देवता है किन्तु ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता है। ब्राह्मणों की कृपा से देवता स्वर्ग में स्थित हैं। ब्राह्मणों द्वारा कहे वचन ब्रह्म-वचन होते हैं।[63] ब्राह्मण भगवान एवं मानव के बीच दोनों को जोड़ने की कड़ी है।[64] मानव-धर्मशास्त्र में तो ब्राह्मण-प्रशंसा में क्या-क्या नहीं कहा गया।[65] महाभारत में उन्हें अति उच्च-तेज एवं तप-पुंज कहा गया। ब्राह्मणों को प्रणाम करने के कारण ही

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूर्य स्वर्ग में विराजमान है।[66] ब्राह्मण का मात्र वर्णों में वरन् जीवमात्र मे सर्वोच्च-पदासीन थे।[67]

निश्चय ही कुषाण-कालीन ब्राह्मण-जीवन समाज के लिए आदर्श था। वह आत्म-चिन्तन, ज्ञान में निरत जीवमात्र का कल्याण सोचता था। अपनी तपश्चर्या एवं ज्ञान द्वारा वह समाज को लाभान्वित करना चाहता था। मनस्वी होने के कारण ब्राह्मण-जीवन अपने आदर्श तथा तप, चिन्तन द्वारा समाज को अन्धकार से प्रकाश में लाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहता था। यही कारण है कि ब्राह्मण को समाज में श्रेष्ठतम-पद प्राप्त हुआ है।[68] वास्तव में वह इस योग्य थे। यदि ब्राह्मण प्राप्त-सम्मान के योग्य न होते तो बौद्ध-काल में जबकि उनका विरोध किया गया था फिर भी विभिन्न महत्वपूर्ण-कार्यों के योग्य उन्हें क्यों माना गया। निःसन्देह तत्कालीन ब्राह्मण उच्च बौद्धिक-स्तर द्वारा समाज में पृथक् स्थान रखते थे।[69] ब्राह्मण-गौरव त्याग, तपस्या और तितिक्षा पर आधारित था।[70] अतः सादा-जीवन, उच्च-विचार, जितेन्द्रिय-वृत्ति, तपश्चर्या-युक्त जीवन-निर्वाह करने के कारण उनके व्यक्तित्व में पवित्रता, आध्यात्मिकता, तेजस्विता, दिव्यज्ञान के दिग्दर्शन होते थे। यदि उनमें अपार दैवीय-शक्ति न होती तो उनकी महत्ता सदियों तक अक्षुण्य न रह पाती और न ही भारतीय-संस्कृति समस्त-विश्व में गौरवान्वित हो पाती।

क्षत्रिय-वर्ण

सामाजिक परिवेश में वर्षों के क्रम में द्वितीय स्थान क्षत्रियों को प्राप्त हुआ था। इनकी उत्पत्ति त्रिष्टुप-छन्द से हुई मानी जाती है। द्विज होने के कारण क्षत्रिय वेदाध्याय के योग्य माने गये। अश्वघोष के अनुसार क्षत्रियों का वर्ण स्वर्ण के समान लालिमा युक्त, वक्षस्थल सिंह के समान विस्तृत तथा भुजाएँ लम्बी होती थीं।[71] यह लक्षण निश्चय ही उनके पराक्रम के परिचायक थे।[72] क्षत्रिय रजोगुणी होने के कारण रक्तवर्णी थे। तदनुरूप ही इनके कार्य थे।[73] ऋग्वेद में वर्णन आता है कि विराट्-पुरुष की भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुए। भुजाओं से भी संकेत मिलता है कि इनका सम्बन्ध शूरता-वीरता से रहा होगा। वैदिक-साहित्य में क्षत्रियों को प्रायः राजन्य शब्द से सम्बोधित किया गया जिसका अभिप्राय महान्, प्रमुख अथवा राजा से था। प्राचीन-काल में क्षत्रिय ही राजा हुआ करते थे। मनुस्मृति में वर्णित है कि इन्द्र, वरुण, वायु, यम, अग्नि, चन्द्रमा और कुबेर के सारभूत-अंश से रचित राजा की उत्पत्ति हुई। अतः देव शक्ति से रचित राजा तेज से सब जीवों को अभिभूत करता है। उसकी दैवी-उत्पत्ति के कारण तेजमय राजा को देखने में भय लगता है। वास्तव में क्षत्रियों की सृष्टि ही भगवान् ने बलवानों से निर्बलों की रक्षा-हेतु की थी।[74] तेजस्विता की मूर्ति राजा शत्रुओं को पददलित करता हुआ पृथ्वी को अद्भुत बल द्वारा प्रकाशित करता था।[75] इसी सन्दर्भ में मनु का कहना है कि दैवी-उत्पत्ति होने के कारण उसे अपमानित नहीं करना चाहिए अन्यथा रुष्ट-क्रुष्ट राजा समस्त सम्पत्ति सहित वंश का नाश करने की क्षमता रखता है।[76]

वैदिक-साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द के साथ 'क्षत्र' भी प्रयुक्त मिलता है जिसका तात्पर्य शक्ति से था। अर्थात जैसे ब्राह्मणों को जन्म से ही ब्रह्मज्ञानी माना जाता था उसी प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रिय को जन्म से ही पृथ्वी पालक माना गया।[77] समाज को उनसे आशा रहती थी कि वह निज-बाहुबल से मानवमात्र की रक्षा करता हुआ अपने धर्म का पालन करेगा। अतः यद्यपि जन्म से ही उनके रक्त में इस प्रकार की भावना का संचार रहता था और यदि न भी हो तो समाज की उनके प्रति आकांक्षाओं की पूर्ति एवं अपने धर्म-पालन-हेतु उन्हें अर्जित करना पड़ता था। मान्यता थी जिस प्रकार ब्राह्मण तप-बल द्वारा पृथ्वी का भार वहन करता है, उसी प्रकार क्षत्रिय भुजबल से। अतएव अपनी महत्ता एवं उपयोगिता के कारण यह दोनों वर्ण (ब्राह्मण व क्षत्रिय) एक दूसरे के पूरक माने गए। यदि ब्राह्मण राजा के स्वास्थ्य, योग-क्षेम एवं युद्ध में विजय हेतु पूजा-अर्चना करता था तो क्षत्रिय शक्ति द्वारा जीवन-पर्यन्त उसकी रक्षा करता था। राजा द्वारा रक्षित ब्राह्मण प्रतिदिन जिस धर्म को करता था उससे राजा की आयु, धन और राज्य की वृद्धि होती थी। मनु के अनुसार राजा को नित्य प्रातः ब्राह्मण के पास जाना चाहिए (नमस्कारादि करने)। इसके अतिरिक्त भी किसी महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने के पूर्व ब्राह्मण से परामर्श लेना चाहिए।[78] दोनों के परस्पर सहयोग से सफलता अवश्य मिलेगी। अर्थात् जब आध्यात्मिक एवं शारीरिक शक्तियाँ मिलकर किसी कार्य को करेंगी तो वह निश्चित रूप से पूर्ण होगा प्रायः ऐसी धारणा थी। एक इतिहासकार के अनुसार कुषाण-काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दो प्रशासनिक-श्रेणी थीं जिनके मध्य आध्यात्मिक व सांसारिक प्रभुत्व विभक्त था।[79]

वर्णों की अक्षुण्णता बनाए रखना क्षत्रिय का परम-धर्म था। मनुस्मृति में उल्लिखित है जब तक साम्राज्य में वर्णों की पवित्रता स्थापित है तभी तक साम्राज्य उन्नत एवं समृद्धिशाली रह सकता है अन्यथा वह निवासियों सहित नष्ट हो जाएगा। साहित्यिक-ग्रन्थों में क्षत्रियों के करणीय-कार्य इस प्रकार वर्णित हैं—अध्ययन, यजन, दान देना, प्राणियों की रक्षा करना, सैनिक-वृत्ति एवं विषयों की ओर से निवृत्ति (तटस्थ)[80] इनमें प्रथम तीन कर्त्तव्य तो द्विजमात्र अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए आवश्यक कहे गए हैं शेष अन्य क्षत्रिय के विशेषाधिकार थे। गीता द्वारा भी इसका समर्थन हो जाता है।[81] द्विज यदि निर्धारित-नियमों को त्यागकर नीच-कर्म करता था तो शूद्र-जाति में गिना जाता था।[82] एवं उसके वंशजों की भी पदावनति हो जाती थी। क्षत्रिय की अध्ययन-काल में ही अस्त्र-शस्त्र विद्या आरम्भ हो जाती थी ताकि युवक होकर वह उच्च प्रशासनिक पदों के योग्य हो सके।[83] इस प्रकार आरम्भ से ही उसमें पुरुषार्थ का भास होने लगता था तथा यही उसके जीवन का परम-लक्ष्य एवं प्रमुख-व्यवसाय भी था। यद्यपि आपात्काल में क्षत्रिय ब्राह्मण-वृत्ति भी कर सकता था पर पुनः परिस्थिति सामान्य होते ही उसे अपने निर्दिष्ट व्यवसाय पर लौट आना आवश्यक था।[84] उल्लेख है कि क्षत्रिय को जीविका-साधन न मिलने पर वैश्य-वृत्ति कर लेनी चाहिए। परन्तु ब्राह्मण की श्रेष्ठवृत्ति अध्यापन, यज्ञ, दान आदि कदापि नहीं करना चाहिए। मनु के विचार से क्षत्रिय को किसी भी परिपस्थिति में कृषि-कार्य तो नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे जीव-पीड़ा होती है एवं यह व्यवसाय, मजदूर, पशु आदि पर आधारित होने के कारण पराधीन है।[85] इसी प्रकार यदि वर्णाश्रम-धर्म पर कोई आपत्ति आए तो सभी वर्णों का परम कर्त्तव्य शस्त्र धारण करके उसकी रक्षा करना था। मनु ने ब्राह्मण, स्त्री व धर्म की रक्षा हेतु क्षत्रिय के विशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार्य निर्धारित किए थे। प्रजा एवं आर्त्त की रक्षा करना ही क्षत्रिय का तप था।[86] शत्रु विजय क्षत्रिय का परम-धर्म माना जाता था। युद्ध से डरकर न भागना, प्रजा का पालन करना, और ब्राह्मणों की सेवा करना राजाओं का अत्यन्त कल्याणकारी धर्म था। सौन्दर-नन्द में विहित है कि राजा को शरणागत एवं अस्त्रविहीन शत्रु को नहीं मारना चाहिए।[87] क्षत्रियों को युद्ध से कतिपय लाभ भी थे। इन्हें उनके विशेषाधिकार मारना अनुचित न होगा। इनमें युद्ध के दौरान शत्रुपक्ष की कन्याओं को उठा लाकर विवाह करना एवं दूसरा स्वयंवर प्रकार द्वारा विवाह करने की परम्परा थी।[88] यद्यपि मुख्य रूप से तो अध्यापन-कार्य ब्राह्मणों का निर्धारित व्यवसाय था। मनु का निर्देश था कि अध्यापन-कार्य ब्राह्मण को ही करना चाहिए क्षत्रिय व वैश्य को नहीं।[89] परन्तु कुछ उदाहरणों में क्षत्रियों द्वारा भी ब्राह्मणों को वेदपाठ दिए जाने का वर्णन है। पर इसे अपवाद-स्वरूप ही ग्रहण करना समीचीन प्रतीत होता है।

क्षत्रियों के लिए कतिपय बातें निषिद्ध थी जैसे—

(क) क्षत्रिय ब्राह्मण घर में अतिथि नहीं माना जाता था पर चूँकि वह अतिथि रूप में आया है अतः ब्राह्मण भोजन के उपरान्त उसे भी भोजन कराना उपयुक्त था।

(ख) मनु का विश्वास था कि मरणासन्न राजा भी वेदपाठी ब्राह्मण से कर न ले एवं इसके देश मे रहता हुआ ब्राह्मण भूख से पीड़ित न हो।[90]

(ग) राजा महाप्रतापी भी ब्राह्मण की हत्या न करावे। उसके लिए अधिकतम दण्ड सिर मुड़ाकर देश निकाला देना था।[91]

(घ) क्षत्रियों को निर्दिष्ट-संस्कारों का पालन आवश्यक था। अन्यथा संस्कार विहीन क्षत्रिय व्रत्य, कम्बोज, शक, यवन, पह्लव, चीनी, खस आदि हो जाते थे।[92]

(ङ) राजा उच्च-जाति का होना चाहिए। बौद्ध-साहित्य में निम्न जाति एवं नीच-कुलोत्पन्न राजा की अयोग्यता मानी गई थी। मनु ने भी इसी बात का समर्थन किया था कि राजा वंशक्रमानुगत, शस्त्र-वेत्ता, पराक्रमी, शस्त्र-विद्या में निपुण, उत्तम-कुलोत्पन्न एवं परीक्षित सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे।[93]

(च) मनुस्मृति के प्रसंगानुसार मृत-ब्राह्मण के सपिण्ड सम्बन्धी न होने पर भी राजा उसके धन को न ले। यद्यपि ब्राह्मण ऐसी ही परिस्थिति में क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र सम्पत्ति को ले सकता है।[94]

दण्ड की महत्ता पर बल देते हुए मनुस्मृति में लिखा है कि वास्तव में राजा द्वारा कर्त्तव्य-पालन हेतु दण्ड अस्त्र का काम करता है एवं इसी दण्डके आधार पर राजा प्रजा की रक्षा सुचारु रूप से करता हुआ धर्म का भी पालन कर सकता है अन्यथा नहीं।[95] ब्राह्मण द्वारा अनिच्छापूर्वक क्षत्रिय-वध करने पर दण्ड स्वरूप विधि-विधान से व्रत तथा एक बैल के साथ सहस्र गायों को ब्राह्मण-दान में देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रायश्चित था संयमी एवं जटाधारी रूप में गाँव से दूर पेड़ के नीचे तीन वर्ष तक रहकर ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्ति। क्षत्रिय-वध करने पर ब्रह्म-हत्या का 1/4 भाग पाप मिलता था।[96]

'दान' प्राचीन-भारत की स्मरणातीत संस्था थी जिसमें दाता को इहलोक एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परलोक में पुण्य प्राप्त होता था। दाता दान देकर किसी पर एहसान नहीं करता था वरन् जन्म धारण करके जो वह भगवान् का ऋणी था उससे मुक्ति पाने का साधन मात्र था। क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण को दिये दान (ब्राह्मण-दान) को न चोर चुराते हैं न शत्रु छीनते हैं और न ही वह नष्ट होता है। विहित है कि क्षत्रिय द्वारा दिये अग्नि-होम की अपेक्षा ब्राह्मण-दान श्रेष्ठ है एवं अनन्त फलदायक है।[97] सौन्दरनन्द के वर्णन के अनुसार राजा को याचकों को दान देना चाहिए।[98]

यद्यपि उपरोक्त विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्त धर्मशास्त्रों में उद्धृत किये गये थे पर क्या समाज में इनका अक्षरशः पालन होता था अथवा व्यावहारिक-स्वरूप कुछ भिन्न था कहना कठिन है। वास्तव में कुषाण-कालीन शासकों द्वारा बौद्ध-धर्म को विशेष-प्रश्रय दिया गया था। क्योंकि बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव ही वैदिक-कालीन धर्म में वर्णों का विषम रूप धारण करने के पश्चात् हुआ था जिसमें शूद्रों के प्रति उनका व्यवहार कठोर था। अतः यह शूद्रों के हृदय का करुण-क्रन्दन ही था जिसने वैदिक-काल से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था-वर्ण व्यवस्था को झकझोर दिया। फलस्वरूप समाज में वर्णों की एकता का आह्वान किया गया तथा वर्ण एवं वर्ग विहीन समाज की कल्पना को साकार किया गया।[99] और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष विषयों में सभी को समान-योग्य घोषित किया गया।[100] समस्त बौद्ध-साहित्य में मानव-जाति का एक ही वर्ण 'मनुष्य-वर्ण' उल्लिखित है। वर्णित है जातियां तो पशु-पक्षी और वृक्षों में होती हैं पर चतुर्वर्णों में कोई जाति नहीं है।[101] अश्व-घोष ने इस सन्दर्भ में कहा था कि उच्च-जातिवालों के निमित्त नीची-जाति के लोगों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं करना चाहिए।[102] चूँकि ब्राह्मणों के अत्या-चारों के विरुद्ध ही बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई थी अतः बौद्ध एवं जैन साहित्य में ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों का महत्व प्रतिपादित हुआ।[103] इस विचारधारा को महाभारत द्वारा भी पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। वास्तव में बुद्ध-काल में जन्म के स्थान पर कर्म के सिद्धान्त का अनुमोदन किया गया था। जन्म से कोई ब्राह्मण अथवा वृषल नहीं है यह तो उसके कर्म हैं जो उसे ब्राह्मण अथवा वृषल बनाते हैं। अतः बुद्ध-संस्कृति मानव-जाति की एकता का समर्थन कर रही थी पर उसकी भाषा-शैली से ब्राह्मण-विद्वेष-विडम्बना स्पष्ट परिलक्षित थी।[104] हालांकि ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृति दोनों के मूलार्थ एक ही थे जो कर्म एवं आचार पर आधारित थे।[105] चूंकि सम्पूर्ण देश का शासन-प्रबन्ध क्षत्रियों द्वारा सम्पादित होता था अतः उनको ही एकमात्र सर्वशक्तिमान् शक्ति माना गया।

निश्चय ही तत्कालीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था में क्षत्रियों का अपना अलग महत्व था। वैदिक-कालीन शूद्र-वर्ण एवं बौद्ध-कालीन ब्राह्मण-वर्ण के समान इस वर्ण की किसी भी काल में उपेक्षा नहीं की गई। साथ ही जहाँ ब्राह्मणों में खान-पान सम्बन्धी विभिन्न प्रतिबन्ध थे क्षत्रिय पूर्ण-स्वतन्त्र थे। वह मांस-मदिरा आदि सभी अभीष्ट-वस्तुओं का सेवन कर सकते थे। हालांकि मनु ने सुरा को अन्नों का मल कहा था और पापों का भी मल कहा जाता था इस कारण क्षत्रिय को सुरा-पान निषिद्ध था। क्षत्रिय शूद्रों की भाँति धार्मिक-कृत्यों से बहिष्कृत भी नहीं थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों द्वारा सम्मान प्राप्त थे। क्योंकि सदैव से ही ब्राह्मणों का सम्बन्ध अच्छे-अच्छे राजघरानों से रहा, जहाँ एक तरफ तो उन्हें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज-पुरोहिती में आर्थिक-प्राप्ति होती रही दूसरा अत्यधिक सम्मान भी मिलता था। अतः ब्राह्मण उनके अद्भुत पराक्रम से प्रभावित रहे। इस प्रकार दोनों ही वर्ण एक दूसरे के अभिन्न-अंग कहे जा सकते हैं। रामायण में विश्वामित्र जी के यज्ञ में राक्षसों द्वारा विघ्न उपस्थित करने पर (क्षत्रिय) राम-लक्ष्मण की आवश्यकता पड़ी तथा उन्होंने जाकर धर्म-कार्य को सम्पन्न कराया। अतः अपनी उपयोगिता के कारण ही क्षत्रियों का समाज में शाश्वत महत्व रहा है। इतिहासकार डेविड के अनुसार इस निरन्तरता के आधार पर तो क्षत्रियों को ब्राह्मणों से उच्च माना जा सकता है।[106] क्षत्रिय-वर्ण की प्रशंसा में मनु ने लिखा है कि धनादि के विषय में शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, अच्छे सहायकों वाला, बुद्धिमान राजा दण्ड का प्रयोग करता हुआ जल में घी की बूंद की भाँति यशस्वी होता है।[107]

वैश्य-वर्ण

कुषाण-कालीन वर्ण-व्यवस्था के क्रम में तृतीय स्थान वैश्य-वर्ण को मिला। तत्कालीन समाज में वैश्य-वर्ण ने पूर्व-काल की अपेक्षा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। वैश्य शब्द केवल ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में आया है परन्तु 'विश' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। 'विश' का अभिप्राय जनदल से था। वैश्य-वर्ण की व्युत्पत्ति परमपुरुष की उरु से हुई मानी जाती है। ब्राह्मण-साहित्य में इनकी उत्पत्ति 'जागती-छन्द' से हुई उल्लिखित है।

स्मृति-ग्रन्थों में वैश्य-वर्ण के कार्य निम्नप्रकार से वर्णित हैं—अध्ययन करना, यजन, दान देना, व्यापार पशुपालन एवं कृषि।[108] इनमें प्रथम तीन तो द्विजमात्र के आवश्यक कर्त्तव्य थे। तथा अन्तिम तीन वैश्य-वर्ण के जीविकोपार्जन-हेतु व्यवसाय सम्बन्धित विशेषाधिकार थे। गीता में विहित है कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्मस्वभावजम्।[109] मनु ने व्यापार, पशुपालन एवं कृषि-कर्म को वैश्य का तप स्वीकार किया है।[110] यद्यपि अध्ययन, यजन व दान देने में वैश्यों को ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के समान अधिकारी माना गया था। परन्तु वास्तव में वैश्यों की सामाजिक-स्थिति इन वर्णों की तुलना में निम्न थी।[111] व्यापार को उनका सारभूत-तत्व माना गया था। मनुस्मृति में उल्लेख आया है कि वस्तुओं एवं देशों के गुण-दोष, विक्रय की वस्तुओं के लाभ-हानि और पशुओं को बढ़ाने आदि की विषद जानकारी, इसी प्रकार नौकरों की परिश्रम के आधार पर आय, विभिन्न देशों की भाषा, वस्तुओं के योग्य-स्थान एवं उसमें उचित मिलावट, क्रय-विक्रय की जानकारी आदि विषयों का ज्ञान वैश्य को होना आवश्यक है। इसी में वर्णित है कि बीज बोने सम्बन्धी समस्त ज्ञान, खेतों के गुण-दोष, तौल-विषयक समस्त जानकारी वैश्य को होनी चाहिए।[112] पशु-पालन एवं कृषि से वस्तु-विनिमय द्वारा धन आता था। मूलतः वैश्यों ने कृषक-समाज का संगठन किया था। और इस साधारण प्रकृति के कार्य करने के कारण वह मजदूर की श्रेणी में आए। निःसन्देह तत्कालीन वैश्य कृषक-वर्ग ने आशातीत उन्नति की। परिणामस्वरूप कतिपय तो साधरण कृषक से रईस जमींदार हो गए थे। दिव्यावदान में वर्णित है कि समयानुसार विविध कर्मों को करने के कारण वैश्य नाम दिया गया था। जो

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैश्य वाणिज्य-कर्म द्वारा जीविका चलाता था 'वणिक्' कहलाया।[113] अनेक प्रकार के वाणिज्य-कर्म करने के अनुरूप इन्हें काष्ठ-वाणिज्य, तृण-वाणिज्य, स्तम्भ-वाणिज्य, शर्कर-वाणिज्य, फल-वाणिज्य, तथा मूल-वाणिज्य कहा गया।[114] वैश्यों को गृहपति, वणिक् व महाशाल भी कहा जाता था। इसके अतिरिक्त वैश्य-वर्ण ने बहुमूल्य-पत्थरों एवं धातुओं, मसालों, सुगन्ध आदि में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार उन्होंने अनेक लाभ-कारी तथा सम्मान-जनक व्यवसाय किये। मनु के विचार से मणि, मोती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, गन्ध और रस के मूल्य के उतार-चढ़ाव की जानकारी वैश्य के लिए आवश्यक है। और भी वैश्य को व्यापार, पशु-पालन एवं खेती द्वारा अधिकाधिक धन-अर्जन कर उसे जन-साधारण को अन्न प्रदान करना चाहिए। वैश्य-वृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह न होने पर वैश्य को द्विज सेवादि शूद्र-वृत्ति अपना लेना एवं पुनः आपात्काल के पश्चात् वैश्य-वृत्ति पर लौट आना उचित था।[115] आपात्काल के अलावा यदि कोई लोभवश उच्च-जाति की वृत्ति करे तो उसे राजा द्वारा निर्धन कर राज्य से बहिष्कृत कर देने का आदेश था। आगे के प्रसंग में मनु ने लिखा है कि अपना ही धर्म श्रेष्ठ है दूसरे की वृति अपनाने वाले जाति-भ्रष्ट हो जाते हैं।[116] ऐसा ही प्रतीत होता है कि इस काल में वैश्य व शूद्र वर्ण एक दूसरे के अति निकट आ गए थे तथा पूर्वकाल के समान दोनों वर्णों के मध्य का अन्तराल कम होता जा रहा था। मिलिन्द-पन्हों के वर्णन से उक्त कथन को बल मिलता है जिसमें कृषि, व्यापार और पशुपालन कार्य एक साथ वैश्य व शूद्रों के लिए वर्णित हुए हैं।[117]

कुषाण-काल में बौद्ध-धर्म के प्रचलन के फलस्वरूप अनेक सामाजिक-परिवर्तन हुए जिसमें वैश्यों का पर्याप्त हित हुआ तथा वैश्यों को प्रशासनिक शक्ति ब्राह्मण व क्षत्रियों की दृष्टि में उच्च-स्थान मिला। इनकी गणना निम्न-वर्ग के स्थान पर मध्मवर्ग में होने लगी थी। उन्हें अध्ययन, यजन व दान देने आदि श्रेष्ठ-कार्यों में दोनों उच्च वर्णों के समान-योग्य समझा गया। यही नहीं वैश्य जन उच्च-पदों पर नियुक्त किए गए। राजा राजकीय मामलों में वैश्यों से परामर्श लेने लगा था। सम्भवतः उक्त परिवर्तन मात्र अमीर-वैश्यों तक ही सीमित रहे होंगे चूंकि शेष वैश्यों से परम्परागत निर्धारित कार्यों की आशा की जाती थी। कर भी वैश्यों से अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक लिए जाते थे। पुरोहित-वर्ग के भरण-पोषण का भार कदाचित् उन्हीं पर था। अपने परिवार के अलावा समाज के एक बड़े वर्ग (पुरोहित-वर्ग) को आर्थिक सहायता पहुंचाने के कारण उनकी उपयोगिता, उच्च-वर्णों द्वारा महसूस की गई तथा पूर्व शताब्दियों की अपेक्षा उन्हें अधिक आदर-सत्कार प्राप्त हुआ।

वैश्यों की आर्थिक-स्थिति तत्कालीन व्यावसायिक-संगठनों एवं विदेशों से व्यापार आदि द्वारा विदित होती है। कुषाण-काल में व्यावसायिक संगठन पर्याप्त व्यवस्थित तथा धनी थे।[118] याज्ञवल्क्य ने व्यावसायिक-संगठनों में श्रेणी, नैगम, पूग, व्रात, गण नाम गिनाए हैं। इसमें वर्णित है कि अपने आचार-व्यवहार से च्युत् कुलों जातियों, श्रेणियों एवं गणों को दण्डित किया जाना चाहिए।[119] इतिहासकार अपने-अपने विवेक द्वारा इन संघों को विभिन्न जातियों एवं व्यवसायों से सम्बन्धित करके उनकी महत्ता स्पष्ट करते हैं। मथुरा के हुविष्क के अभिलेख में आटा-व्यापारी-संघ (समितकर) का उल्लेख मिलता है जिसके पास एक प्रमुख ने निश्चित धन-राशि जमा की थी ताकि प्राप्त-ब्याज से सौ ब्राह्मणों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को प्रतिदिन भोजन कराया जा सके।[120] स्पष्ट है ये संघ जमा धनराशि से उपकरण एवं कच्चा माल लाकर सामग्री उत्पादित करते तथा उसे बेचकर ब्याज अदा करते थे।[121] मनु का निर्देश था कि जिस व्यक्ति के पास धन जमा किया जाए वह आर्य होना चाहिए।[122] सम्भवतः व्यावहारिक रूप में यह मान्य नहीं था। रोम आदि देशों से उन्नत-व्यापार का स्पष्टीकरण तत्कालीन प्रचलित अपार स्वर्ण-मुद्राओं से होता है। अतः सिद्ध है कि वैश्यों की आर्थिक-स्थिति पर्याप्त सन्तोषजनक थी।

वैश्यकर के रूप में अन्न का आठवाँ भाग निर्धारित किया था। यह आपत्कालीन परिस्थिति के लिए अतिरिक्त कर था। इसके पूर्व भी मनु ने विपत्ति काल के निवारण हेतु वैश्यों से अनुदान रूप में धन को उपयुक्त माना था।[123] ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य कठोर शासनोपरान्त जब विदेशी आए एवं बौद्ध-धर्म का प्रचलन हुआ, अवसर का लाभ उठाकर वैश्य एवं शूद्र जातियों ने स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यहीं नहीं आर्थिक रूप से पूर्ण स्वच्छन्द-निम्न-जाति उच्च-जाति के लिए समस्या बन गई थी। अतः मनु को परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के परिवर्तन होने से सामाजिक-व्यवस्था के डावाँडोल होने की आशंका हुई।[124] तभी उसने राजा द्वारा वैश्य को निर्दिष्ट किया कि रुपये का लेन-देन, खेती तथा पशुपालन आदि कार्यों को दत्त-चित्त होकर सम्पन्न करे। निश्चय ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वैश्य व शूद्र वर्ण समाज से विद्रोही- प्रवृति अपना कर मर्यादा का उल्लंघन कर रहे होंगे। अतः सामाजिक-संतुलन स्थिर रखने हेतु मनु ने राजा को आदेश पारित किया था कि वह चतुरतापूर्वक वैश्यों एवं शूद्रों को उनके नियत-कार्य करने को बाध्य करे।[125] क्योंकि यदि यह अपने कर्तव्यों की अवेहलना करते तो सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

उल्लेखनीय है कि कुषाण-कालीन शिल्पियों ने अत्यधिक-उन्नति की थी। वैसे तो शिल्प-कार्य वैश्य-वर्ण का व्यवसाय था परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव एवं विदेशियों के शासन के फलस्वरूप अनेक विषयों में वैश्य व शूद्र वर्ण के मध्य का वर्ण-विभेद समाप्त सा हो गया था। यही कारण है कि मनुस्मृति में जहाँ ब्राह्मण-वर्ण में सत्वगुण, क्षत्रिय में रजोगुण एवं शूद्र व म्लेच्छों में तमोगुण की कल्पना की है।[126] वैश्य-वर्ण का नाम तक नहीं दिया। अतः स्पष्ट है कि वैश्य शूद्र-समुदाय में (विलुप्त) हो रहे थे। यद्यपि मनु का आदेश था कि जब शूद्र उच्च-वर्णों की सेवा द्वारा जीविका न चला सके केवल तभी उसे शिल्प-व्यवसाय अपनाना चाहिए।[127] परन्तु शायद ही इस नियम का पालन होता था। चूंकि हमें शिल्पकारों की एक बड़ी संख्या का उल्लेख मिलता है जिससे यह भी संकेत मिलता है कि पूर्वकाल की तुलना में शिल्पी अधिक सुखी-सम्पन्न थे। इस बात की पुष्टि तत्कालीन बढ़ई, लोहार, गन्धिक, जुलाहा, सुनार और चर्म-व्यवसायियों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को उपहार-स्वरूप भेंट की गई अनेक गुफाओं, स्तम्भों, पट्टों, ताबूतों आदि से होती है।[128] यद्यपि दान-पत्रों में जुलाहों का जिक्र अधिक नहीं हुआ फिर भी मनुस्मृति से ज्ञात है कि शिल्पियों के रूप में उनका स्थान कम महत्वपूर्ण न था।[129] मथुरा एवं अन्य समीपवर्ती क्षेत्रों में वस्त्रों के व्यापार द्वारा इन्हें अच्छी प्राप्ति होती थी।[130] अभिलेखीय-साक्ष्यों द्वारा रंगसाजों, धातु और हाथी दाँत के काम करने वालों, जौहरियों, मूर्तिकारों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और महुओं की भी जानकारी मिलती है।[131] सुगन्धि-निर्माताओं और स्वर्णकारों को इनके स्थानों पर उदार-उपासक कहा गया था। अतः अनुमान है कि इन शिल्पियों ने काफी समृद्धता प्राप्त कर ली थी। यह शिल्पी अधिकांश मथुरा से पश्चिम-दक्षिण क्षेत्र में विस्तृत थे जिन्हें रोम से हो रहे व्यापार द्वारा लाभ का अच्छा अवसर उपलब्ध था।[132]

प्राप्त अभिलेखों द्वारा मौर्य-काल की अपेक्षा शिल्पियों की संख्या-वृद्धि का आभास मिलता है। प्रायः राजा ही शिल्पियों की नियुक्ति करता था। सम्भवतः शिल्पियों की संख्या-वृद्धि के कारण राजा का नियन्त्रण उतना प्रबल न रह पाया हो। महावस्तु से हमें सर्वप्रथम 11 प्रकार के शिल्पियों की जानकारी मिलती है। इनके नाम हैं—मालाकार, कुम्भकार, बढ़ई, धोबी, रंगरेज, पात्र-निर्माता, स्वर्णकार, जौहरी, शंख-सीपी निर्माता, आयुधिक और रसोइया। ये सभी अपने प्रमुखों के अधीन थे।[133] इस ग्रन्थ में आगे राजगृह के 18 श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इस सूची में स्वर्णकार, गन्धी, जौहरी, तेली, आटा पीसने वाला, फल, कन्द, आटा और चीनी के विक्रेता आदि भी हैं।[137] सम्भवतः उस समय 24 शिल्पियों के संघ स्थित थे। महावस्तु के ही एक अन्य विवरण में कामगारों की संख्या 36 दी गई है साथ ही लिखा है कि इसके अतिरिक्त भी कामगार थे। मिलिन्द-पन्हों में शिल्पियों के लगभग 75 व्यवसाय वर्णित हैं।[135] इसी प्रकार एक जैन-ग्रन्थ में 18 प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख हुआ है।[136] इनमें बुनकरों, दर्जियों तथा रेशम बुनकरों को भी आर्य-शिल्पी बताया गया है। स्पष्ट है शिल्प को जैनी हीन-कर्म नहीं मानते थे। मिलिन्द-पन्हों में 8 प्रकार के धातुकर्म-सम्बन्धी शिल्पों की गणना होती है।[137] तथा विकास-सम्बन्धी सामग्रियों के निर्माण की जानकारी भी मिलती है।[138] महावस्तु में प्राप्त सर्वाधिक 88 प्रकार के व्यवसायों के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस काल में शिल्पियों ने विविध कार्य-क्षेत्रों में आश्चर्य जनक प्रगति की थी।[139]

दण्ड विधान में मनु ने ब्राह्मण को पृथक् करके शेष तीन वर्णों को लगभग समान दण्ड का पात्र घोषित किया था। उनके अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी वर्णो को दण्ड दिया जाना चाहिए। यद्यपि एक उक्ति में मनु ने विहित किया है कि नारी, शूद्र, वैश्य व क्षत्रिय का वध करना साधारण अपराध है। इसके लिए अपराधी को मात्र जाति-च्युत करना ही दण्ड है। संभवतः इस वर्णन से मनु का उद्देश्य ब्राह्मणों की जीवन-रक्षा के प्रति विशेष ध्यान रखना रहा हो। एक अन्य हत्या के सम्बन्ध में नियम निर्धारित करते हुए मनु संभवतः वर्ण-विभेद विषय को भूल गए। उसने उदारतापूर्ण नियम पारित किया कि यदि सत्य बोलने से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-जन की हत्या होती है तो उस समय असत्य बोलना ही धर्म है। पश्चात् सरस्वती से उस अपराध के प्रायश्चित हेतु चरु अर्पित करके क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए। मनु का आदेश था सदाचारी-वैश्य का वध ब्राह्मण करे तो उसे उस ब्रह्म-हत्या के पाप के प्रायश्चित-स्वरूप संयमी एवं जटाधारी हो गाँव से दूर पेड़ के नीचे तीन वर्ष तक निवास करना एवं एक बैल के साथ सौ गाँव ब्राह्मण को दान देने चाहिए।[140] अतः स्पष्ट है कि मनु को वैश्य-वर्ण की सुरक्षा का भी पूरा ख्याल था। वैश्य के मुकदमे में गवाह के रूप में वैश्य गवाह की ही अनुमति थी। इसी प्रकार अन्य वर्णों के साथ नियम लागू था। एक स्थान पर मनु ने गृहस्थ पुत्र वाले, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जाति

 . Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वालों को साक्षी स्वीकार किया है। न्यायाधीश द्वारा सभी वर्णों को पृथक्-पृथक् शपथ दिलाई जाती थी। वैश्य को गाय, अन्न और स्वर्ण की शपथ लेनी पड़ती थी।[141] वैश्य द्वारा ब्राह्मण की मानहानि किए जाने पर 150 अथवा 200 पण देना पड़ता था। यह क्षत्रिय एवं ब्राह्मण के लिए निर्धारित-राशि से कम था। किसी द्विज के विरुद्ध अपशब्द कहे जाने पर मनु ने जीभ काटने आदि-आदि कठोर नियम बनाए थे। संभवतः यहाँ द्विज का प्रयोग दो उच्च-वर्णों के लिए हुआ होगा चूंकि तत्कालीन शूद्र, वैश्य-वर्ण में इतने अधिक मिल चुके थे कि शूद्रों द्वारा वैश्यों को कहे दुर्वचन पर कठोर दण्ड की आशा नहीं की जाती होगी। मनुस्मृति में विहित है कि ब्राह्मण कर्त्तव्य-विमुख व्यक्ति की सम्पत्ति ले सकता है।[142] इस सन्दर्भ में इतिहासकार ने मत व्यक्त किए हैं कि कर्तव्य की अवहेलना करने वाले क्षत्रिय एवं वैश्य की सम्पत्ति अधिकृत कर ली जाती होगी।[143] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनु का उद्देश्य वैश्यों को कठोर शारीरिक-दण्ड न देकर उन्हें आर्थिक-दण्ड देना था चूंकि वह आर्थिक-दृष्टि से पर्याप्त-सम्पन्न थे। इसमें मनु की व्यवहार-कुशलता भी स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में वैश्यों से कर रूप में अधिक धन एवं दण्ड-स्वरूप भी आर्थिक-दण्ड लेने से मनु का तात्पर्य वैश्यों की अधिकाधिक-सम्पत्ति किसी न किसी प्रकार से अधिकृत करना था।

उपरोक्त विविध सन्दर्भों में वैश्यों की विवेचना के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि कुषाण-कालीन वैश्य-वर्ण ने अपने सर्वोन्मुखी-विकास द्वारा जहाँ एक ओर अध्ययन, यजन व दान आदि कार्यों में ब्राह्मण व क्षत्रिय के समान अधिकार प्राप्त किए, दूसरी ओर तत्कालीन बौद्ध व जैन-धर्म के प्रभाव से उत्पन्न वातावरण से सामञ्जस्य करते हुए शूद्रों के साथ व्यवसायों की भी अद्भुत उन्नति की। मात्र उनकी व्यावसायिक उन्नति के कारण समाज के उच्च-वर्णों ने उनके महत्व को स्वीकार किया। शूद्रों के पूर्ण सहयोग तथा धन-वैभव के बल पर तत्कालीन वैश्यों ने अपार-गौरव प्राप्त किया था।

शूद्र-वर्ण

साहित्य-ग्रन्थों में कुषाण-कालीन शूद्र-वर्ण की सामाजिक-व्यवस्था का विस्तृत विवरण है जिसमें उनका स्वरूप, कर्त्तव्य, विशेषाधिकार, उपयोगिता आदि का विवेचन हुआ है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के पश्चात् शूद्र आते थे। अतएव शूद्र वर्ण-क्रम में निम्नतम-वर्ण था। मनुस्मृति में शूद्रोत्पत्ति विराट्-पुरुष के पैरों से हुई मानी जाती है।[144] शरीर में पैरों के समान ही वर्णों में शूद्र-वर्ण की गणना होती थी परन्तु जैसे बिना पैरों के मनुष्य चल नहीं सकता उसी प्रकार शूद्र-वर्ण के बिना समाज रूपी शरीर अविचल ही रह जाता। यही कारण है कि शूद्र वर्ण निम्न वर्ण होने पर भी अपनी उपादेयता के कारण आवश्यक माना गया था।

कर्तव्य

गीता में सेवा करना शूद्रों का स्वभाव वर्णित है।[145] शूद्र-वर्ण का प्रधानतम-कर्म उच्च वर्ण की सेवा करना था। मनुस्मृति में शूद्र का परम-धर्म वेदज्ञाता ब्राह्मण एवं सद्-गृहस्थों की सेवा करना विहित है। शूद्र के जीवन का लक्ष्य अभिनन्दन-भाव से ब्राह्मण

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को सेवा द्वारा जीवन-पर्यन्त प्रसन्न रखना था। यद्यपि शूद्र के लिए द्विजमात्र पूजनीय था परन्तु ब्राह्मण-सेवा सर्वश्रेष्ठ मानी गई।[146] तत्पश्चात् क्षत्रिय एवं अन्त में वैश्य-वर्ण को भी प्रधानता दी गई थी।[147] इतिहासकारों ने 'अपि' शब्द की व्याख्या में लिखा है कि तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था में वैश्य व शूद्र अतिनिकट आ चुके थे परिणामतः वैश्यशूद्र की सेवा का पात्र नहीं रह गया था। अतः मनु को वैश्य-सेवा के आगे 'अपि' शब्द प्रयुक्त करना पड़ा।[148] राजा का कर्तव्य शूद्रों को द्विज-सेवा में नियुक्त रखना था। संभवतः यहाँ द्विज का तात्पर्य ब्राह्मण व क्षत्रिय से था। शूद्रों के जीवन-निर्वाह के संबंध में मनु ने ब्राह्मण को आदेश पारित किया था कि वह शूद्रों के सेवा-भाव, शक्ति और जिम्मेदारी आदि को सम्यक् प्रकार से विचार कर तदनुरुप ही वृत्ति निश्चित करे। इसी में आगे वर्णित है कि ब्राह्मण शूद्र को अपना जूठा-अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नों के पुआल तथा पुराने-खाट, पात्र आदि दे। यह संभवतः उन शूद्रों के लिए विहित होगा जो दास रूप में उनकी सेवा करते थे। मनु ने परामर्श दी थी कि द्विज से प्राप्त अल्प-वृत्ति द्वारा स्त्री-पुत्रादि के असन्तुष्ट होने पर शूद्रों को जीविका-निर्वाह हेतु सूप आदि के निर्माण का कार्य कर लेना चाहिए।[149] इस विषय में शान्ति-पर्व द्वारा भी प्रकाश पड़ता है कि जीवन रक्षा हेतु शूद्र को वाणिज्य, पशु-पालन एवं शिल्प-व्यवसाय अपना लेने चाहिए।[150] याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लेख मिलता है कि शूद्र आपत्ति में क्षत्रिय एवं वैश्य वृत्ति कर सकता था।[151] मनु ने शूद्रों द्वारा कर्तव्य-पालन पर बल देते हुए कहा था कि जो शूद्र निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य निभाएगा वह अगले जन्म में उच्च-वर्ण को प्राप्त करेगा। इसके विपरीत आचरण करने पर अगले जन्म में चैलाशक-योनी में उत्पन्न होगा।[152]

मनुस्मृति में विहित है कि ब्राह्मण चतुरता-पूर्वक वैश्य व शूद्रों को निर्धारित कार्यों में नियुक्त रखे।[153] संभवतः यह घोषणा मनु को तत्कालीन निम्न-वर्ण (वैश्य व शूद्र) द्वारा सामाजिक-आर्थिक-विप्लव की स्थिति उत्पन्न करने के कारण करनी पड़ी थी।[154] वास्तव में जैसा कि सर्वविदित है कि नन्द-वंश (शूद्र) का अन्त करके ही मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की गई थी तथा मौर्य-शासनोपरान्त वैश्य व शूद्र जाति तत्कालीन परिस्थिति से सामन्जस्य न कर पाने के कारण व्याकुल हो उठी थी। संभवतः इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होंने मोर्योत्तर-काल में विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया हो। निःसन्देह समकालीन परिस्थितियों ने भी उनका साथ दिया। एक तो अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म को समर्थन दिये जाने जिसमें जाति-विभेद को कोई स्थान नहीं दिया गया था दूसरा विदेशी-शासकों के बड़ी संख्या में आगमन एवं सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था के अभाव में निम्न-वर्णों को सीमा का अतिक्रमण करने का अच्छा अवसर मिला। फलस्वरूप यह ब्राह्मण एवं क्षत्रिय-वर्ण के लिए खतरा बन गए थे। अतः सामाजिक-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने हेतु मनु ने अथक् प्रयास किया तथा क्रुद्ध हो शूद्रों के लिए कठोर-सिद्धान्त प्रतिपादित किए।

प्रारम्भिक-काल में प्रथम तीन वर्ण उच्च-वर्ण एवं शूद्र निम्न-वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।[155] परन्तु कुषाण-काल में इसमें परिवर्तन आया और ब्राह्मण व क्षत्रिय उच्च-वर्ण एवं वैश्य व शूद्र निम्न-वर्ण के अन्तर्गत व्यवस्थित किए गए[156] इनमें परस्पर कटु-सम्बन्ध थे। मिलिन्द-पन्हों के एक उद्धरण में वैश्य व शूद्रों के व्यवसाय खेती, व्यापार एवं पशु-

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पालन वर्णित हुए हैं।[157] अतः स्पष्ट है कि इस समय तक दोनों वर्ण एकाकार हो गए थे। वैश्य व शूद्र वर्ण के मध्य एक मुख्य अन्तर यह था कि वैश्य द्विज थे जबकि शूद्र नहीं।[158] तत्कालीन शिल्प-व्यवसाय ने अत्यधिक उन्नति की थी। बौद्ध-साहित्य में व्यवसायों की संख्या 88 बताई गई है। इन व्यवसायों में शूद्र भाड़े के मजदूर रूप में शारीरिक श्रम-हेतु नियुक्त किये जाते थे। इसी प्रकार अमीर-कृषक शूद्रों से कृषि-कर्म कराते थे। महाभाष्य में उल्लेख है जिसमें एक जमींदार पाँच मजदूरों द्वारा जुताई का निरीक्षण करता है।[159] मनुस्मृति से भी इसी प्रकार के स्वामी के अधीन कृषक-मजदूरों के विवरण उपलब्ध होते हैं। निःसन्देह तत्कालीन मजदूरों की सामान्य-स्थिति अच्छी थी। मजदूरी पर रखा गया चरवाहा मालिक की सहमति से दस गायों मे सबसे अच्छी एक गाय को दुह सकता था। इस कथन से कदाचित् उनके प्रति मालिक का उदार-व्यवहार ही प्रदर्शित होता है। इसी प्रकार जहाँ अर्थशास्त्र एवं आपस्तम्भ में चरवाहे के नियन्त्रण में कोई गाय खो जाए तो उसे मृत्यु-दण्ड देने का वर्णन है परन्तु मनुस्मृति में उसमें चरवाहे को अपराधी नहीं माना गया। अतः उसे किसी प्रकार का दण्ड भी नहीं दिया जाएगा।[160] मजदूरों के प्रति भी मनु के नियम काफी युक्ति-संगत प्रतीत होते हैं। यदि कोई मजदूर अस्वस्थतावश काम पर नहीं आता पर स्वस्थ होते ही अपना काम पूरा कर देता है तो उसे उस अवकाश-अवधि का वेतन भी दिया जाएगा। परन्तु यदि वह बिना किसी कारण काम पर नहीं आए तो उसे मजदूरी नहीं मिलेगी। यही नहीं 8 कृष्णाल का दण्ड भी देना होगा। प्रस्तुत नियम के आधार पर मनु की प्रशंसा करनी होगी कि उसके नियम निःसन्देह विवेकपूर्ण एवं कालोचित थे। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि शूद्र समृद्धशाली वैश्यों के सेवक अथवा मजदूर रूप में रहते थे। हमें कहीं भी अमीर शूद्र-जमींदार आदि का उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः इसीलिए जहाँ वैश्यों के अपार-वैभव को विचार कर मनु ने उनसे आपत्ति-काल में खेती का 1।8 भाग अतिरिक्त कर के रूप में निश्चित किया वहीं शूद्रों से केवल माह में एक दिन राजा की मजदूरी।[161] इससे शूद्रों की आर्थिक-दुर्बलता प्रमाणित होती है।[162] तभी उनके लिए कर रूप में शारीरिक-श्रम ही निर्धारित किया गया। मिलिन्द-पन्हों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गाँव में कर मुक्त कुछ दास, दासी, मटक एवं कर्मकर होते थे।[163] मूलतः भिन्न वैश्य व शूद्र एक ही व्यवसाय से सम्बन्धित बाह्य रूप से कुछ समान प्रतीत होते थे। केवल आपत्ति-काल में मनु ने शूद्रों को शिल्प-व्यवसाय करने की अनुमति दी थी।[164] परन्तु शिल्पियों की संख्या वृद्धि होने पर शूद्रों द्वारा भी छोटे-छोटे व्यवसाय स्वतन्त्र रूप से किए गए थे। परिणामस्वरूप पूर्वकाल की अपेक्षा वह आर्थिक-दृष्टि से सम्पन्न हुए। इतिहासकार रंगास्वामी के मतानुसार यद्यपि शूद्र वैश्यों के साथ व्यवसाय में संलग्न सम्पन्न थे परन्तु उनसे निम्नतम कर लिया जाता था[165] संभवतः वह जन-साधारण द्वारा दया के पात्र माने गए थे। यद्यपि वह उपरान्त-काल में पर्याप्त सम्पन्न भी हो गए थे पर लोगों की धारणा उनके प्रति दीनहीन की सी बनी रही। अभिलेखीय-साक्ष्यों से स्पष्ट है कि तत्कालीन शिल्पकारों की नवीन श्रेणियों तथा नवीन-शिल्पों के निर्माण द्वारा शूद्रों की सामाजिक व आर्थिक-दशा में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। कतिपय शासकों की आर्थिक नीति द्वारा भी शूद्रों की स्थिति में निश्चित रूप से सुधार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आया था। इस बात की पुष्टि बढ़इयों, लोहारों, गन्धियों, जुलाहों, सुनारों और चर्म-व्यवसायियों द्वारा बौद्ध-भिक्षुओं को उपहार में दिए गए दानों से होती है।[166] जैसा कि ऊपर वर्णित है रंगसाजों, धातु और हाथीदांत के काम करने वालों, जौहरियों, मूर्तिकारों और मछुओं के भी कार्य दिखाई पड़ते हैं। मथुरा एवं पश्चिम-दक्षिण क्षेत्र में रोम से हुए व्यापार में जुलाहों ने भी शिल्पी के रूप में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। तथा स्वामी के अधीन ही नहीं अपितु स्वतन्त्र-व्यवसाय भी स्थापित किए।[167] इस प्रकार पुरालेखों से विदित होता है कि इन शिल्पियों के अनेक समृद्ध-संघ बन गए थे। यह शिल्पी काम करने के पश्चात् मजदूरी चाहते थे जबकि सेवक एवं कर्मकर पात्र एवं भोजन पाने के लिए मालिकों के काम करते थे।

तत्कालीन-साहित्य मजदूरों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति पर पर्याप्त-प्रकाश डालते हैं। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि आजकल की भाँति मजदूरों के पृथक् मुहल्ले होते थे। इन्हें भृतक-वीथि कहा जाता था।[168] सद्धर्मपुण्डरीक के एक सन्दर्भ में दरिद्र-वीथि एवं समृद्धिशाली व्यक्तियों के भवनों के मध्य तुलना की गई है। यह दरिद्रवीथि एवं भृतकवीधि शब्द संभवतया समान अर्थ मजदूर-वर्ग के निवास-स्थान के बोधक थे। यहाँ रहने वाले मजदूर सम्पन्न लोगों के निवास एवं आसपास की सफाई करते होंगे।[169] पतंजलि के महाभाष्य से इस विषय की अतिरिक्त जानकारी मिलती है। इस सन्दर्भ में एक शब्द 'कुड्प' प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य संभवतः झोपड़ी से था।[170] महाभाष्य में वर्णित है कि वृषल अथवा शूद्रों के घर में एक तरफ दीवाल होती थी। अनुमान है कि वह उसके तीनों ओर फूस के टाट लगाते थे।[171] दिव्यावदान के अनुसार भृतक अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर, अस्त-व्यस्त केश एवं दुर्गन्ध-पूर्ण वस्त्रों द्वारा देखते ही पहचान लिए जाते थे। इसी रूप वाले भृतक माने जाते थे। तथा उन्हें मजदूरी भी आसानी से मिल जाती थी। यदि कोई साफ कपड़े पहने बैठा मजदूरी की प्रतीक्षा करता था तो वह बैठा ही रह जाता था।[172]

अयोग्यताएँ

शूद्र वेदाध्ययन के अयोग्य माने गए थे चूंकि उनका उपनयन संस्कार नहीं होता। एक जाति होने के कारण वेदाध्ययन का अधिकार न था। मनु ने वेदाध्ययन जहाँ द्विजों का परम-धर्म बताया,[173] शूद्र उससे पूर्णतः वंचित रखे गए। याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्णित है कि न मात्र वेदाध्ययन वरन् वेद-श्रवण भी उनके लिए निषिद्ध था।[174] वेद सुनने का इच्छुक शूद्र दण्डित किया जाता था। यद्यपि शूद्रों के अध्यापक द्वारा वेद सुनने के कतिपय उल्लेख प्राप्त होते हैं पर मनु इस विषय में कठोर-नियमों का पालन करता दृष्टिगत हुआ है। उसके अनुसार शूद्र को हितोपदेश नहीं देना चाहिए। जो शूद्र को वेद पढ़ाता है अथवा शूद्र-अध्यापक द्वारा सुनता है दोनों ही रूपों में तीन वर्षोपरान्त श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं रह जाता। एवं असंव्रत-नरकगामी होता है। संस्कारविहीन शूद्र का जाति-पतन तो होता ही नहीं क्योंकि वह धार्मिक-कृत्यों के अयोग्य था। वर्णित है कि द्विजाति को अपनी शूद्र-पत्नी को धार्मिक कार्यों में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति में इसका अधिकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल सजातिय-पत्नियों को ही दिया गया था। इसकी अवज्ञा करने पर वह चाण्डाल हो जाता था। शूद्र द्वारा प्राप्त दान से ब्राह्मण को धार्मिक-कृत्य करने का सर्वथा निषेध था नहीं तो अगले जन्म में वह चाण्डाल होगा प्रायः ऐसी मान्यता थी।[175] महाभारत के शान्ति-पर्व व आदि-पर्व में सभी वर्णों को महाभारत धर्म-ग्रन्थ सुनने का समान अधिकारी घोषित किया था।[176] शूद्रों को पूजा-अर्चना एवं संस्कार आदि में मात्र वैदिक-मन्त्रों का निषेध था। यथा—वह शिवमन्त्र नमः शिवाय उच्चारित कर सकता था पर ॐ नमः शिवाय कहने का अधिकार उसे न था।[177] भास के प्रतिभा-नाटक द्वारा भी इसकी पुष्टि हो जाती है जिसमें वर्णित है कि शूद्र देवताओं की पूजा करते थे पर मन्त्रोच्चारण नहीं।[178] याज्ञवल्क्य व मनु के मतानुसार शूद्र विधिवत उत्पन्न वैवाहिक-अग्नि में आहुति नहीं दे सकते थे। प्रस्तुत विषय में स्मृतियों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है।[179] मनुस्मृति में आता है कि शूद्र मन्त्रहीन पंच-महायज्ञ करते हुए प्रशंसनीय होते हैं। मनु ने संस्कार विषय में वर्ण-विभेद का विशेष सहारा लिया था। उसके अनुसार शुद्ध मन्त्र-हीन नामकरण-संस्कार कर सकते थे उनके नाम ध्यान-पूर्वक अपमान-सूचक ही रखे जाएं ताकि नाममात्र से शूद्रत्व का भास हो।[180]

मनुस्मृति में विहित है कि शूद्र को सम्पत्ति-संचय करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वैभव-सम्पन्न वह ब्राह्मण के लिए समस्या बन जाएगा। यह नियम संभवतः तत्कालीन सम्पन्न-विदेशी बौद्ध-संघों को दृष्टिगत कर बनाया होगा जो शिल्प-व्यवसाय के विकसित होने पर अत्यधिक सम्पन्न हो गए थे। फलस्वरूप ब्राह्मणों को नीचा दिखाने की उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। इसी को विचारकर मनु ने आदेश पारित किया कि केवल आर्य ही ब्याज पर धन-संचय के वास्तविक-अधिकारी हैं। पर हमें शूद्र-संघों के पास भी इस प्रकार जमा धनराशि के उल्लेख मिलते हैं। इसीलिए मनु ने ब्राह्मणों को प्रेरित किया कि वह शूद्र दास की सम्पत्ति अधीकृत कर सकते हैं। क्योंकि उसकी सम्पत्ति रखने का अधिकार उसके स्वामी को है। मनुस्मृति में वक्तव्य है कि विपत्ति से मुक्ति हेतु वैश्य व शूद्र को धन का अनुदान देना चाहिए।[181] इतिहासकार जायसवाल ने भी उक्त मत से सहमत हो लिखा है कि तत्कालीन शूद्र धन-सम्पन्न थे तथा उनकी सम्पत्ति पर ब्राह्मण-अधिकार करने हेतु उपरोक्त नियम, बनाकर मनु ने उसे न्यायिक-मान्यता दी प्रतीत होती है।[182] मनु ने यह भी आदेश दिया था कि धन एकत्र करने का अधिकार मात्र आर्य-जाति को है। इस प्रकार शूद्र स्वतः ही इसके अयोग्य हो गए।[183] परन्तु शायद ही इसका अनुपालन किया जाता हो। मथुरा के आटा-व्यापारी-संघ के पास धनराशि जमा की गई थी जिसके ब्याज पर ब्राह्मण-भोज की व्यवस्था थी। अतः स्पष्ट है कि शिल्पकार संघ बनाकर स्वतन्त्र काम करते थे तथा धनराशि भी एकत्र करते थे।[184]

मनु ने स्नातकों को शूद्र-शासक के शहर में रहना वर्जित किया था। इस कथन मात्र से स्पष्ट है कि उस समाज में शूद्र-शासक विद्यमान थे।[185] यद्यपि भारतीय वर्ण-व्यवस्था के निर्धारित-नियमों के अनुसार शूद्र-शासक नहीं हो सकते। यह अधिकार केवल क्षत्रियों को ही प्राप्त था।[186] हाँ आपात्काल में अवश्य ही कोई वर्ण राज्य-वृत्ति को ग्रहण कर सकता था। मिलिन्द-पन्हों में विहित है कि जिसका जन्म नीच-जाति में हुआ हो एवं

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्वक हीन रहे हों वह राजपद के योग्य नहीं।[187] संभवतः मनु का तात्पर्य विदेशी यवन, शक, पह्लव एवं कुषाण शासकों से रहा हो जो भारतीय वर्ण-व्यवस्था में क्षत्रिय-वर्ण के अन्तर्गत रखे गए थे तथा क्रिया-लोप होने के कारण पदावनति-स्वरूप निम्न-क्षत्रिय अथवा शूद्र-वर्ण कहलाए। चूंकि यह शासक विधर्मी थे मनु को भय था कि यह ब्राह्मणों के समीप न आएं। अत. संभवतः उन्होंने शूद्रों को नगर-प्रवास एवं नीच-कुलोत्पन्न क्षत्रिय के उपहार-स्वीकार करने की अनुमति नहीं दी।[188]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ शूद्र भी न्यायाधीश हुए थे।[189] स्मृति-शास्त्र के अनुसार शूद्र न्यायाधीश नहीं हो सकते थे और न ही वह धर्म उद्घोष के योग्य थे।[190] पतंजलि इस मत से सहमत हैं कि सर्वप्रथम ब्राह्मण ही न्यायाधीश-पद का अधिकारी था परन्तु उसकी अनुपस्थिति में क्षत्रिय भी इस पद को ग्रहण कर सकता था।[191] मनु ने शूद्र को भृत-ब्राह्मण को छूने की अनुमति नहीं दी थी चूंकि शूद्र-स्पर्श द्वारा ब्राह्मण के स्वर्ग-प्राप्ति में बाधा होती।[192] अतः स्पष्ट है कि शूद्र अछूत माने जाते थे एवं उनका स्पर्श न मात्र इहलोक में वरन् परलोक में भी अशुभ प्रभावकारी था प्रायः ऐसी धारणा थी। महाभारत के प्रसंगों द्वारा शूद्र के आश्रम व्यवस्था से सम्बन्धित विषय पर प्रकाश पड़ता है। अनुशासन-पर्व से ज्ञात होता है कि शूद्र चारों आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम के योग्य थे क्योंकि वह वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे।[193] शान्तिपर्व में उल्लेख है कि जिस शूद्र ने द्विज-सेवा की है अर्थात् अपने धर्म को माना है, जिसके सन्तान उत्पन्न हुई है, जिसका जीवन-काल कम ही रह गया है या जो 90 वर्ष से ऊपर है वह अन्तिम संन्यासाश्रम के अतिरिक्त अन्य सभी आश्रमों का फल प्राप्त करता है।[194] अतः स्पष्ट है निर्धारित-कर्त्तव्यों का पालन करते हुए एक आदर्श शूद्र मोक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी आश्रमों को भोग सकता था। गीता में भी इस सन्दर्भ में उल्लेख है।[195]

खानपान सम्बन्धी अवमाननाएँ

संस्कार-विहीन एवं वेदाध्ययन के अयोग्य शूद्र के लिए खानपान सम्बन्धी किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था। द्विजों द्वारा अभक्ष्य प्याज, लहसुन, माँस, मदिरा आदि खाद्य-वस्तुओं को खाने के लिए शूद्र पूर्ण स्वतन्त्र थे। मनुस्मृति के विवरणानुसार शूद्र को ब्राह्मणों द्वारा झूठा-भोजन, अन्नों के पुआल, बर्तन आदि दिए जाने चाहिए।[196] अन्यत्र भी वर्णित है कि शूद्र को इष्टार्थक उपदेश, झूठा, यज्ञादि का बचा हविष्य-धर्म और व्रत का उपदेश साक्षात् नहीं देना चाहिए।[197] इससे तो यही स्पष्ट होता है कि उस काल में ब्राह्मण एवं शूद्र के मध्य किसी प्रकार के प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वीकार नहीं किए गए थे। यही नहीं शूद्र की छाया भी त्याज्य मानी गई थी तभी उसे उपदेश एवं झूठा साक्षात् देने को मना किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में शूद्र अछूत माना जाता था एवं शूद्र रसोइए द्वारा बनाए भोजन को द्विज नहीं खाता था। पतंजलि-काल में रंगरेज, धोबी और चमार आदि की थाली धोकर प्रयोग में लाई जा सकती थी। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी वर्णन है कि खेती करने वाला, वंश का मित्र, गोपाल, दास, नाई और जिसने अपने को समर्पित कर दिया, शूद्रों में इनका अन्न स्वीकार करने योग्य है।[198] परन्तु समयानुसार

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मान्यताएँ परिवर्तित हुई तथा वह द्विज द्वारा त्याज्य होता गया। मनुस्मृति में ही आगे उल्लेख है कि शूद्र का पका अन्न ब्राह्मण न खाए क्योंकि शूद्र पंच-महायज्ञ नहीं करता। जीवन-रक्षा हेतु एक रात कच्चा अन्न ले परन्तु पका अन्न कदापि न ले।[199] याज्ञवल्क्य ने मात्र आपत्ति में ही शूद्र-प्रदत्त भोजन की अनुमति दी थी।[200] जबकि मनु ने शूद्रान्न अभक्ष्य माना था।[201] इसकी पुष्टि करते हुए महावस्तु में ब्राह्मण को शूद्र-संगति एवं शूद्र-स्त्री वर्जित कही है।[202] मनु ने लिखा है कि शूद्र का उच्छिष्ट-भोजन करने से अपवित्र शुक्त तथा कसैले पदार्थ को पीकर द्विज तब तक अपवित्र रहता है जब तक ये पदार्थ पच नहीं जाते। इसी प्रकार यदि शूद्र का झूठा पानी पी लिया जाए तो पवित्र होने के लिए तीन दिन उबले कुश घास के जल को पीना पड़ता था। विहित है कि स्नातक को किसी शूद्र अथवा झूठे अन्न एवं महापातक करने वाले के द्वारा दिए भोजन को नहीं ग्रहण करना चाहिए।[203] स्नातक को लोहार, मल्लाह, रंगसाज, सोनार, बंसफोर, शस्त्र बेचने वाले, शिकार हेतु कुत्ते पालने वाले, गंध बेचने वाले, धोबी, रंगरेज, नृशंस आदि का अन्न नहीं खाना चाहिए। यद्यपि शूद्र ब्राह्मण का अतिथि नहीं था पर फिर भी अतिथि रूप में आए शूद्र को भी ब्राह्मण द्वारा भोजन कराना अभीष्ट था।[204]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भोजन सम्बन्धी अनेक कानून मात्र-द्विजों तक ही सीमित थे। शूद्र अभीष्ट-वस्तु का सेवन स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते थे और द्विजों की भाँति अभक्ष्य-वस्तु खाने पर उन्हें प्रायश्चित भी नहीं करना पड़ता था। निश्चय ही यह उनका विशेषाधिकार था।

दान-प्रथा

दान एक धार्मिक कृत्य है। दान-प्रथा की प्राचीनता समाज में धर्म की प्राचीनता पर आधारित रही है और चूँकि धर्म की प्राचीनता समाज की प्राचीनता पर आधारित है अतएव दान-प्रथा को समाज का समकालीन कहना उचित होगा। कुषाण-समाज में दान देने का अधिकार द्विज-वर्ण को था परन्तु ग्रहण करने योग्य केवल ब्राह्मण माने गए। संस्कार-विहीन एवं धर्म के अयोग्य शूद्रों का दान से कोई सम्बन्ध न था। साधारणतया मान्यता थी कि ब्राह्मण शूद्र का दिया दान न ले पर मनुस्मृति में वर्णित है कि बिना माँगा दान तो किसी से भी ग्रहण करने योग्य है केवल महापालक करने वाले को छोड़कर। अतः स्पष्ट है कि शूद्र का दिया दान भी ब्राह्मण द्वारा ग्राह्य था यद्यपि उस दान से धार्मिक-यज्ञादि वर्जित थे अन्यथा अगले जन्म में चण्डाल होना पड़ेगा ऐसा स्मृतिवाक्य है।[205]

दण्ड-विधान

समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने हेतु अपराधी को दण्ड देने का विधान था। दण्ड का निर्धारण न्यायाधीश अपराध के अनुरूप करता था। शूद्र-न्यायाधीश नहीं हो सकते थे जैसा कि ऊपर वर्णित हुआ है इसका अधिकार तो केवल ब्राह्मण व क्षत्रिय को था। मनु का विचार था कि जिस राज्य का न्यायाधीश शूद्र होगा वह राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा।[206] यहाँ शूद्र-शासकों से अभिप्राय विदेशी-शासकों से था जो समाज में बौद्ध-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के प्रचार के फलस्वरूप उच्च-पदासीन हो रहे थे तथा उच्च-वर्णों से स्पर्धा करते थे।[207]

आज की भाँति उस समय भी मुकदमे द्वारा फैसला होता था जिसमें साक्षी का महत्त्वपूर्ण योगदान था। मनु ने शूद्र के मुकदमे में शूद्र-साक्षी को ही उपयुक्त माना था। वर्णित है कि आपत्तिकाल को छोड़कर साधारणतया गृहस्थ, पुत्र वाले, पहले से वहाँ निवास करने वाले, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र जाति वाले साक्षी बनाए जा सकते हैं। यद्यपि अन्य किसी के अभाव में दास व नौकर भी साक्षी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त घर के अन्दर, वन में, चोर आदि द्वारा चोट पहुँचाने पर जो प्रत्यक्ष-दर्शी हो उन्हीं को दोनों पक्ष का साक्षी बनाया जा सकता था। पर अपमान करने, आक्रमण करने, चोट पहुँचाने, व्यभिचार और चोरी आदि में किसी को भी साक्षी बनाया जा सकता था। ऐसे में गवाह दीवानी-मुकदमे में बताई सूची के अतिरिक्त कोई भी हो सकता था।[208] परन्तु किसी भी परिस्थिति में कारीगर, नटभाट जन्म से उत्पन्न दास आदि तथा वैदिक-ब्रह्मचारी एवं संन्यासी को गवाह बनाना वर्जित था। न्यायाधीश गवाही के पूर्व शूद्र को सब पापों की शपथ दिलाता था। इसी प्रकार अन्य वर्णों को भी अलग-अलग शपथ दिलाई जाती थी।

प्रायः दण्ड की सीमा वर्ण एवं अपराध के अनुरूप होती थी। गलत गवाही देने पर शूद्र को वन-दण्ड देकर शहर से बहिष्कृत कर देना दण्ड का उचित-स्वरूप था। शूद्र द्वारा ब्राह्मण का अपमान करने पर शूद्र को कठोरतम-दण्ड मृत्यु-दण्ड था जबकि अन्य वर्णों को मात्र धन-दण्ड ही देना पड़ता था। यदि शूद्र द्विज को (सम्भवतः ब्राह्मण को) अशुभ-वचन कह दे तो उसकी जिह्वा काट लेने का विधान था। इसी प्रकार विहित है कि यदि शूद्र द्विज का नाम अथवा जाति उच्चारण करे तो उसके मुँह में जलती हुई कील डाल दी जाए। और यदि शूद्र ब्राह्मण को अभिमान-पूर्वक उपदेश दे तो शूद्र के मुँह व कान में गर्म-तेल डलवा दिया जाए। यही नहीं शूद्र जिस किसी अंग से द्विजाति को मारे राजा उसके उसी अंग को कटवा डालने हेतु आदेशित था।[209] महावस्तु में भी दण्ड का अति दर्दनाक वर्णन है। काम की अवज्ञा करने पर मजदूरों को बाँधकर उनके अंगों को छिदवा अथवा चिरवा दिया जाता था।[210] सद्धर्म-पुण्डरीक में एक आदमी को दण्डित करने हेतु काष्ठ की रस्सी से बाँधने का उल्लेख है।[211] मनुस्मृति में वर्णित है कि यदि शूद्र किसी ब्राह्मणी से उसकी इच्छानुसार अथवा इच्छाविरुद्ध-सम्बन्ध स्थापित करता है तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाना चाहिए।[212] दण्ड के उपरोक्त स्वरूप शूद्र के लिए निर्धारित थे। शूद्र-हत्या को उपपातक माना जाता था तदनुरूप प्रायश्चित एवं दान भी अति सामान्य था।[213] वर्णित है कि शूद्र को मारने पर बिल्ली, नेवला, चाष पक्षी, मेंढक, कुत्ता आदि की हत्या के समान ही बहुत कम पाप पड़ता है। शूद्र-हत्या के प्रायश्चित हेतु मनु ने 6 महीने का व्रत, एक बैल तथा 11 गाय दान में देय मानी थी।[214] इसी प्रकार शूद्र को गाली देने पर ब्राह्मण को 12 पण दण्ड मिलता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम मुख्य रूप से पढ़े-लिखे बौद्ध व जैन शूद्रों के विरुद्ध बनाए गए होंगे।[215] वास्तव में जैसा कि सर्वविदित है कि बौद्ध-धर्म की प्रतिक्रिया-स्वरूप निम्न-जातियों की सामाजिक-स्थिति में महत्त्वपूर्ण-सुधार आया था। साथ ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उच्च-वर्णों के विशेषाधिकार समाप्त होने लगे थे। अतः मनु की बदलती सामाजिक-व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था के भविष्य पर आँच आती प्रतीत हुई। क्रुद्ध हो प्राचीन-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु उसने शूद्रों के विरुद्ध कठोर नियम बनाए ताकि वह अपनी मर्यादा के अन्तर्गत ही रहें। तत्कालीन सामाजिक-परिस्थितियों को दृष्टिगत करने पर यद्यपि मनु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कालोचित प्रतीत होते हैं पर निश्चित रूप से कह सकना कठिन है कि इनका व्यवहारिक-स्वरूप क्या था ?

द्वितीय श० ई० में गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के अथक प्रयास द्वारा वर्ण-व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने में सफलता मिली थी। एवं ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के विरुद्ध वर्णों की स्थापना की गई थी।[216] फलस्वरूप शूद्रों की सामाजिक-दशा में महान् सुधार आया। इसकी पुष्टि मनुस्मृति के उस विवरण द्वारा होती है जिसमें वासिष्ठ को शूद्र-जनक कहा गया है। यह उनकी उन्नत सामाजिक व धार्मिक-दशा का द्योतक है। स्पष्ट है अब वह नामकरण-संस्कार योग्य हो गए थे। यही नहीं उनकी सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध था। शूद्र को गाली देने पर ब्राह्मण भी दण्डित किया जाता था। तथा शूद्र-हत्या के अपराध में ब्राह्मण को ब्रह्म-हत्या के व्रत का अनुष्ठान करना पड़ता था। मनुस्मृति में वर्णित है कि यदि असत्य बोलने से शूद्र की जीवन-रक्षा सम्भव हो तो असत्य बोलना ही श्रेष्ठ धर्म है।[217] अतः स्पष्ट है उपरान्त-काल में शूद्र की स्थिति में सन्तोषजनक सुधार आया था।

वर्णसंकर-जातियाँ

मनु ने विहित किया है कि वर्ण चार हैं। पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं है।[218] उक्त कथन से स्पष्ट है कि वर्ण संकर-जातियाँ शूद्र-वर्ण के अन्तर्गत मानी जाती होंगी पर अन्यत्र मनुस्मृति में ही वर्णन आया है कि ब्रह्मणादि के परस्त्री के साथ व्यभिचार, एक ही गोत्र में विवाह तथा संस्कार-विहीन होने पर वर्णसंकर-जातियाँ उत्पन्न होती हैं।[219] मनु ने उन वर्णसंकर जातियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जो विभिन्न कारणों से वर्णसंकर कहलाईं।

(अ) अन्तर्जातीय विवाहोपरान्त उत्पन्न सन्तान के आधार पर जातियाँ-अम्बष्ठ, निषाद, पारशय, उग्र, सूत, मागध, वैदेह, आयोगव, क्षता, चण्डाल, आवृत्त, आभीर, धिग्वण, पुक्कस, कुक्कुट और शैख, झल्ल, मल्ल, विच्छवि, नट, करण, खस, द्रविण, सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र, सात्वत, मैत्रेयक, सैरिन्ध्र, मार्गव, दाश, कैवर्त, कारावर, अनध्र, भेद, पांडुसोक, आहिन्डक, सोपाक। यह जातियाँ अनुलोमज, प्रतिलोमज, व्रात्य-संज्ञक आदि हैं।

(आ) व्यवसायों के आधार पर उत्पन्न जातियाँ यथा—अयस्कार, कुम्भकार, चर्मकार, तक्षा, तैलिक, नट, वेण, रथकार आदि।

(इ) स्थान विशेष के काम पर आधारित जाति—अम्बष्ठ, मागध, मल्ल एवं वैदेहक।

(ई) जाति-विशेष पर आधारित जाति—आभीर, किरात एवं शक।

(उ) संस्कार-विहीन शूद्र-जातियाँ मनुस्मृति एवं महाभारत में वर्णित शुक, यवन, काम्बोज, द्रविड़, दरिद्र, शबर, किरात, पौन्ड्रक, चौड, पारद, पह्लव, चीन आदि को

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रिय कहा गया है परन्तु क्रिया-लोप के कारण यह शूद्र मानी गई।[220]

उपरोक्त वर्णसंकर-जातियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

अन्ध्र—वैदेहक-जाति के पुरुष एवं कारावर-जाति की स्त्री के अन्तरमिश्रण से उत्पन्न सन्तान अन्ध्र थी।[221] इन्हें गाँव के अन्दर रहने की अनुमति न थी। इनके जीविकोपार्जन का साधन जंगली-पशु थे।[222]

अम्बष्ठ—ब्राह्मण-पुरुष एवं वैश्य-स्त्री से उत्पन्न सन्तान अम्बष्ठ होती थी।[223] अनुलोम-विवाह से उत्पन्न अम्बष्ठ निकृष्ट माने जाते थे। इनके संस्कार माता की जाति के अनुरूप होते थे।[224] यह स्पर्श-योग्य थे।

निषाद—ब्राह्मण-पुरुष एवं शूद्र-स्त्री से उत्पन्न पुत्र निषाद कहलाता था।[225] यह अनुलोमज-निषाद शव-दाह करने के कारण पारशव भी कहलाते थे।[230] निषाद मछली को पकड़कर अपना जीवन-निर्वाह करते थे।[227] मनुस्मृति में उल्लेख आता है कि इन्हें बड़े-बड़े वृक्षों, चैत्यों, उपवनों में निवास करना चाहिए।[228] स्पष्ट है यह अस्पृश्य माने गए थे इसीलिए इन्हें नगर के बाहर रहने की अनुमति थी।

उग्र—उग्र क्षत्रिय-पुरुष एवं शूद्र-स्त्री की अनुलोम-सन्तान थी।[229] जैसा कि उग्र शब्द से स्पष्ट है यह क्रूर-प्रकृति के होते थे। तथा शूद्र व क्षत्रिय के गुणों से प्रभावित थे। बिल में रहने वाले जीव इनका आहार थे।[230] यह स्पर्श योग्य माने जाते थे।[231]

सूत—क्षत्रिय-पुरुष एवं ब्राह्मण-स्त्री की प्रतिलोम-सन्तान सूत मानी जाती थी।[232] नीच-जाति के सूत का व्यवसाय रथ हाँकना (घोड़ा जोतना) आदि था।[233]

मागध—वैश्य-पुरुष एवं क्षत्रिय-वर्ण की स्त्री से उत्पन्न-पुत्र मागध प्रतिलोमज होता था।[234] यह नीच माने जाते थे।[235] अनुशासनपर्व में इसे स्तुति करने वाला या बन्दी[236] तथा मनु ने स्थल-मार्ग का व्यापारी माना है।[237]

माहिष्य—क्षत्रिय-पुरुष एवं वैश्य-नारी के अनुलोम-विवाह से उत्पन्न सन्तान माहिष्य थी।[238]

मूर्धावसिक्त—ब्राह्मण-पुरुष व क्षत्रिय-स्त्री की सन्तान मूर्धावसिक्त थी।[239]

वैदेह—वैश्य-पुरुष तथा ब्राह्मण-स्त्री की सन्तान वैदेह थी।[240] यह प्रतिलोमज नीच परन्तु स्पर्श-योग्य माने गए थे। मनुस्मृति में उनका व्यवसाय अन्तःपुर की स्त्रियों की सुरक्षा वर्णित है।

क्षत्ता—शूद्र-पुरुष एवं क्षत्रिय-स्त्री की अनुलोम-सन्तान क्षत्ता कहलाती थी। यह मनुष्यों में अधम स्पर्श योग्य माने गए। इनका व्यवसाय बिल में रखने वाले जीवों को फंसाना वर्णित है।[241]

चाण्डाल—मनुस्मृति में चाण्डाल-जाति के विषय में विशद विवरण उल्लिखित है। यह शूद्र-पुरुष एवं ब्राह्मण-स्त्री की प्रतिलोम-सन्तान थी।[242] चाण्डाल-मनुष्यों में अधम अस्पृश्य थे।[243] इन्हें अपपात्र माना गया था। अतः रात्रि में शहर के बाहर रहने का आदेश था। उनके पात्र तपाकर भी प्रयोग में नहीं लाए जाते थे। कुत्ते व गधे इनकी सम्पत्ति थी। दाह-कर्म में प्रयुक्त कफन का वस्त्र, भोजन हेतु भग्न-पात्र एवं लौह-आभूषणों पर इनका अधिकार था। यह भ्रमणशील-जीवन व्यतीत करते थे। याज्ञवल्क्य ने इन्हें सर्वधर्म बहिष्कृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माना था तथा कुत्तों एवं कौओं की श्रेणी में स्थान दिया था।[214] मनुस्मृति में प्रसंग है कि धर्माचारी-व्यक्ति न उनसे वार्तालाप करे, न ही देखे, न विवाह आदि किसी प्रकार का सम्बन्ध करे। इन्हें नौकरों द्वारा दिए टूटे पात्र में भोजन को ग्रहण करते हुए आश्रित-जीवन व्यतीत करना चाहिए। राजा को एक विशेष-प्रकार का चिह्न इन पर लगवा देना चाहिए ताकि दूर से ही देखकर पहचाना जा सके। चाण्डालों का सम्बन्धी रहित शवों को शहरों से बाहर शमशान में ले जाकर दाह करना प्रमुख व्यवसाय था। इसके अतिरिक्त राजा द्वारा मृत्यु-दण्ड दिए गए अपराधी को निर्दिष्ट नियमों के आधार पर दण्डित करना भी इन्हीं का कार्य था। शान्तिपर्व में भी इसी प्रकार का उद्धरण आया है। चाण्डाल मनुष्यों में अधम माने गए थे।[215]

आवृत्त—मनुस्मृति में ब्राह्मण-पुरुष एवं उग्र-स्त्री की सन्तति आवृत्त कही गई है।

आभीर—ब्राह्मण पुरुष एवं अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न पुत्र आभीर होता था।[216] महाभारत में उल्लिखित है कि आभीर दस्यु एवं म्लेच्छ हैं।[217]

धिग्वण—ब्राह्मण पुरुष एवं आयोगव स्त्री से उत्पन्न सन्तान धिग्वण कहलाती थी।[218]

पुक्कस—मनुस्मृति में निषाद पुरुष एवं शूद्र स्त्री की सन्तान को पुक्कस कहा है।[219] इनका व्यवसाय बिल में रहने वाले जीवों को फंसाना था।[220]

कुक्कुट—शूद्र-पुरुष एवं निषाद की कन्या से उत्पन्न पुत्र कुक्कुट कहलाते थे। यह प्रतिलोम सन्तान थी।

श्वपाक—मनुस्मृति में वर्णित है कि श्वपाक क्षता पुरुष एवं उग्र-नारी की सन्तान थी। इनके कर्तव्य तथा अधिकार चाण्डाल के समान ही थे। श्वपाक श्वपच भी कहलाते थे। यह नगरों की सफाई रखते थे एवं श्मशान में रहते थे। भ्रमणशील-जीवन इनका स्वभाव था। अपपात्र होने के कारण रात्रि में इन्हें नगर में रहने की अनुमति न थी। गधे व कुत्ते इनकी सम्पत्ति थी। मनुस्मृति में राजा द्वारा निर्धारित नियमानुसार शवदाह एवं मृत्युदण्ड के अपराधी को प्राण-दण्ड देना इनका कर्तव्य तथा शव के वस्त्राभूषण आदि ग्रहण करना इनका अधिकार वर्णित है। ब्रह्मचारी व्यक्ति को उनसे किसी भी प्रकार का व्यवहार रखना वर्जित था।[251]

वेण—मनुस्मृति में वेण को वैदेहक-पुरुष एवं अम्बष्ठ-स्त्री की सन्तान माना है। इनका व्यवसाय बाजा बजाना था।[252]

सैरन्ध्र—सैरन्ध्र दस्यु-पुरुष एवं आयोगव-स्त्री की सन्तान थी। मालिक की सेवा में तत्पर यह दास न होने पर भी दास प्रतीत होते थे। केश-सज्जा एवं जानवरों को फसाना आदि इनके जीविकोपार्जन से सम्बन्धित कार्य थे।[253] महाभारत के विराट्-पर्व में केश-सज्जा, लेपन-कार्य, माला बनाना आदि सैरिन्ध्री के कार्य वर्णित हैं।[254]

मैत्रेयक—वैदेहक-पुरुष एवं आयोगव-स्त्री की सन्तान मैत्रेयक थी। इनका कार्य प्रातः काल घंटी बजाना एवं राजाओं तथा धनवानों की स्तुति करना था।[255]

मार्गव—निषाद-पुरुष और आयोगव-स्त्री की सन्तान मार्गव (दाश) मानी जाती

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। यह कैवर्त भी कहलाते थे। मार्गव केवट के समान थे।[256]

पाण्डुसोक—चाण्डाल-पुरुष एवं वैदेहक-स्त्री से उत्पन्न सन्तान पाण्डुसोक थी। मनु के अनुसार यह बेंत का व्यवसाय करते थे।[257]

आहिण्डक—चाण्डाल-पुरुष एवं निषाद-स्त्री की सन्तान आहिण्डक होती थी। यह दोहरी प्रतिलोम-जाति की हुई। चर्म-कार्य करने के कारण मनु ने इसे कारावर कहा है।[258]

मेद—मेद-जाति वैदेहक-पुरुष एवं निषाद-नारी से उत्पन्न होती थी। इनका कार्य जंगली जानवरों का शिकार करना था।[259]

कारावर—यह निषाद-पुरुष एवं वैदेहक-नारी से उत्पन्न सन्तान थी।[260] इनका व्यवसाय चर्म था।

आवृत - ब्राह्मण-पुरुष एवं उग्र-स्त्री से उत्पन्न-पुत्र आवृत होते थे।[261]

कर्मार—मनुस्मृति में कर्मार-जाति का उल्लेख मिलता है।[262]

काम्बोज—महाभारत के उद्योगपर्व में शकों के साथ काम्बोज का वर्णन हुआ है।[263]

कायस्थ—याज्ञवल्क्य के वर्णनानुसार राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को दुष्ट लोगों, चोरों, दुश्चरित्रों, आततायियों विशेषकर कायस्थों से बचावे।[264]

कुण्ड—मनु के अनुसार ब्राह्मण के जीवित रहते हुए यदि ब्राह्मणी किसी अन्य ब्राह्मण से गुप्त-सम्बन्ध स्थापित करके सन्तान उत्पन्न करती है तो उत्पन्न सन्तान कुण्ड कहलाएगी।[365]

कृत—याज्ञवल्क्य ने कृत को वैदेहक माना है।[266]

गोलक—ब्राह्मण-पुरुष तथा विधवा ब्राह्मणी के गुप्त-सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तान गोलक होती थी। मनु के अनुसार यह इहलोक एवं परलोक में दाताओं द्वारा दिए हव्य-कव्य को नष्ट करती है।[267]

चीन—महाभारत में इस जाति के अनेक उल्लेख आए हैं।[268] मनु ने इन्हें क्षत्रिय माना है जो संस्कार से च्युत् होने के कारण शूद्र-गति को प्राप्त हुए थे।

चैण निर्णेजक—मनु ने इन्हें धोबी माना था।[269]

रथकार रथकार को याज्ञवल्क्य ने माहिष्य-पुरुष एवं करण-स्त्री की सन्तान माना है।[270]

आद्रे—मनुस्मृति में आद्रे उल्लिखित है।[271]

आयस्कार—आयस्कार संभवतः शूद्र थे।

अन्त्य—मनु ने अन्त्य को चाण्डाल जैसे नीच-जातियों की श्रेणी में रखा था। एक स्थान पर मनु ने विहित किया है कि स्नातक को अन्त्य के साथ नहीं रहना चाहिए।[272] इससे इनकी नीच-जाति स्पष्ट हो जाती है।

अन्त्यावसायी—मनु का कथन है कि अन्त्यावसायी के सम्पर्क से शूद्र को कतिपय दूर रखना चाहिए। यह चाण्डाल-पुरुष एवं निषाद-स्त्री की सन्तान थी।[273] महाभारत में

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी इसका प्रसंग आया है।[274] मनु ने अन्त्य व अन्त्यावसायी को पृथक्-पृथक् वर्णित किया है।

अन्त्यज—अन्त्य की भाँति ही अन्त्यज भी निम्न जाति-सूचक था। मनु ने इन्हें शूद्र-अर्थ में प्रयुक्त किया था। एक अन्य स्थान पर मनु ने अन्त्यज को चाण्डाल अर्थ-सूचक माना है।

चुन्चु—मनुस्मृति में चुन्चु का व्यवसाय जंगली-पशुओं को मारना वर्णित हैं।[275]

तक्षा—महाभाष्य में तक्षा को शूद्र स्वीकार कर इसे अयस्कारों (लोहारों) की पंक्ति में रखा है।[276] मनुस्मृति में भी इसका उल्लेख हुआ है।

तन्तुवाय—महाभाष्य में तन्तुवाय (जुलाहे) को शूद्र माना गया।[277]

तुन्नवायु—मनुस्मृति में इसका वर्णन हुआ है।[278]

मद्रगु—मनु के अनुसार मद्रगु जंगली-पशुओं को मारकर अपनी जीविका पालन करता था।[279]

पुष्पथ—मनु ने इसे आवन्त्य का दूसरा नाम बताया है।[280]

बर्बर—महाभारत में बर्बरों का उल्लेख शक, शबर, यवन, पह्लव आदि अनार्य-जातियों के सन्दर्भ से हुआ है।[281]

मैत्र—मनु ने मैत्र को कारुप कहा था।[282]

रजक—महाभाष्य में इसे शूद्र माना गया है।[283]

रज्जक—मनुस्मृति में इसका उल्लेख आता है।[284]

वरुड—महाभाष्य में इस बांस का काम करने वाले का वर्णन है।[285]

व्याध—याज्ञवल्क्य में व्याध का उल्लेख हुआ है।[286]

शबर—महाभारत में शबर का वर्णन है।[287]

शैलूष—मनु ने इसे रंगावतारी से भिन्न माना था।[288] याज्ञवल्क्य शैलूष को रजक एवं व्याध मानते हैं।[289]

शौण्डिक—मनु इन्हें सुरा बेचने वाला वर्णित करते हैं।[290]

सात्वत—मनु ने सात्वत को कारुष स्वीकार किया है।[291]

हेमकार—मनु ने इसे अति दुष्ट माना था।[292]

सोपाक—सोपाक चाण्डाल-पुरुष एवं पुक्कस-नारी की सन्तान थी। यह राजा द्वारा दण्डित लोगों को प्राण-दण्ड देने का काम करते थे।[293]

व्रात-संज्ञक-जातियाँ

द्विज द्वारा समानवर्ण वाली स्त्रियों में उत्पन्न यज्ञोपवीत-संस्कार के अयोग्य एवं सावित्री से भ्रष्ट पुत्रों को व्रात्य कहा गया। व्रात्यसंज्ञक-ब्राह्मणी से ब्राह्मण में उत्पन्न-पुत्र भूर्जकण्टक-पापी होता था। इसी भूर्जकण्टक के देशभेद द्वारा आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख आदि नाम पड़े। इसी प्रकार व्रत्य-संज्ञक-क्षत्रिय से क्षत्रियों में उत्पन्न पुत्र झल्ल, मल्ल, लिच्छवी, नट, करण, खस और द्रविड़ नाम के होते थे। इनके यह नाम देश भेद के कारण भिन्न-भिन्न पड़े।[294] व्रात्य-संज्ञक वैश्य-पुरुष एवं वैश्य-स्त्री से उत्पन्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुत्र सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत-संज्ञक देशभेद के कारण उक्त नाम से जाने गए।

मनुस्मृति में पौन्ड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद आदि जातियों को क्षत्रिय माना था जो कि निर्धारित-कार्यों की अवहेलना द्वारा शूद्रत्व को प्राप्त हुई थी।

मनु का विचार था कि क्षत्रिय जातियाँ जो क्रिया लोप होने पर शूद्र कहलाई दस्यु जातियाँ थीं। यह अपने लक्षणों (अनार्यता, क्रूरता, क्रिया-हीनता) द्वारा अपनी जाति का भास करा देती थीं। इनके लक्षण (नीच) माता-पिता से प्रभावित थे। मनु ने राजा को आदेश दिया था कि उक्त वर्ण-संकर जातियों की उत्पत्ति को समाप्त किया जाना चाहिए जो सभी वर्णों द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करने पर सम्भव था। अन्यथा जिस राज्य में यह लोग रहेंगे वह नष्ट हो जाएगा।[296] द्वितीय श० में वासिष्ठी पुत्र श्री पुलमायी को चारों वर्णों को वर्ण-संकर होने से बचाने का श्रेय प्राप्त था।[296]

स्मृति-साहित्य एवं पतंजलि के महाभाष्य आदि में 'वृषल' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। यद्यपि इनका उल्लेख निश्चित रूप से किसी भी वर्ण के अन्तर्गत नहीं हुआ पर प्राप्त उदाहरणों में उनके स्वरूप एवं सामाजिक-स्थिति के आधार पर उन्हें शूद्र की श्रेणी में रखना समुचित होगा।[297] पतंजलि के विचार में दासी एवं वृषली अशुभ-सूचक शब्द हैं तथा शूद्रभाव में प्रयुक्त हुए हैं।[298] महाभाष्य से ज्ञात होता है कि जो विषमता ब्राह्मण व शूद्र के मध्य थी वही ब्राह्मण व वृषल के मध्य थी।[299]

अब एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या शूद्र एवं वर्ण संकर-जातियों को समान माना जाए? विभिन्न पहलुओं के अध्ययन द्वारा स्पष्ट है कि इन वर्णसंकर-जातियों एवं शूद्रों के मध्य पुनः वर्ण-विभेद हो गया था। जिसमें शूद्र उच्च-वर्ण एवं वर्ण संकर-जातियाँ निम्न शूद्र वर्ण मानी गई। इसीलिए इनके निवास भी अलग ही रखे गए।

सभी वर्णों में विवाह सम्बन्धी विचार

यद्यपि विवाह विषय पर विशद विवरण विवाह सम्बन्धी अध्याय में उद्धृत हैं, प्रसंगवश यहाँ भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

प्राचीन-काल की भाँति कुषाण-काल में भी विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता था। सामान्यतया सभी वर्णों को अपने ही वर्णों में विवाह करने की अनुमति थी। इस प्रकार के विवाह द्वारा उत्पन्न सन्तान जन्म से ही माता-पिता के वर्ण की मानी जाती थी परन्तु समाज में इसके अतिरिक्त अन्य विवाह-प्रकार भी प्रचलित हुए। समकालीन-साहित्य में इनका उल्लेख मिलता है।

प्रस्तुत अध्याय में जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष शब्दों की व्याख्या का प्रासंगिक महत्व है। इस संदर्भ में मनु और याज्ञवल्क्य की परिभाषाओं में परस्पर भिन्नता परिलक्षित होती है यद्यपि मूल रूप से उनके अभिप्राय लगभग समान हैं। मनुस्मृति में वर्णित है कि ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के विवाहोपरान्त उत्पन्न पुत्री पारशव होगी। यदि यह पारशव-कन्या ब्राह्मण से विवाहित हो और उससे उत्पन्न कन्या पुनः ब्राह्मण से ही विवाह करे तो इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार 6वें वंश में वह पारशव-कन्या ब्राह्मण हो जाएगी। अर्थात् उसका जात्युत्कर्ष हो जाएगा। यद्यपि पूर्व-वंश में माँ नीच वर्ण (शूद्र) रही है। मनु के अनुसार इसी प्रकार जात्यपकर्ष में भी सात पीढ़ियों का विचार किया जाना चाहिए।[300] अर्थात् ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न पारशव पुत्र यदि शूद्र-कन्या से विवाह करता है एवं उससे उत्पन्न पुत्र पुनः ऐसा ही करता है तो सातवीं पीढ़ी जात्यपकर्ष द्वारा शूद्र हो जाएगी। याज्ञवल्क्य ने जात्युत्कर्ष में तो मनु की भाँति सात पीढ़ी को स्वीकार किया था पर जात्यपकर्ष में पाँच पीढ़ी ही पर्याप्त मानी। उल्लेखनीय है याज्ञवल्क्य ने विवाह के समान व्यवसाय में भी जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष सिद्धान्त का प्रयोग किया है।[301] विहित है यदि कोई ब्राह्मण शूद्र-वृत्ति अपनाए तथा उसका पुत्र भी शूद्र वृत्ति करे तो इस प्रकार पाँचवीं पीढ़ी में उसका व्यवसाय के आधार पर जात्यपकर्ष हो जाएगा। यदि ब्राह्मण वैश्य व क्षत्रिय वृत्ति अपनाए तो क्रमशः पाँचवीं पीढ़ी में वैश्य व छठी पीढ़ी में क्षत्रिय हो जाएँगे। क्षत्रिय द्वारा वैश्य अथवा शूद्र वृत्ति अपनाने पर वैश्य की पाँचवीं व शूद्र की छठी पीढ़ी में वैश्य व शूद्र गति हो जाएगी। इसी प्रकार यदि वैश्य शूद्र वृत्ति करे तो पाँचवीं पीढ़ी में वह शूद्र हो जाएगा। महाभारत के शल्यपर्व में भी जाति-व्यवस्था सम्बन्धी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।[302]

दास-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था अध्याय में तत्कालीन दासों के विषयों में कतिपय विचार करना अत्यावश्यक है चूँकि साहित्य में दास-प्रथा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। निःसन्देह दास-प्रथा सभ्य-समाज का कलंक है। भारतीय समाज में दास-प्रथा वैदिक-काल से ही मान्यता प्राप्त संस्था के रूप में विद्यमान रही है। ऋग्वेद में दास शब्द अनेक मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः वैदिक-काल में दो वर्ण थे आर्य एवं अनार्य अथवा दास।

साहित्यिक एवं अभिलेखीय विवरणों से दास-प्रथा-विषयक पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है जिससे विदित होता है कि दास-प्रथा न केवल भारत में अपितु विश्व के तत्कालीन तथाकथित विकसित क्षेत्रों—बेबिलोन, यूनान, रोम, मिस्र आदि एवं अन्य यूरोपीय-अंचलों में व्यवस्थित रही। अमेरिका एवं इंग्लैंड में तो दास-प्रथा का अति घृणित रूप सामने आया। दासों का निर्दयता-पूर्वक उत्पीड़न एवं शोषण होता था। इनके साथ पशुवत-व्यवहार किया जाता था। निश्चय ही कुषाण-कालीन भारत में दासों की उतनी दुर्दशा न थी। इस कथन की पुष्टि मैगस्थनीज के विवरण से होती है जिसमें वह लिखता है कि भारतीय दास नहीं रखते।[353] मेगस्थनीज अपने देश की दास-प्रथा से परिचित था अतएव जब उसने भारतीय दासों की संतोषजनक स्थिति देखी तो मानो सन्तुष्ट हो उसने कहा कि भारतीय दास नहीं रखते।

वस्तुतः भारत में कुषाणकाल में दास थे। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है।[304]

(क) युद्ध बन्दी
(ख) भोजन के लिए बना हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ग) दासी-पुत्र

(घ) खरीदा हुआ

(च) माता-पिता द्वारा दिया हुआ

(छ) वसीयत में प्राप्त

(ज) राजदण्ड भुगतान के लिए बना हुआ

महाभारत में 88000 स्नातकों में प्रत्येक स्नातक के लिए 30 दासियों के दान की चर्चा है।[305] याज्ञवल्क्य वर्णों के अनुरूप दासों का उल्लेख करते हैं यथा—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ब्राह्मण के, इसी प्रकार वैश्य व शूद्र क्षत्रिय के एवं शूद्र वैश्य के दास हो सकते हैं।[306]

पुनः प्रश्न है कि क्या शूद्र एवं दास एक ही थे अथवा भिन्न ? मनुस्मृति से स्पष्ट होता है कि शूद्र एवं दास पृथक् थे यद्यपि दोनों का कर्त्तव्य द्विज-सेवा था। इतिहासकार शर्मा के अनुसार सभी शूद्र दास नहीं हो सकते।[307] उल्लेख है कि शूद्र की दासी पत्नी की सन्तान दासी होगी। अधिकांशतः दास शूद्र वर्ण से लिए जाते थे पर कतिपय उदाहरणों में शूद्रों द्वारा दासत्व ग्रहण किया गया प्राप्त होता है। विहित है कि शूद्र की अनुमति द्वारा ही दासी की सन्तान संपत्ति की अधिकारी होती है।[308]

प्राप्त साहित्यिक उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि मौर्यकालीन भारत में दासों की स्थिति शोचनीय थी। अतएव अभिलेखों में 'अशोक दासों के प्रति जनसाधारण के कर्तव्यों को पुनः पुनश्च उद्घोषित करता है परन्तु कुषाण काल में विविध राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि कारणों से दासों की सामाजिक स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार आया था जिनका विवरण इस प्रकार है—

(क) यद्यपि कतिपय मजदूर-वर्ग के दास अद्यावधि तिरस्कृत थे, सामान्यतया परिवारों में वृद्धि एवं उत्तराधिकार से चले आ रहे दासों के साथ पर्याप्त सहानुभूतिपूर्ण उदार-व्यवहार किया जाता था। अतएव पारिवारिक दास बाह्य रूप से परिवार के सदस्य ही प्रतीत होते थे।

(ख) यदि कोई अतिथि आ जाये तो अतिथि-भोजन के उपरान्त प्रथम दास को तदुपरान्त गृहस्थ को भोजन कराने की अनुमति थी।

(ग) दास को स्वामी की छाया माना जाता था।[309]

(घ) स्वामी को दास को डाँटने के आदेश न थे।

(च) याज्ञवल्क्य ने दास-सम्बन्धी एक अन्य विधान बनाया था। यदि दास स्वामी को किसी प्राण-लेवा आपत्ति से मुक्त करे तो दासत्व से भी मुक्त हो सकता है।[310] अन्य स्मृतिकार यह कार्य करने पर दास को पुत्रवत सम्पत्ति का अधिकारी मानते हैं। सम्भवतः दासों को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता न देने के उद्देश्य से मनु ने उनकी सम्पत्ति पर उनके स्वामी का अधिकार माना था।[311]

(छ) स्वामी की अनुपस्थिति में दास द्वारा किया गया कानूनी कार्य उचित माना जाता था हालांकि स्वामी के आने पर उसकी स्वीकृति आवश्यक थी।[312] इससे स्वामी का दास पर विश्वास दृष्टिगोचर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ज) अन्य गवाहों के न होने पर दास गवाही दे सकता था।[313]

(झ) राजा को स्पष्ट निर्देश थे कि साधारण कार्य करने वाले निकृष्ट दास-दासी के लिए प्रतिदिन 1 पण, 6 मास में 1 जोड़ा वस्त्र, प्रतिमास 1 द्रोण धान्य और उत्तम दास-दासी के लिए प्रतिदिन 6 पण वेतन दे।[314]

यद्यपि दास तो दास ही थे। समाज में उन्हें निम्नतम स्थान प्राप्त था। उच्च-वर्णों की सेवा उनका धर्म था तथापि उनकी स्थिति सन्तोषजनक होना निःसन्देह भारतीय-संस्कृति की देन है जिसमें मानवमात्र के साथ मानवीय-व्यवहार करना परम-धर्म एवं आदर्श माना जाता था। तत्कालीन बौद्ध-धर्म की जो हवा प्रवाहित हो रही थी उससे भी इस विचारधारा को पर्याप्त-बल (समर्थन) मिला था।

निष्कर्ष

कुषाण-कालीन वर्ण-व्यवस्था के मूल स्वरूप की जानकारी तत्कालीन ब्राह्मण, बौद्ध व जैन साहित्य के सम्यक् अध्ययन द्वारा होती है। सर्वप्रथम कुषाण वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठिभूमि में शुंग वर्ण-व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है चूँकि कुषाण-काल के पूर्व उत्तर व दक्षिण भारत में ब्राह्मण-राज्य स्थापित हुए थे। इन्होंने बौद्ध-धर्म द्वारा आहत वैदिक-कालीन वर्ण-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। कुषाण-शासकों के आगमन से, जो वर्ण-व्यवस्था से पूर्णतः अनभिज्ञ थे साथ ही उनके द्वारा बौद्ध-धर्म स्वीकार करने, जिसमें वर्ण-व्यवस्था को किंचित् मात्र महत्व नहीं दिया गया था, ब्राह्मण-वर्ण को कतिपय आघात पहुँचना स्वाभाविक था। यद्यपि विदेशी शासकों ने प्रचलित व्यवस्था के प्रति विरोधी-नीति का अनुसरण न करके सामंजस्य ही स्थापित किया था जो उनके द्वारा मान्य भारतीय देवी-देवताओं की सूची से स्पष्ट है। हालाँकि कुषाण शासक धर्म-सहिष्णु थे, पर उन्होंने भारतीय देवी-देवताओं को प्रधानता दी थी। वीम कैडफाइसेस तो पूर्ण शैव था ही। पुनः वासुदेव के समय से कदाचित् उनका पूर्णतः भारतीयकरण हो गया था। जैसा कि उसके नाम से प्रतिभासित है चूँकि प्रमुख कुषाण-शासक कनिष्क के काल में बौद्ध-धर्म को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ था अतः शुंग-कालीन प्रयासों को निःसन्देह अभीष्ट तीव्र गति न मिल सकी। कुषाणकालीन बौद्ध व जैन साहित्य से भी ब्राह्मण-विरोध परिलक्षित होता है। उसमें वर्ण-विभाजन को कोई स्थान न था। कर्म को ही उच्च-वर्ण का आधार माना गया। साहित्य-ग्रन्थों में एक वर्ण मनुष्य-वर्ण वर्णित हुआ है। वस्तुतः बौद्ध धर्म का उदय ही शूद्र आक्रोश का प्रतिफल था जिसका मुख्य विषय (वर्ण विभाजन) ब्राह्मण वर्ण द्वारा शूद्रों के प्रति अधिकारों का दुरुपयोग करना था। अतः ऐसा अनुमान है कि क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का स्थान ग्रहण कर लिया था। तथा ब्राह्मणों को इससे जो आघात लगा उसे पुनः गुप्तकाल में वह प्राप्त कर सके थे। जैन परम्परा में ब्राह्मण का स्थान क्षत्रिय के बाद है। इसी कारण जब वर्धमान महावीर ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ में थे तो इन्द्र की आज्ञा से उनके भ्रूण को नैगभेश ने क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित किया। इस कथानक से सम्बन्धित एक एक प्रस्तर-अंश राज्य-संग्रहालय लखनऊ जे० 626 में विद्यमान है। परन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण गौरव पूर्ववत रहा। यद्यपि अब उन्हें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकारों के दुरुपयोग की अनुमति न रह गई थी क्योंकि ब्राह्मण विरोध के बाद भी दान ग्रहण करने योग्य वही माने गये, अध्यापन कार्य उन्हीं का था एवं पुरोहिती पर भी उन्हीं का अधिकार रहा। इसके अलावा भी समस्त महत्वपूर्ण कार्यों के योग्य ब्राह्मणों को ही माना गया था। उनके विशेषाधिकार अन्य वर्ण को नहीं दिये गये थे। अतः स्पष्ट रूप से कहना कि ब्राह्मण वर्ण को वर्ण क्रम में द्वितीय स्थान मिला था सर्वथा अनुचित है।

तत्कालीन समाज में बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप निश्चय ही क्षत्रिय वर्ण का प्रभाव पूर्व काल की अपेक्षा अधिक हो गया था। अब ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण एक दूसरे के आवश्यक अंग माने जाने लगे थे। दोनों वर्णों की गणना उच्च वर्ग के अन्तर्गत होने लगी। निःसन्देह वैश्य-वर्ण की सामाजिक दशा में उल्लेखनीय परिवर्तन आया था। शिल्प-शास्त्र ने इस काल में महत्वपूर्ण उन्नति की जिससे यह अत्यधिक समृद्धशाली हो गए थे। अतः विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान द्वारा उच्च-वर्णों ने इनका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। शिल्प-शास्त्र के विकास में शूद्रों का सहयोग श्लाघनीय रहा। इससे उनकी सामाजिक व आर्थिक दशा में आश्चर्यजनक सुधार आया था। अब समाज में चारों वर्णों की महत्ता स्पष्ट हो चुकी थी। समाज के सुचारु रूप से संचालन हेतु सभी वर्णों की परमावश्यकता को स्वीकार कर लिया गया था। यह सुव्यवस्थित वर्ण-व्यवस्था का सूचक था।

दास-प्रथा विश्व के अन्य भागों के समान भारत में भी विद्यमान रही। समाज में उन्हें निम्नतम स्थान प्राप्त था। उच्च-वर्णों की सेवा उनका धर्म था। इस युग में दासों की सामाजिक दशा पर्याप्त संतोषजनक हो गई थी।

स्मृति-साहित्य में प्रतिपादित जात्युत्कर्ष सिद्धान्त द्वारा तत्कालीन समाज में जन्म पर आधारित जाति-बन्धन ढीले हो गये थे तथा विवाह और व्यवसाय सम्बन्ध द्वारा भी जाति की उन्नति एवं अवनति सम्भव थी।

निःसन्देह कुषाण-शासकों के भारत-आगमन एवं बौद्ध व जैन धर्म स्वीकार करने से वर्ण-व्यवस्था की अक्षुण्णता में कतिपय ह्रास आया। संस्कार-विहीन कुषाण-शासकों द्वारा अन्तर्जातीय विवाह एवं व्यवसायों के आधार पर धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक कारणों से समाज में अनेकानेक वर्ण संकर-जातियों के उत्पन्न होने से बहुजटिल जाल-सा विस्तृत हो गया था जो सामाजिक-व्यवस्था का द्योतक है। अतः शासकों के अथक् प्रयास द्वारा उपरान्त-काल में वर्ण-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने में सफलता मिली। फलस्वरूप मनुस्मृति में वर्ण चतुष्ट्य के सामान्य-धर्म सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शुद्धता, दान, क्षमा, दया, इन्द्रिय-निग्रह आदि निर्धारित किये गये।

सन्दर्भ

1. मनु० 3।15, 10।24, 10।31
2. दिव्या, 328।4
3. याज्ञ०, 1।10
4. गीता, 18।41
5. मनु०, 1।87, याज्ञ०, 1।10

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6. महाव०, 2।139
7. दिव्या०, 32616-7
8. वही, 324।17-22
9. वही, 33।15-6; 32815-6
10. म० भा०, 12।29616
11. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 114
12. ब्र० वा०, 1981, पृ० 56
13. मनु०, 2।31-2, होपकिन्स, आ० म०, पृ० 20
14. काम०, 1।4।1
15. चक्लधर, एच० सी०, सोशल लाइफ इन एंशियंट इण्डिया, पृ० 75
16. केतकर, एस० बी०, हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ० 98-9
17. मनु०, 1।99, 1।93; 10।3
18. दिव्या०, 323।27
19. महाभा०, 6, 2, 1, 188
20. मनु०, 2।135, विष्णु०, 32।17
21. महाव० 2।52
22. दिव्या०, 328।23-9; 329।1-4
23. मनु०, 10।75
24. ब्र० वा०, 1981, पृ० 57
25. याज्ञ०, 1।39
26. मनु०, 10।1; 2।166; 11।235
27. याज्ञ०, 1।198
28. महाभा०, 2, 1, 1, 15
29. याज्ञ०, 1।48; 1।40
30. शेरिंग, एम० ए०, वही, पृ० 3
31. मनु०, 1।100-1, 4, 5, 6, 14, 15
32. ब्र० वा०, 1981, पृ० 58
33. मनु०, 10।1, 103
34. वही, 2।239
35. वही, 2।168
36. पुरी इन० अन० कुषा०, पृ० 136
37. मनु०, 3।152
38. महाभा०, 2, 2, 1, 427
39. मनु०, 1।86
40. याज्ञ०, 1।27
41. मनु०, 4।193-200; 7।85; 8।392

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

42. बिष्णु०, 9।7-13
43. मनु०, 4।194; 4।235; 4।229-34; 1।6
44. वही, 4।236; 37; 11।10
45. काम०, 1।4।1
46. दिव्या०, 27।6
47. मनु०, 11।24
48. चक्लधर, एच० सी०, वही, पृ० 74
49. मनु०, 10।103; 10।83
50. वही, 10।116
51. याज्ञ०, 1।42
52. अवदान०, 6।29।5
53. मनु०, 9।319
54. महाव०, 11।14-6
55. मनु०, 8।348-9
56. दिव्या०, 322।19-20
57. याज्ञ०, 2।4
58. मनु०, 8।378-81
59. याज्ञ०, 2।82
60. दिव्या०, 322।17-8
61 मनु०, 8।417
62. जायसवाल, जे० पी०, मनु० एण्ड याज्ञवल्य, पृ० 171
63. मनु०, 1।94
64. शर्मा, आर० एन०, ब्रह्मिन्स थ्रू दि एजेज, पृ० 180
65. मनु०, 9।313-21, 11।84
66. म० भा०, 3।303।16
67. महाभा०, 2, 2, 2, 473, 5, 1, 115, 347
68. ब्र० वा०, 1981, पृ० 58
69. मनु०, 1।96
70. महाव०, 3।418
71. सौ०, 1।19
72. लाल, ए०, संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भारतीय-जीवन, पृ० 230
73. ब्र० वा०, 1981 पृ० 55
74. मनु०, 7।3-6
75. सौ०, 2।39
76. मनु०, 7।8-9, 12
77. याज्ञ०, 1।119

State Museum Library Lucknow 5128

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

78. मनु०, 9।322; 7।37; 7।59 7।136
79. शर्मा, आर० एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 184
80. सौ०, 2।15, 18।1
81. गीता, 18।43
82. मनु०, 2।170, 10।110
83. आयवायर, जे०, वही, पृ० 26
84. झां, जी० एन०, वही, पृ० 285
85. मनु०, 10।83-4; 10।95
86. वही, 10।80
87. सौ०, 2।41
88. आयवायर, जे०, वही, पृ० 27
89. मनु०, 10।1
90, वही, 7।133
91. वही, 7।379-81
92. वही, 10।43-4
93. मिलिन्द०, 358
94. मनु०, 9।189
95. वही, 7।13-4, 18,20
96. मनु, 11।126-8
97. वही, 7।82-5
98. सौ०, 2।40
99. लाल, ए०, वही, पृ० 224
100. दिव्या०, 324।15-22, 324।7-10
101. वही, 325।13-14
102. बु० च०,23।59
103. महाव०, 1।267
104. लाल, ए०, वही, पृ० 226
105. दिव्या०, 332।17
106. डेविड्स, आर०, बुद्धिस्ट इण्डिया, अध्याय 4
107. मनु०, 7।31-3
108. वही०, 1।90
109. गीता, 18।44
110. मनु०, 9।326-8
111. आयवायर, जे०, वही, पृ० 27
112. मनु०, 9।330-2
113. दिव्या०, 329।5, 6, 14

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

114. महाव०, 3।113
115. मिलिन्द०, 178
116. मनु०, 10।97
117. मिलिन्द०, 178
118. एपि० इन०, 21, 10, पृ० 55 से, लूडर्स, न० 10
119. याज्ञ०, 2।192; 1।360
120. एपि०, इन०, 21, 10, 60 समितकर
121. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 179
122. मनु०, 8।179
123. वही, 11।34
124. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 175
125. मनु०, 8।418
126. वही, 12।43, 46, 48
127. मनु०, 10।99-100
128. लूडर्स, न० 53, 54, 68, 76, 95, 331, 345, 381, 1006, 1051, 1061, 1210, 1230
129. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 177
130. महाभा०, 1, 1, 1, 19
131. लूडर्स, न० 32, 53-4, 345, 857, 1005, 1092
132. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 177
133. महाव०, 2।463-78
134. वही, 3।442 से
135. मिलिन्द०, 331
136. पन्नवण, 1।61
137. मिलिन्द०, 331
138. मिलिन्द०, 331
139. महाव०, 3।442
140. मनु०, 8।124-5; 8।104-5; 11।66, 128-9
141. मनु०, 8।68; 62; 113
142. वही, 8।267, 270, 277; 11।18
143. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ 180
144. मनु०, 1।33
145. गीता, 18।44
146. मनु० 1।61, 9।334, 8।413, 10।123
147. मनु०, 10।121-2
148. होर्मकिम म्यु० रि० फो० का० ए० मा० ध०, पृ० 83

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

149. मनु०, 8।410; 10।124-5; 10।99
150. म० भा०, 12।29।14
151. याज्ञ०, 1।120
152. मनु०, 12।72; 9।337
153. वही, 8।418
154. केतकर, एस० वी०, वही पृ० 113
155. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 203
156. वागले, एन० सोसायटी एट दि टाइम आफ बुद्धा, पृ० 133
157. मिलिन्द०, 178
158. केतकर, एस० वी०, वही, पृ० 98
159. महामा०, 2, 1, 1, 33
160. मनु०, 8।243; 231, 237-8
161. मनु०, 8।215-17, 10।120
162. ज० वि० रि० सो०, 1974, 60, पृ० 144
163. मिलिन्द०, 147
164. मनु०, 10।99-100
165. रंगास्वामी, ए० के० बी०, आसपेक्ट्स ऑफ पालिटिकल एण्ड सोशल सिस्टम ऑफ मनु, पृ० 148
166. लूडर्स नं०, 53, 54, 68, 76, 95, 345, 495, 857, 1006, 1298
167. वही, नं० 32, 53-4, 345, 857, 1005, 1092, 1129
168. दिव्या०, 304।7-8
169. सद्धर्म०, 4।77।3-5; 4।78।1
170. विलियम्स, एम० एम०, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०
171. प० पा० ग्रा०, 1,2,47 और 6,3,61 कुड़वीभूतं वृषल कुलामिति
172. दिव्या०, 304।2,3,5,6
173. मनु०, 10।4; 2।16; 1।102
174. याज्ञ०, 3।148
175. मनु०, 4।80-1; 3।156; 10।126; 9।86-7; 1।124
176. म० भा०, 12।328।49; 1।62।22, 1।95।87
177. काणे, पी० वी०, वही, पृ० 163
178. प्रतिमा-नाटक, 3।5
179. याज्ञ०, 1।97, मनु० 3।67
180. मनु०, 10।127; 2।31-2
181. मनु०, 8।417, 179; 10।129; 1।134
182. जायसवाल, के० पी०, मनु० एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० 171
183. मनु०, 8।179

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

184. एपि० इन०, 21, 10, 60-1
185. मनु० 4।61
186. मिलिन्द०, 358
187. वही, 358
188. मनु०, 10।43-4; 5।84
189. केतकर, एस० वी०, वही, पृ० 135
190. मनु०, 8।20
191. महाभा०, 8,2,1, 82-3
192. मनु०, 5।105
193. म० भा०, 3।165।10
194. म० भा०, 1।63।12-4
195. गीता, 18।45
196. मनु०, 10।126
197. विष्णु०, 71।48-52
198. याज्ञ०, 1।166
199. मनु०, 4।223
200. याज्ञ०, 1।168
201. मनु०, 4।211
202. महाव०, 1।188
203. मनु०, 11।153; 4।211
204. मनु०, 4।215-6; 3।110, 12
205. वही, 11।24
206. मनु०, 8।20-1
207. जायसवाल, के० पी०, वही, पृ० 150
208. मनु०, 8।68, 62, 62, 70
209. वही, 8।65-6, 120-5, 270-2, 279-84
210. महाव०, 1।18
211. सद्धर्म०, 24।289।25
212. मनु०, 8।366
213. याज्ञ०, 3।236
214. मनु०, 11।130-1
215. जायसवाल, के० पी, वही, पृ० 150
216. सरकार से० इन०, 1, पृ० 197
217. मनु०, 3।196-8
218. वही, 10।4
219. वही, 10।24

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

220. वही, 10।43-5
221. म० भा०, 12।65।13
222. मनु०, 10।48
223. म० भा०, 12।29।18
224. मनु०, 10।10, 14
225. म० भा०, 12।29।18
226. मनु०, 10।8
227. म० भा०, 13।48।10
228. मनु०, 10।50
229. याज्ञ०, 1।92
230. म० भा०, 12।29।18
231. मनु०, 10।13
232. म० भा०, 12।29।18
233. मनु०, 10।17, 47
234. म० भा०, 12।29।18
235. मनु०, 10।17
236. म० भा०, 13।48।10
237. मनु०, 10।47
238. याज्ञ०, 1।92
239. वही, 1।91
240. म० भा०, 12।29।18
241. मनु०, 10।12, 13, 16-17, 47, 49, 50
242. म० भा०, 13।48।10
243. मनु०, 10।12-3
244. याज्ञ०, 1।93, 103
245. मनु०, 10।51-6; 10।16
246. वही, 10।15
247. म० भा०, 16।7।46-63
248. मनु०, 10।15
249. म० भा०, 12।29।18
250. मनु०, 10।18
251. मनु०, 10।51-6
252. वही, 10।19, 49
253. वही, 10।32
254. म० भा०, 4।9।18-9
255. मनु०, 10।33

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

256. वही, 10।34
257. वही, 10।37
258. वही, 10।37
259. वही, 10।36, 48
260. वही, 10।36
261. वही, 10।15
262. वही, 4।215
263. म० भा०, 7।121।13, 12।65।13
264. याज्ञ०, 1।322
265. मनु०, 3।174
266. याज्ञ०, 1।93
267. मनु०, 1।174-5
268. म० भा०, 12।65।13, 3।177।12
269. मनु०, 4।216
270. याज्ञ०, 1।95
271. मनु०, 10।43-4
272. वही, 4।79
273. वही, 4।79
274. म० भा, 12।141।29-32
275. मनु०, 4।79; 8।279; 4।6; 10।48
276. महाभा०, 2, 4, 10
277. वही, 2।4, 10
278. मनु०, 4।214
279. वही, 10।48
280. वही, 10।21
281. म० भा०, 12।65।13, 7।121।13
282. मनु०, 10।23
283. महाभा०, 2, 4, 10
284. मनु०, 4।216
285. महाभा०, 4, 1, 97
286. याज्ञ०, 2।48
287. म० भा०, 12।65।13
288. मनु० 4।214
289. याज्ञ०, 2।48
290. मनु०, 4।216
291. वही, 10।23

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

292. वही, 9।292
293. वही, 10।38
294. वही, 10।20-22
295. वही, 10।23, 44, 45, 61
296. सरकार से० इन०, 1, पृ० 197
297. शर्मा, आर० एस०, वही, पृ० 198
298. महाभा०, 1, 2, 47 और 6, 3, 61
299. वही, 5, 3, 66
300. मनु०, 10।64
301. याज्ञ०, 1।96
302. म० भा०, 9।39।36-7
303. मैक्रिण्डल, जे० डब्ल्यू०, मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० 71
304. मनु० 8।415
305. म० भा०, 4।18।21
306. याज्ञ०, 2।183
307. शर्मा शू० एन०, इन०, पृ० 196
308. मनु०, 9। 179
309. मनु०, 4।184-5
310. याज्ञ०, 2।182
311. मनु०, 8।416-7
312. वही, 8।199
313. वही, 8।70
314. वही, 7।126

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4

आश्रम-व्यवस्था

'आश्रम' शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से होती है जिसका अभिप्राय परिश्रम या चेष्टा करना है। इसकी व्यवस्था निम्न प्रकार भी की जा सकती है 'आश्रम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः' अर्थात् ऐसा जीवन-स्तर जिसमें व्यक्ति जीवन-पर्यन्त श्रम या चेष्टा—प्रयास करता रहता है।

प्राचीन काल से ही आश्रम-व्यवस्था सामाजिक-संगठन का प्रमुख अंग रही है। कुषाण सामाजिक-व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था के समान ही आश्रम-व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान था। आश्रम-व्यवस्था में निर्धारित नियमों के सम्यक् पालन द्वारा ही मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम को करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा नहीं, प्रायः ऐसी धारणा थी। इसी को दृष्टिगत कर तत्कालीन मानव-जीवन चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। इनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से अभिन्न सम्बन्ध था। संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में वानप्रस्थ-आश्रम के अतिरिक्त सभी आश्रमों का उल्लेख हुआ है। बौद्धाचार्य अश्वघोष ने मानव-जीवन को त्रिवर्गों में विभक्त कर प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् पुरुषार्थों का निर्धारण करते हुए युवक हेतु काम, मध्य अवस्था वाले हेतु अर्थ और वृद्ध हेतु धर्म का निर्धारण किया था।[1]

सर्वप्रथम चारों आश्रमों के मूल-स्वरूप को जान लेना उचित होगा। सामान्यतया मानव जीवन 100 वर्ष का माना गया था जिसमें सभी आश्रमों की अवधि क्रमशः 25-25 वर्ष की निर्धारित थी यथा—प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्य-आश्रम, 25 से 50 वर्ष गृहस्थाश्रम, इसी प्रकार 50 से 75 वर्ष वानप्रस्थाश्रम एवं 75 से 100 वर्ष संन्यास-आश्रम के माने गये चूंकि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति 100 वर्ष तक ही जीवित रहे। ऐसी परिस्थिति में आश्रमों की अवधि का क्या स्वरूप था उस विषय में मतमतान्तर हैं। संभवतः आश्रमों की अवधि कम या अधिक करना सम्भव था।

मनुस्मृति में विहित हुआ है कि द्विज प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। तत्पश्चात् 50 वर्ष के उपरान्त वानप्रस्थ एवं यति-जीवन व्यतीत करे।[2] अब प्रश्न आता है कि क्या यह आवश्यक था कि व्यक्ति इसी क्रम का पालन करे अथवा ब्रह्मचर्य-आश्रम के बाद यदि वह विवाह न करना चाहे तो वानप्रस्थ अथवा

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है। इस विषय में इतिहासकारों ने अपने-अपने विवेक द्वारा क्रमशः प्रथम दो आश्रमों को, किसी ने प्रथम तीन आश्रमों को आवश्यक माना है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य-स्मृति में गृहस्थाश्रम से सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अनुमोदन किया गया। बौद्ध व जैन जीवन में भी वानप्रस्थाश्रम को नहीं स्वीकार किया गया था। जबकि मनुस्मृति में उपरोक्त क्रम को ही परमावश्यक बताया गया है। वर्णित है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति वह चारों ही आश्रमों में रहकर समुचित प्रकार से कर सकता है यथा—ब्रह्मचर्याश्रम में धर्म, गृहस्थाश्रम में अर्थ व काम एवं शेष दोनों आश्रमों में मोक्ष-प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार के त्याग आदि श्रेष्ठ-आचरण। इस प्रकार ही वह मोक्ष का फल पा सकता है। कामसूत्र में व्यक्ति के जीवन लक्ष्यों का विवरण इस प्रकार है। उसे बाल-अवस्था में विद्या-अर्जन, युवावस्था में लौकिक आनन्द एवं वृद्धावस्था में धर्म द्वारा मोक्ष-प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।[3] यदि वह विवाह अथवा ब्रह्मचर्य न करके अर्थात् वेदों को बिना पढ़े, पुत्रोत्पत्ति के बिना, इसी प्रकार यज्ञ अनुष्ठान किए बिना, देवपितरों के ऋण से उऋण हुए बिना मोक्ष की आकांक्षा करता तो सर्वथा असम्भव था।[4]

ब्रह्मचर्य-आश्रम

अवदान-शतक में[5] मानव जीवन का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य-आश्रम से हुआ स्वीकार किया गया। जिसमें ब्रह्मचारी रूप में वह शिक्षा और ज्ञानार्जन करता था।[6] ब्रह्मचर्याश्रम सदाचरण पर आधारित था। सौन्दरनन्द में उल्लेख है कि ब्रह्मचारी को अत्यन्त सूक्ष्म दोषों में भी भय अनुभव करते हुए अपना व्रत दृढ़ रखना चाहिए।[7] विद्याध्ययन के पूर्व प्रार्थी को ब्रह्मचर्याश्रम पालन हेतु प्रतिज्ञा करनी आवश्यक थी—चरेयमहं ब्रह्मचर्याभूमे।[8] इस आश्रम में प्रवेश उपनयन-संस्कार द्वारा होता था। स्मृतियों में ब्राह्मण-बालक का 8वाँ वर्ष, क्षत्रिय का 11वाँ वर्ष तथा वैश्य-बालक का 12वाँ वर्ष यज्ञोपवीत के लिए उपयुक्त माना है। धर्म-ग्रन्थों में यज्ञोपवीत की गणना के विषय में पर्याप्त भेद हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वर्षों की गणना गर्भ धारण करने के समय से होनी चाहिए।[9] महाभाष्य में भी इसका मुक्तकण्ठ से समर्थन किया गया है। जबकि अन्य मतानुसार गणना जन्म से की जानी चाहिए। मनुस्मृति में विहित है कि ज्ञानाधिक्य के लिए ब्राह्मण बालक का 5वें वर्ष में, हाथी, घोड़ा, पराक्रम आदि के इच्छुक क्षत्रिय का छठे वर्ष में तथा धन-सम्पत्ति हेतु वैश्य-बालक का उपनयन 8वें वर्ष में होना चाहिए। वैसे उपनयन की अधिकतम आयु क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए 16, 22, 24 वर्ष थी। इस आयु तक संस्कार न करने पर विभिन्न वर्ण व्रात्य संज्ञक कहलाते थे[10] जब तक कि प्रायश्चित न कर लें। याज्ञवल्क्य ने तो प्रायश्चित में व्रात्य स्तोम को उपयुक्त कहा है।[11] इस प्रकार जाति-पतन अथवा जाति बहिष्कृत होने पर पुनः उस जाति में प्रवेश करने के लिए प्रायश्चित करके बन्धु-बान्धव एवं सपिण्ड वालों के साथ शुद्ध-जलाशय में स्नान करके जलपूर्ण घड़े को उसी में छोड़ दिया जाता था। उक्त कृत्य को करके वह पूर्ववत सभी कार्यों के योग्य हो जाता था।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपनयन संस्कारोपरान्त ब्रह्मचारी को शपथ लेनी होती थी कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, केश एवं क्षौर को बढ़ने देगा, सत्य ही भाषण करेगा, मांसादि का त्याग कर सर्वदा पवित्र वस्तुओं का सेवन करेगा आदि-आदि। याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्रह्मचारी के लिए दण्ड, चर्म-वस्त्र, यज्ञोपवीत और मेखला को परमावश्यक माना है।[12] अवदान शतक में विवरण है कि ब्रह्मचारी की वेशभूषा भिन्न होती थी। इसे धारण करने वाले को ब्रह्मचर्यवासः कहा जाता था।[13] मनु ने ब्रह्मचारी के वस्त्रों का विस्तृत उल्लेख किया है। बालक ब्रह्मचारी के लिए दुपट्टे के स्थान पर कृष्ण-मृग का उत्तरीय तथा धोती के स्थान पर सन के वस्त्र का अधोवस्त्र उपयुक्त माना था। इसी प्रकार क्षत्रिय ब्रह्मचारी को रुरु-मृग और रेशम के वस्त्र एवं वैश्य के लिए बकरे के चमड़े तथा भेड़ के बाल से निर्मित वस्त्र निर्धारित था। विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए मेखला भी भिन्न-भिन्न बताई गई है। उल्लेख है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी तिगुनी बराबर और चिकनी मुंज की मेखला तथा वैश्य सन की रस्सी से निर्मित मेखला को धारण करे। परन्तु मुंज आदि के न मिलने पर सभी वर्णों को क्रमशः कुश, अश्मन्तक, और बल्वज की बनी मेखला धारण करनी होती थी।[14] याज्ञवल्क्य स्मृति में यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र कहा गया है।[15] विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों का यज्ञोपवीत कैसा हो इस विषय में मनुस्मृति द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का यज्ञोपवीत सन के बने सूत का और वैश्य का यज्ञोपवीत भेड़ के बाल का ऊपर से ऐंठा हुआ तीन लड़ी वाला होता था। यज्ञोपवीत दाहिने हाथ के ऊपर एवं बाएँ हाथ के नीचे पहनने पर उपवीती, बाएँ कन्धे के ऊपर एवं दाहिने हाथ के नीचे पहनने पर 'प्राचीनावीती' और उक्त दोनों विधि से भिन्न माला की भाँति गले में लटकता हुआ पहनने पर 'निवीती' कहलाता था।[16] जब पितरों को पिण्डदान दिया जाता था तो प्राचीनावीती प्रकार से यज्ञोपवीत पहना जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में शौचालय जाते समय प्रायः दाएँ कान पर यज्ञोपवीत लपेटने की व्यवस्था वर्णित है।[17] साधारण नियम था कि यज्ञोपवीत किसी का कोई अन्य न धारण करे। उल्लेखनीय है कुषाण-कालीन स्त्रियों में भी यज्ञोपवीत प्रथा प्रचलित थी। इसका स्पष्टीकरण तत्कालीन स्त्री-मूर्तियों में प्रदर्शित यज्ञोपवीत से होता है।[18] यद्यपि स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार बिना मन्त्र के सम्पादित होता था। ब्रह्मचारी के चर्म-वस्त्र, मेखला, यज्ञोपवीत के समान ही दण्ड की विशद जानकारी भी स्मृति शास्त्र द्वारा हो जाती है। वर्णित है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी को बेल या पलाश का, क्षत्रिय को वट या खैर का और वैश्य ब्रह्मचारी को गूलर का दण्ड धारण करना चाहिए। यह दण्ड प्रमाण में ब्राह्मण ब्रह्मचारी का शिखा तक, क्षत्रिय का ललाट तक तथा वैश्य का नाक तक लम्बा होता था। दण्ड सीधा, सुन्दर, लोगों को भयभीत न करने वाला, छिलकों सहित एवं बिना जला हुआ होता था।[19] यद्यपि स्मृतियों में ब्रह्मचारियों के लिए अनेक सिद्धान्त उल्लिखित थे पर उनका व्यावहारिक स्वरूप क्या था कह पाना कठिन है।

ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा याचना ब्रह्मचर्य का प्रमुख अंग था। स्मृतियों में विहित है कि दण्ड-धारण कर तथा सूर्य व अग्नि परिक्रमा के उपरान्त भिक्षा याचना की जाती थी। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को भिक्षा याचना करते समय भवति भिक्षां देहि, क्षत्रिय को भिक्षां

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भवति देहि तथा वैश्य को भिक्षां देहि भवति उच्चारण करना होता था। ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी सर्वप्रथम माता, बहिन, सगी मौसी या जो अपमान न करके भिक्षा दे उससे माँगता था। कहीं अन्यत्र भिक्षा न मिलने पर ब्रह्मचारी द्वारा अपने घर, मामा आदि सम्बन्धियों एवं गुरु से भी भिक्षा माँग लेनी उचित थी। वर्णित है कि ब्रह्मचारी वेदाध्ययन, पंचमहायज्ञों एवं श्रेष्ठ कर्म करने वालों से, उनके अभाव में मौन धारण कर पूरे ग्राम में चाहे भिक्षा याचना करे परन्तु महापातकियों से कदापि भिक्षा न ग्रहण करे। ब्रह्मचारी से अपेक्षित था कि (गृहस्थ) पति की अनुपस्थिति में पत्नी से भिक्षा स्वीकार न करे। ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा में अनेक स्थानों से प्राप्त अन्न खाने से उसकी वृत्ति उपवासी मानी जाती थी। इस सन्दर्भ में स्मृतियाँ अवलोकनीय हैं।[20] केवल श्राद्धों के समय वह एक ही घर का भोजन पेट भर कर सकता था। ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा-याचना करने पर भी यदि गृहस्थी भिक्षा नहीं देता था तो उसका सारा पुण्य क्षीण हो जाता था। अतः ब्रह्मचारी एवं संन्यासी को भिक्षा आदर सत्कार पूर्वक दी जानी आवश्यक थी।[21] प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करने के पूर्व शिष्य को अभीष्ट था कि सर्वप्रथम गुरु को, गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपत्नी व गुरुपुत्र को अर्पित करे। तदुपरान्त आचमन कर पूर्व दिशाभिमुख हो अन्न ग्रहण करे। ब्रह्मचारी को झूठा भोजन छोड़ना वर्जित था। आयु, यश, धन तथा सत्य के इच्छुक ब्रह्मचारी को क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके ही भोजन करने की अनुमति थी।[22] इतिहासकार चटर्जी के अनुसार पूर्वकाल में अनेकानेक अन्य विश्वास उपनयन संस्कार के साथ सम्मिलित थे परन्तु उपरान्त के मनु एवं याज्ञवल्क्य काल में उनका उल्लेख न मिलना इस बात का संकेत है कि तत्कालीन समाज में वह मान्य न रहे। यद्यपि मनुस्मृति में किंचित् झलक मिल जाती है परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में इन अन्ध विश्वासों का सर्वथा उन्मूलन किया गया है।[23]

जैसा कि सर्वविदित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण उपनयन के योग्य माने गए थे। उपनयन होने के कारण वह द्विज कहलाते थे। वेदाध्ययन का अधिकार मात्र द्विज को था। शूद्र वर्ण को उससे वंचित रखा गया था। अब स्वाभाविक आशंका है कि क्या अन्धे, बहरे, लूले, अपंग लोगों को उपनयन का अधिकार था? मनुस्मृति के वक्तव्य से इसका समाधान हो जाता है जिसमें वर्णित है कि नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा, पागल, जड़, गूंगा और जो इन्द्रिय शून्य हों वे धन (हिस्से) के योग्य नहीं हैं।[24] यद्यपि उन्हें विवाह का अधिकार अवश्य प्राप्त था चूंकि विवाह बिना यज्ञोपवीत के सम्भव नहीं। अतः स्पष्ट है कि वे यज्ञोपवीत के भी योग्य माने गए होंगे। याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णित कुण्ड एवं गोलक सन्तानों को समिधा, धर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र आदि मौन रूप से दिया जाता था। बालक ब्रह्मचारी अपना नाम नहीं लेता, केवल आचार्य ही पके भोजन एवं घी की आहुति देता था तथा मन्त्रोच्चारण मन में करता था।[25] मनु ने इन कुण्ड व गोलकों को श्राद्ध में आमन्त्रित करने की अनुमति नहीं दी है। इसी स्रोत में 6 अनुलोम जातियों को द्विजों की क्रिया योग्य माना है।[26] याज्ञवल्क्य स्मृति में अनुलोम सन्तानों के कृत्य माता के वर्ण के अनुरूप बताए गए हैं। अतएव अनुलोम विवाहों से उत्पन्न वर्ण-संकरों की सन्तान भी उपनयन के योग्य ठहरती है।[27]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन के आरम्भ में ब्रह्मचारी को ॐ शब्द का उच्चारण करना आवश्यक है। यह ॐ शब्द अ, उ, म के संयोग से बना है जो तीनों वेदों का सारभूत रूप है। इसी ग्रन्थ में उल्लेख है यदि ब्रह्मचारी वेदाध्ययन के आरम्भ में ॐ शब्द उच्चारित न करे तो उसका अध्ययन शनैः-शनैः नष्ट हो जाता है और यदि वह वेदाध्ययन की समाप्ति पर ॐ शब्द नहीं कहता है तो उसका अध्ययन स्थिर नहीं रह पाता।[28]

उपनयन-संस्कार के उपरान्त एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व ब्रह्मचारी को नित्य प्रातः एवं सायंकाल हवन, भिक्षा-याचना, पृथ्वी शयन तथा गुरुहित के कार्य, नित्य प्रति स्नान, देवों, ऋषियों व पितरों को तर्पण करना आवश्यक था। इसी प्रकार जल देवताओं के लिए मन्त्रोच्चारण करते हुए स्नान करना, खड़े होकर सूर्य उपासना एवं प्राणायाम सहित नित्य गायत्री मन्त्र का जाप करना भी आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य कर्तव्य जो पूर्ण छात्र जीवन तक चलते थे निम्न थे—आचमन, गुरु सुश्रुषा, वाक्संयम तथा समिधादान आदि। याज्ञवल्क्य एवं मनुस्मृतियों में इन क्रियाओं सम्बन्धी विस्तृत विधि विधान का भी उल्लेख मिलता है।[29] हवन प्रतिदिन न करने पर ब्रह्मचारी को अवकीर्णी व्रत प्रायश्चित स्वरूप करना पड़ता था।[30]

ब्रह्मचारी के लिए सन्ध्या, प्रातः एवं सायंकाल दो प्रहर नितान्त आवश्यक कही गई थी। प्रातः से तात्पर्य सूर्य निकलने के पूर्व से सूर्य उदय तक तथा सायंकाल सूर्यास्त से तारे निकलने तक का समय था। इतिहासकार काणे के अनुसार सन्ध्या शब्द प्रार्थना या पूजा के अतिरिक्त दिन एवं रात का भी द्योतक है।[31] सन्ध्या दोनों प्रहर न करने पर द्विज को द्विज कर्मों से बहिष्कृत करने का निर्देश था।[32]

वेदाध्ययन के प्रसंग में मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में आचार्य की महत्ता का विशद विवरण मिलता है। उल्लेख है यद्यपि पिता और आचार्य दोनों ही पितृवत हैं परन्तु जन्म देने वाले पिता से उच्चतम स्थान ब्रह्मज्ञान देने वाले आचार्य का है जिनसे न केवल इहलोक प्रत्युत् परलोक दोनों ही बन जाते हैं। एक अन्य सन्दर्भ में वर्णित हुआ है कि आचार्य उपाध्याय से दस गुना, पिता आचार्य से सौ गुना तथा माता पिता से सहस्र गुना महत्व रखती है। सर्वप्रथम आचार्य की परिभाषा में स्मृतियों में विहित हुआ है कि जो ब्रह्मचारी का उपनयन करता है, उसे वेद पढ़ाता है वही आचार्य है।[33] इसी में आगे आया है कि जो अध्यापक वेद का शुद्ध ज्ञान कराता है उसे माता-पिता के समरूप ही देखना चाहिए। आचार्य उपनयन के उपरान्त शिष्य को शारीरिक शुद्धता, प्रतिदिन के करणीय कार्य, अग्नि में समिधा डालना एवं सन्ध्या-वन्दना की विधि समझाता था।[34] याज्ञवल्क्य भी इसका समर्थन करते हैं। वर्णित है कि गुरु की सवर्ण पत्नियाँ यद्यपि गुरु समान पूजनीय थीं तथापि उनके तेल लगाना, केश सज्जा, पुष्प सज्जा आदि कार्य ब्रह्मचारी को वर्जित थे। इसी प्रकार गुरु पुत्र का आदर शिष्य शुद्ध होकर कर सकता था।[35]

गुरु वेदारम्भ के समय ब्रह्मचारी से 'हे शिष्य पढ़ो। तथा समाप्ति पर 'अब पढ़ना समाप्त करो' कहता था। वेदाध्ययन द्विज का परम धर्म था। याज्ञवल्क्य ने यज्ञ, तप, संस्कार आदि को करने के लिए वेदाध्ययन की सार्थकता बताई है। वर्णित है कि हालाँकि सभी

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेदों का अध्ययन श्रेष्ठतम है परन्तु चारों वेदों के लिए बड़ी आयु चाहिए।[36] अतः समयाभाव में केवल एक वेद पढ़ लेना उपयुक्त है।[37] प्रायः तत्कालीन शिष्य एक ही गुरू के पास जाते थे पर अपवाद-स्वरूप ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब शिष्य विख्यात गुरू की विद्वता से आकर्षित हो उनके पास पलायन कर जाते थे।

वेदारम्भ के पूर्व ब्रह्मचारी को विधिपूर्वक आचमन करके, ब्रह्मांजलि बाँधकर, हल्के वस्त्रों को धारण कर, जितेन्द्रिय हो, वेद पढ़ने के पूर्व एवं पश्चात् गुरू के चरण-स्पर्श करने होते थे।[38] ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन ब्राह्मण-गुरू से ही ग्रहण करना उचित था चूंकि वही वास्तविक अधिकारी था परन्तु उसकी अनुपस्थिति में किसी अन्य गुरू द्वारा भी अध्ययन किया जा सकता था। विदित है कि शुद्ध-ज्ञान तो भिन्नवर्ण से भी ग्रहण करने योग्य है।[39] याज्ञवल्क्य प्रस्तुत विषय पर मौन हैं। इतिहासकार चटर्जी का अनुमान है कि तत्कालीन बौद्ध व जैन संस्थाओं के प्रचलन के फलस्वरूप याज्ञवल्क्य ने भी समयानुसार उपरोक्त मान्यताओं के साथ सामंजस्य स्थापित कर लिया था।[40] ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा प्रत्येक शिष्य को नहीं दी जाती थी। केवल गुरु-पुत्र, गुरु-सेवी शिष्य, जो बदले में ज्ञान दे सके, धर्म ज्ञानी, जो मन व शरीर से पवित्र हो, सत्यवादी, जो अध्ययन को ग्रहण करने में सक्षम हो, जो शिक्षण-हेतु धन दे सके, स्थिर मन वाला हो तथा निकट सम्बन्धी ही शिक्षा देने योग्य थे।

वेदाध्ययन के विषयों का उल्लेख हमें महाभारत एवं स्मृति-साहित्य में मिलता है। इनमें ब्राह्मण की उत्पत्ति वेद से हुई वर्णित है। याज्ञवल्क्य ने अध्ययन की 14 विधाओं को गिना है।[41] वेदाध्ययन का अभिप्राय वेदों को रटना मात्र न था अपितु उसका अर्थ जानना भी उतना ही आवश्यक था। महाभारत में अर्थ न जानने वाले श्रोत्रिय की निन्दा की गई है।[42] ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय को तीन वेदों आन्वीक्षिकी, दण्डनीति एवं वार्ता का पण्डित होना आवश्यक था।[43] प्रसिद्ध इतिहासविज्ञ काणे के मतानुसार उक्त कथन मात्र उपदेश थे व्यवहारिक रूप में इनका प्रचलन न था।[44] संभवतः क्षत्रिय कम ही गुरु-गेह जाया करते थे। इनके अध्ययन का प्रबन्ध घर पर ही होता था। वैश्यों की शिक्षा के कम ही विवरण मिलते हैं। इनकी जीविका के प्रमुख साधन व्यापार, पशुपालन व कृषि थे। अतः इन्हें केवल इन्हीं विषयों की शिक्षा दी जाती थी। बालक नाच, गाना, आभूषण निर्माण आदि की शिक्षा हेतु गुरु गेह में रहते थे। वेदाध्ययन के नित्य पाठ करने से महापातकी आदि पापों का नाश हो जाता था। इसके विपरीत वेद-भर्त्सना करने पर याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्महत्या का पाप लगता था।[45]

मनुस्मृति में ज्ञानी, धार्मिक कृत्य करने वाले, अधिक अवस्था वाले, सम्बन्धी एवं धनी व्यक्ति को सम्मानीय माना गया था। इनमें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, तत्पश्चात् धार्मिक, इसी क्रम से व्यक्ति की श्रेष्ठता का उल्लेख है।[46] याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी इसका अक्षरशः समर्थन करते हुए विद्या, कर्म, अवस्था, सम्बन्ध एवं धन को क्रमशः महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया।[47] प्रस्तुत सन्दर्भ में पिता एवं पुत्र की परिभाषा इस प्रकार दी है कि यह आवश्यक नहीं अवस्था में बड़ा ही पिता हो बल्कि जिसमें ज्ञान अधिक है पिता कहलाने का अधिकारी है भले ही वह आयु में बालक ही क्यों न हो। तथा विद्याविहीन ब्राह्मण,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्तिविहीन क्षत्रिय, धन विहीन वैश्य के समक्ष 90 वर्षीय शूद्र ही सम्मानीय था।[48]

प्रायः ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे—

(क) उपकुर्वाण अर्थात् जो शिक्षक को वृत्तिरूप में दान देते थे।

(ख) नैष्ठिक—यह मृत्यु पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे। समस्त-जीवन गुरु सेवा में रत ब्रह्मचारी अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ऐसा माना जाता था।[49] ब्रह्मचारी से अपेक्षित था कि गुरु के मृत्योपरान्त गुरुपत्नी एवं गुरु-पुत्र के साथ रहता हुआ इन्हें गुरुवत माने। तथा इनकी अनुपस्थिति में अग्नि-समिधा के समीप बैठा ब्रह्मचारी शुद्ध मन से ब्रह्ममय होने का अभ्यास करे।[50]

मनु के कथनानुसार ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन काल में गुरु को शुल्क आदि नहीं देना चाहिए परन्तु अध्ययन-समाप्ति पर वह भूमि, सोना, गाय, अश्व, जूते, छाता, आसन, अन्न, शाक-सब्जी, वस्त्रादि-वस्तुएँ इच्छा एवं क्षमतानुसार देने के लिए आज्ञापित था।[51] महाभारत में विहित है कि शिष्य के श्रेष्ठ-आचरण से उत्पन्न प्रसन्नता ही श्रेष्ठ गुरु-दक्षिणा है।[52] धन हेतु पढ़ाने वाले गुरुओं से पढ़ना उपपातक माना गया था।[53] इस प्रकार के भ्रतक अध्यापक, एवं उनके शिष्य श्राद्ध में नहीं बुलाए जाते थे।[54] यद्यपि आपात्काल में जीविकोपार्जन हेतु धन लेना निन्दनीय न था। परन्तु धन-राशि निश्चित करके ही पढ़ाना आरम्भ करना अवश्य भर्त्सनीय था। वेदाध्ययन समाप्त करके आए ब्राह्मण का ध्यान रखना राजा का कर्त्तव्य कहा गया है। उसे धन व आदर से तृप्त रखना चाहिए चूँकि इन्हें दिया दान नष्ट नहीं होता अपितु उससे पुण्य ही मिलता है। मनुस्मृति का वह प्रसंग अवलोकनीय है जिसमें विद्वान्-ब्राह्मण को दिया दान लाख गुना फल वाला तथा वेद पारंगत ब्राह्मण को दिया दान अनन्त फल वाला वर्णित है। ब्रह्मचर्यावस्था के केश ब्राह्मण के 16 वर्ष में, क्षत्रिय के 22 वर्ष में तथा वैश्य के 24 वर्ष में उतरते थे। इसी को केशान्त-संस्कार कहा जाता था। वेदाध्ययन समाप्ति पर स्नान करके गुरु-गेह से लौटने को स्नान अथवा समावर्तन कहा गया है।[55] यह एक महत्वपूर्ण संस्कार था। ब्रह्मचारी स्नानोपरान्त गुरु-आज्ञा लेकर पलंग पर शयन कर सकता था। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में निर्दिष्ट-नियमों का सम्यक् अनुशीलन करके वह गृहस्थाश्रम-योग्य हो जाता था। ललित-विस्तार में तथागत बुद्ध द्वारा प्रथम-वयस में गुरु से विद्याध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया गया वर्णित है।[56] मन की चंचलता के कारण धर्माचरण कठिन माना जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन करके ही अर्हत्वपद से साक्षात्कार संभव था।

गृहस्थ-आश्रम

ऐतिहासिक-परिवेश में भारतीय आश्रम व्यवस्था में प्राचीनकाल से ही गृहस्थाश्रम का विशेष महत्व है। कुषाण आश्रम-व्यवस्था में भी गृहस्थाश्रम का महत्व पूर्ववत रहा। बुद्धचरित में अर्थ-संचय एवं संतानोत्पत्ति को गृहस्थाश्रम का प्रमुख लक्ष्य कहा है।[57] इसी ग्रन्थ में आगे विवरण है कि युवावस्था धर्म और अर्थ सेवन में बाधक है।[58] प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस आश्रम की उपयोगिता एवं उपादेयता को एक स्वर में स्वीकार किया गया। इनमें उल्लेख है कि गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति करता है

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य किसी आश्रम में नहीं। तथा सन्तानोत्पत्ति सृष्टि की शाश्वता का आधार है। मनु-स्मृति में विहित है कि जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में वायु की परमावश्यकता है उसी प्रकार तीनों आश्रम वालों को गृहस्थाश्रमी की।[59] चूँकि सभी आश्रमी गृहस्थाश्रमी से ही वेदाध्ययन एवं भोजन पाते थे अतः वे जीविका हेतु गृहस्थाश्रमी पर आधारित थे। जब कि एक गृहस्थाश्रमी स्वयं में सक्षम अन्य आश्रम वालों को शरण ही देता था। शान्ति-पर्व में गृहस्थाश्रम की तुलना माता से की गई है।[60] इसी स्रोत में विहित हुआ है कि यदि तराजू के एक ओर गृहस्थाश्रम तथा दूसरी ओर अन्य सभी आश्रमों को रखा जाए तो समान निकलेंगे।[61] वर्णित है कि गृहस्थाश्रम में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए व्यक्ति इस लोक में स्त्री एवं संतान-सुख को पाता है साथ ही धार्मिक-कृत्यों को सम्पन्न करता हुआ परलोक को भी सफल बना लेता है। संस्कृत बौद्ध साहित्य में इस आश्रम की आयु को सुखी स्वीकार किया गया।[62] चूँकि इसमें वह इच्छाओं को भोगता हुआ (भुंजकामानि) रहता था।[63] बुद्ध-चरित में तो युवावस्था को चंचल, विषय-प्रधान, प्रमाद पूर्ण, असहनशील, अदूरदर्शी तथा अनेक छल-कपटों का भंडार कहा है।[64]

गृहस्थाश्रम की पृष्ठभूमि में सर्वप्रथम विवाह-विषय का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है चूँकि विवाह गृहस्थाश्रम का मूलभूत-तत्व है। इसका विस्तृत वर्णन विवाह सम्बन्धी अध्याय में पृथक् रूप से किया गया है। वास्तव में विवाह के प्रमुख दो उद्देश्य थे—यज्ञादि धार्मिक-कार्य करना एवं पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितरों के ऋण से उऋण होना। क्योंकि उक्त दोनों ही कार्य बिना पत्नी के संभव नहीं थे अतः विवाह परमावश्यक माना गया। सामान्यतया समाज में प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे इनमें भी बौद्ध व जैन संस्कृतियों का बोलबाला होने के कारण अप्रशस्त विवाहों को विशेष-प्रश्रय मिला था। कदाचित् इसीलिए तत्कालीन आश्रम-व्यवस्था में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है।

अवदान-शतक में उल्लेख है कि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति को गृहपति बनने का अवसर मिलता था।[65] इतिहासकार प्रभु ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि विवाहोपरान्त पत्नी हपत्नी एवं पति गृगृहपति होता था। सामाजिक एवं शारीरिक रूप से पति-पत्नी का स्तर एवं क्रिया-कलाप सम्बन्धी महत्व समान था।[66] इस आश्रम में प्रवेश कर ही शाक्य राजा शुद्धोधन ने महामाया से एवं कुमार सिद्धार्थ ने गोपा से क्रमशः सिद्धार्थ एवं राहुल पुत्र-रत्न रूप में प्राप्त कर गृहस्थ-धर्म का पालन किया था।[67] परिवार में पति (स्वामी) पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई (भ्राता), बहन (भगिनि), माता, पिता, पौत्र, पुत्रवधु (स्नुषा) आदि सम्मिलित थे। अतएव स्पष्ट है कि तत्कालीन पारिवारिक-जीवन संयुक्त-परिवार का जीवन था जिसमें सभी सदस्य परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे। धर्मग्रन्थों द्वारा ज्ञात होता है कि कुषाण-परिवार में पत्नी का स्थान भी कम महत्वपूर्ण न था। वह घर की लक्ष्मी मानी जाती थी। पति का कर्त्तव्य पत्नी को सुन्दर वस्त्राभूषण से सुसज्जित रखना था। चूँकि जिस घर में स्त्री का सम्मान नहीं होता वह घर कभी सम्पन्न नहीं हो सकता।[68] अतः परिवार की सुख-समृद्धि के इच्छुक पुरुषों को स्त्रियों का पर्याप्त सम्मान करना चाहिए,[69] प्रायः ऐसा विश्वास था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य में गृहस्थी का प्रधान-कर्त्तव्य ऋषि, पितर, देवता, अतिथि और प्राणियों को सन्तुष्ट करना वर्णित है। वह वेदपाठ द्वारा ऋषियों को, विधिपूर्वक हवन द्वारा देवताओं को, श्राद्ध द्वारा पितरों को, अतिथि-सत्कार द्वारा अतिथि को एवं बलिकर्म द्वारा भूतों को सन्तुष्ट करता था। इन्हें पंचमहायज्ञ कहा गया है। नाम इस प्रकार हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ। अनुशासन पर्व में प्रत्येक गृहस्थी का परम धर्म पर-स्त्री से विमुख अपनी पत्नी व सन्तति की रक्षा, दिए बिना दूसरों की वस्तु न ग्रहण करना, माँस-मदिरा से विरक्ति आदि विहित है।[70]

पंच-महायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थाश्रमी को सर्वप्रथम ब्रह्म-मुहूर्त में उठकर धर्म एवं अर्थ-विषयक चिन्तन करना होता था। तदुपरान्त आह्निककृत्यों को अर्थात् नित्य प्रातः के कार्य करने आवश्यक थे। इनमें शारीरिक शुद्धता, दन्तधावन, स्नान, शारीरिक-शृंगार एवं देवताओं का आह्वान आदि थे।[71] वह दिन भर किए जाने वाले धर्म व अर्थ सम्बन्धी कार्यों को प्रातः ही विचार कर लेता था। गृहस्थाश्रमी के जीवन में प्रातः एवं सायंकालीन पूजा व जप का विशेष महत्व था। ब्राह्मण के लिए उल्लेख है कि यदि वह और कुछ न करे तो भी केवल जप करने से ही ब्रह्मलीन हो जाता है। अतएव आयु, बुद्धि, कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के इच्छुक व्यक्ति को सन्ध्याकालीन जप का अभ्यास काफी समय तक करना उचित माना गया। मनुस्मृति में जप तीन प्रकार के विहित हुए हैं वाचिक, उपांशु एवं मानसिक। इन जपों की श्रेष्ठता इसी क्रम से समझनी चाहिए। साधारणतया आचमन के विषय में वर्ण-विभेद का विचार किया जाता था। ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय गले तक, वैश्य मुँह तक पहुँचे तथा शूद्र ओठ-स्पर्श के जल से शुद्ध हो जाता था।[72] गृहस्थी द्वारा किए जाने वाले प्रतिदिन के कार्यों में प्रातः एवं सायं अग्निहोम को अत्यावश्यक माना गया था। यह शुभ-कार्य गृहस्थ के लिए करणीय थे। पत्नी, विवाहित पुत्री, अविद्वान्, मूर्ख, रोगी, जिसका उपनयन न हुआ तो इनसे करवाना उचित न था। विहित है यदि वह इनसे इस निषिद्ध-कार्य को कराता है तो नरक में स्थान पाएगा। गृहस्थाश्रमी स्त्रियों के लिए मनुस्मृति में बिना मन्त्रोच्चारण करे सायंकालीन बलि देने का आदेश है वह देवताओं का ध्यान भी कर सकती थी।[73]

तत्कालीन समाज में ऐसी मान्यता थी कि गृहस्थाश्रमी जितने बड़े परिवार का पालन करता है उतना ही पुण्य का भागी होगा। अतः दिन के प्रथम भाग के कार्य करने के उपरान्त धरोहर रूप में आश्रितों के पालन हेतु राजा के पास जाना होता था। जहाँ तक गृहस्थाश्रमी के वस्त्र धारण करने का प्रश्न है मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है कि वस्त्र अपनी आयु, व्यवसाय, धन, विद्या, परिवार एवं देश के अनुरूप हों। एक के वस्त्र दूसरे को पहनने की अनुमति न थी। गृहस्थाश्रमी के लिए साधारणतया सफेद वस्त्र ही शुभ एवं उचित माने गए थे।[74]

गृहस्थाश्रमी से अपेक्षित था कि वह भोजन बन जाने पर सर्वप्रथम देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों, घर में स्थापित शालिग्रामादि प्रतिमाओं को अर्पित कर घर में स्थित नव विवाहिता वधू एवं पुत्री, अविवाहित कन्या, रोगी आदि को देवे। तदुपरान्त यदि कोई मित्र आ जाए तो पत्नी सहित उसके साथ भोजन करें। दास को भी अपने से

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्व ही भोजन कराए। जो उपर्युक्त वर्णित घर के रोगी, पुत्री आदि के भोजन के पूर्व स्वयं भोजन करेगा। मरणोपरान्त कुत्ते एवं गीध का भक्ष्य होगा ऐसा मनुस्मृति में विहित है।[75]

आगामी अनुच्छेदों में गृहस्थाश्रमी के जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों पंच-महायज्ञों का विस्तृत विवेचन किया जाएगा। यह यज्ञ उसके जीवन काल के प्रधान-तत्व थे। वास्तव में प्रत्येक गृहस्थाश्रमी गृहस्थ-धर्म का पालन करता हुआ नित्य ही चूल्हा, चक्की, झाड़ू, मूसल और जल के घड़े से जीव-हत्या करता है अतः इन पापों के निवारण हेतु ही उपरोक्त पंचमहायज्ञों की उपयोगिता समझनी चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार जो गृहस्थाश्रमी, देवताओं, अतिथियों माता-पिता आदि वृद्धों, सेवकों, पितरों तथा स्वयं को भोजनादि से सन्तुष्ट नहीं कर पाता है वह जीवित ही मृतवत है।[76]

गृहस्थ को ब्रह्मयज्ञ करते समय योग्यतानुसार वेद, पुराण, इतिहासादि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। मनुस्मृति में हवन करने को देवयज्ञ कहा गया है। इसी ग्रन्थ के एक अन्य प्रसंग में उल्लिखित है कि ब्रह्मचारी स्नान कर देवताओं, ऋषियों, पितरों का तर्पण, शिव व विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन एवं प्रातः तथा सायंकाल हवन करे।[77] इससे तो विदित होता है कि देवयज्ञ एवं हवन दो पृथक् क्रियाएँ थीं। हमें देवायतनों व देवमूर्तियों के भी उदाहरण मिलते हैं।[78] जिससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में मूर्ति-पूजा विद्यमान थी। इन देव-प्रतिमाओं के समक्ष जो हवन किया जाता था वह देवयज्ञ था। हवन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए मनुस्मृति में लिखा है कि हवन-कुण्ड में डाली हुई आहुति अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य को मिलती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजाएं होती हैं अतः हवन ही प्रजोत्पत्ति का कारण है।[79]

मनुस्मृति के वर्णनानुसार गृहस्थाश्रमी देवयज्ञ में 2 ब्राह्मणों तथा पितृयज्ञ में 3 ब्राह्मणों को अथवा दोनों ही यज्ञों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन करावे। धनवान गृहस्थाश्रमी भी एक ही ब्राह्मण को भोजन करावे। संभवतः इससे मनु का अभिप्राय था कि अनेक अविद्वान् ब्राह्मणों की अपेक्षा एक ही विद्वान् ब्राह्मण को विधिपूर्वक भोजन कराना श्रेष्ठ है चूँकि वेदमन्त्रहीन ब्राह्मण हव्य-कव्य के जितने ग्रास खाता है मरणोपरान्त श्राद्धकर्त्ता को उतने ही गर्म-गर्म शूल एवं लोहे के पिण्डों को खाना पड़ता है।[80]

अब श्राद्ध करने की विधि का विवेचन करना उचित होगा। मनु ने पितृ-श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण एवं स्वयं श्राद्ध-कर्ता को आत्मा को संयमित रखने तथा उस दिन वेदाध्ययन नहीं करने का विधान बताया है। आगे वर्णित है कि इन आमन्त्रित ब्राह्मणों के पास पितर लोग आते हैं, इनके चलने पर चलते हैं तथा बैठने पर बैठते हैं। ब्राह्मण को श्राद्ध-निमन्त्रण स्वीकार करने के पश्चात् अवश्यमेव जाना चाहिए। अन्यथा अगले जन्म में सुअर योनी मिलती है। मनुस्मृति में विहित है कि पितर क्रोध-रहित, अन्तर व बाह्य-रूप से पवित्र, सर्वदा ब्रह्मचर्यावस्था में शान्तिप्रिय, दया आदि गुणों से युक्त सृष्टि के प्रारम्भिक-काल से ही देवतारूप हैं। अतः श्राद्ध-कर्त्ता एवं ब्राह्मण को उक्त वर्णित गुण-सम्पन्न होना आवश्यक था। अक्षय-सुख के अभिलाषी गृहस्थाश्रमी को पितरों के लिए चाँदी अथवा चाँदी मिश्रित पात्रों का दान करना होता था। वास्तव में देखा जाए तो देव-यज्ञ से प्रधान-स्थान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पितृ-यज्ञ का था। देव-यज्ञ पितृ-यज्ञ का पूरक था। मनुस्मृति में वर्णित है कि पितृ-यज्ञ को प्रथम अथवा अन्त में करने वाला द्विज-पुत्र सहित नष्ट हो जाता है अतः पितृ-यज्ञ देव-यज्ञ के मध्य ही करना उचित है। श्राद्ध करने हेतु शान्त एवं शुद्ध-स्थान गोबर से पुता हुआ अथवा नदी का किनारा सर्वोत्तम माना जाता था।[81] विहित है कि श्राद्धकर्त्ता श्राद्ध हेतु आए ब्राह्मणों को स्नान एवं आचमन देकर पृथक्-पृथक् आसनों पर पूर्वदिशाभिमुख हो बैठाए। तदुपरान्त सुगन्धित कुमकुम तथा पुष्पमालाओं से पहले देव-यज्ञ बाद में पितृ-यज्ञ सम्बन्धी ब्राह्मणों की अर्चना करे। इन ब्राह्मणों के अर्घ्य में तिल व जल मिलाकर अग्नि, सोम और यम देवताओं को तत्पश्चात् पितरों को अन्नादि द्वारा तृप्त करे। दक्षिण की ओर मुख करके हवन में शेष अन्न के तीन पिण्ड बनाकर कुशाओं पर उनको रखे। शेष जल को क्रम से तीनों पिण्डों पर डाले। इसके बाद उन पिण्डों में से थोड़ा-थोड़ा आमन्त्रित ब्राह्मणों को देवे तथा उनके हाथ में पवित्री, तिल एवं जल देकर कहे : यह पिता के लिए स्वधा है। खाद्ययुक्त पात्रों को दोनों हाथों से पकड़कर पिता आदि पितरों का ध्यान करके ब्राह्मणों के सम्मुख रख देना होता था। भोज्य-पात्रों को दोनों हाथों से पकड़ना आवश्यक था अन्यथा ऐसी धारणा थी कि एक हाथ से पकड़े हुए पात्र की भोज्य-सामग्री को दुष्ट-आत्मा छीन लेती हैं। अतः खाद्य-व्यंजन दाल, शाक, दूध, दही, घी, शहद, मिष्ठान, कन्द-मूल-फल, माँस, सुगन्धित पेय-पदार्थों के लक्षणों का बखान करता हुआ श्राद्ध-कर्त्ता उनको पृथ्वी पर रख देता था। मनुस्मृति[82] से विहित है कि श्राद्ध करते समय रोना, क्रोध करना, झूठ बोलना, अन्न को पैर से सरकाना पूरी को उछालकर परोसना आदि सर्वथा-वर्जित हैं चूँकि इस प्रकार से दिया अन्न पापियों को मिलता है न कि पितरों को। ब्राह्मण को जो रुचिकर लगे उसे उसी वस्तु से तृप्त कर देने का आदेश था।

ब्राह्मणों को भोजन कराते समय श्राद्धकर्त्ता को वेद, धर्मशास्त्र, कथा, इतिहास, पुराण और खिल आदि की चर्चाएँ करनी अनिवार्य थीं। वर्णित है कि श्राद्ध में ब्रह्मचारी अथवा अब्रह्मचारी धेवते को कुतप का आसन देकर भोजन अवश्य कराना चाहिए एवं श्राद्ध वाली भूमि पर तिलों को डाल देना चाहिए। क्योंकि धेवता, कुतुप (नैपाली कम्बल) और तिल पवित्र होते हैं। श्राद्ध में पवित्रता, अक्रोध तथा अत्वरा (जल्दी बाजी नहीं करना) की प्रशंसा की गई है। ब्राह्मण को भोजन मौन हो गर्म-गर्म खाना चाहिए। ऐसा करने से पितर तृप्त होते हैं।[83]

ब्राह्मणों को विदाकर श्राद्ध-कर्ता एकाग्र-चित्त, मौन एवं पवित्र हो, दक्षिण-दिशा की ओर मुँह करके पितरों से निम्न वर माँगता था—हमारे कुल में दानी पुरुष, वेद और सन्तान की वृद्धि हो, श्राद्ध नष्ट न होवें। तदुपरान्त पिण्डदान कर वर-याचना के पश्चात् पिण्डों को गौ, ब्राह्मण या बकरी को खिला देना अथवा आग या पानी में छोड़ देना आवश्यक था।[84] पतिव्रता, सवर्ण प्रथम विवाहिता, श्राद्ध-कर्ता में श्रद्धावान, पुत्र की इच्छुक, श्राद्ध-कर्त्ता की स्त्री इन पिण्डों में से मध्यम पिण्ड को अच्छी तरह खाकर आयुष्मान्, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान, सन्तानवान, सात्विक तथा धर्मात्मा-पुत्र उत्पन्न करती थी। ऐसा माना जाता था कि श्राद्ध में काला-तिल, धान्य, यव, काला-उरद, मूल, पानी और फल से पितर लोग एक महीने तक सन्तुष्ट रहते हैं, विभिन्न प्रकार के माँसों द्वारा पितर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इससे अधिक अवधि तक प्रसन्न रहते हैं। गाय के दूध एवं उससे निर्मित वस्तुओं से पितर 12 महीने तक, इसी प्रकार बाघ्रीणस बकरे के माँस से 12 वर्षों तक पितर तृप्त रहते हैं। इसी सन्दर्भ में उल्लेख है कि श्राद्ध में काल-शाक (एक प्रकार का शाक-विशेष), महा-शाक (कृष्ण-वर्ण बथुए का शाक), गेंडा और लाल बकरे का माँस, मधु तथा सब प्रकार के मुन्यन्न-पितरों को अनन्तकाल तक तृप्त रखते हैं।[85]

नृ-यज्ञ का अभिप्राय मनु ने अतिथि-सत्कार से लिया है। अतिथि की परिभाषा इस प्रकार की गई है न विद्यते तिथि यस्य सःअतिथि। जो परदेशी बिना पूर्व-सूचित किए आकर एक ही रात ठहरता है अतिथि कहलाता है।[86] गृहस्थाश्रमी के पंच-महायज्ञों में से एक था आतिथेय। अतिथि-सत्कार करते समय ब्राह्मण से कुशल, क्षश्रिय से अनाभय एवं वैश्य से आरोग्य पूछा जाता था। बुद्ध-चरित में भी इसका उल्लेख मिलता है।[87] महावस्तु में विहित है कि बैठने हेतु उन्हें पर्यंक एवं उचित आसन दिया जाता था।[88] अतिथि के घर आने पर जो उसे आदरपूर्वक दिया जाता था उसे धर्मशास्त्रों में मधुपर्क कहा गया। याज्ञ-वल्क्य के मतानुसार घर में अतिथि-धर्म से आए यज्ञादि कराने वाले ऋत्विक्, स्नातक, आचार्य, वर, राजा तथा जो स्वयं को अत्यधिक प्रिय हों—6 लोग मधुपर्क के योग्य माने गए हैं।[89] यह भी वर्णित है कि यदि यही लोग उसी वर्ष फिर आ जाए तो वह पुनः मधु-पर्क पाने के अधिकारी थे।[90] संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में अतिथि के घर आगमन पर हाथ जोड़कर (कृत्वाजंलिम्) नतमस्तक हो (किंचित्वाङ्ग मुखः)[91] तथा पगड़ी उतारकर उसका स्वागत करने का विधान विहित है। मनु भी अतिथि के घर आने पर उसे आसन, पैर धोने के लिए जल और सामर्थ्यानुसार व्यंजनादि सत्कारपूर्वक देने का उल्लेख करता है। आगे यह भी वर्णित हुआ है कि तृण, भूमि, जल और मधुर-वचन यह 4 तो ब्राह्मणों के घर में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। अतः अन्नादि के अभाव में अतिथि का तृण-निर्मित आसन व शयन हेतु भूमि, हाथ-पैर धोने व पीने हेतु जल और मधुर-वचन द्वारा स्वागत किया जाता था। ब्राह्मण-संस्कृति की भाँति ही बौद्ध-संस्कृति में भी अतिथि-सत्कार का महत्त्व था। अवदान-शतक में उल्लेख है कि गोशीर्ष-चन्दन-जल से उसका पाद-प्रक्षालन किया जाता था। यही नहीं पुष्प-माल्य-गन्ध और विलेपन[93] एवं पादार्घ्य[94] द्वारा नाना-विधि से उसकी अर्चना की जाती थी। अतिथि का यथोचित सत्कार करने से धन, आयु, यश तथा स्वर्ग प्राप्ति होती थी। वर्णित है कि अतिथि को न देकर स्वयं घी, दूध, दही, मिठाई आदि पदार्थ नहीं खाने चाहिए। भोज्य-पदार्थों का निर्धारण वर्णों के अनुरूप होता था जिसका विशद्-वर्णन भोजन एवं पेय सम्बन्धी अध्याय में किया जाएगा। अनेक अतिथियों के एक साथ आ जाने पर उन्हें आसन, विश्राम-स्थान, शय्या अनुगमन और सेवा आदि उनके ज्ञान तथा पदानुसार दी जाती थी।[95] मनु का सुझाव था कि जिस घर में अतिथि को पर्याप्त आदर-सत्कार न मिले, अतिथि उस गृहस्थाश्रमी के कदापि न जाए। जो आतिथ्य का इच्छुक केवल खाने के उद्देश्य से गृहस्थाश्रमी के घर जाता है मृत्योपरान्त उसी गृहस्थ के घर पशु-योनि में जन्म लेता है, सामान्यतया ऐसा विश्वास था।

भूत-यज्ञ को वैश्वदेव-यज्ञ भी कहा गया है। प्रतिदिन की खाद्य-सामग्री को बनाने के बाद उसे देवताओं को अर्पित करना भूत-यज्ञ था। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रमी द्वारा स्वयं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भोजन ग्रहण करना उचित था। भूत-यज्ञ के देवता मनुस्मृति में अग्नि, सोम, अग्निषोम, विश्वदेव, धन्वन्तरी, कुहू अनुमति, प्रजापति, धावापृथ्वी, स्विष्टकृत वर्णित हुए हैं। यदि गृहस्थाश्रमी किसी कारण वश भोजन न करे तो भी उसे देव-बलि में फल, कन्द, मूलादि अवश्य अर्पित करने आवश्यक थे। विहित है कि जो गृहस्थाश्रमी भोजन केवल स्वयं के लिए बनाता है पंच-महायज्ञ नहीं करता, पाप का भागी होता है। भूत-बलि किस-किस देवता को कैसे दी जाए इसका स्पष्ट उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। गृहस्थाश्रमी वृद्धा युक्त हवन के उपरान्त, इन्द्र, यम, वरुण और सोम देवताओं के लिए पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में, द्वार पर मरुत के लिए, जल में जल के लिए, ओखलि-मूसल पर वनस्पतियों के लिए बलि देता था।[96] तत्पश्चात् ईशान-कोण में श्री के लिए, नैऋत्य-कोण में भद्रकाली के लिए, दिन एवं रात में विचरण करने वाले देवों के लिए बलि देता था। इसी प्रकार बलि देने वाले मकान के पीछे अथवा छत पर सर्वात्मक-जीव के लिए, दक्षिण दिशा में पितरों के लिए स्वधा-बलि देता था। अब शेष अन्न को कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पापजन्य रोगी, कौआ, कीड़े आदि के लिए साफ पृथ्वी पर रख देता था। उपरोक्त विधि-विधान से किए गए भूत-यज्ञ को करता हुआ ब्रह्मचारी निश्चय ही स्वर्ग को प्राप्त करेगा ऐसा अपेक्षित था।[97]

अतः स्पष्ट है एक गृहस्थाश्रमी के जीवन में पंच-महायज्ञों का विशेष महत्त्व था। वात्स्यायन के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए तथा आयु एवं वर्ग के अनुरूप ही गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए।[98]

वानप्रस्थ-आश्रम

'वानप्रस्थ' शब्द का तात्पर्य 'वन में निवास' था। मनुस्मृति में आश्रम-व्यवस्था के क्रम में गृहस्थाश्रम के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम का स्थान था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए 50 वर्ष की अवस्था हो जाने पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना होता था। इस आश्रम का उचित समय निर्धारित करते हुए वर्णित है कि जब व्यक्ति के शरीर का मांस ढल जाए, बाल सफेद एवं पुत्रों के पुत्र उत्पन्न हो जाए,तो गृहस्थ-जीवन को त्यागकर जीवन यात्रा को पुनः गति देते हुए वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[99] इस आश्रम में जीवन-स्तर गृहस्थाश्रम से पूर्णतः भिन्न हो जाता था। जीवन की मान्यताएं भी बदल चुकी होती थीं।

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार शूद्र-वर्ण के अतिरिक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) वर्णों को प्राप्त था। आश्वमेधिक-पर्व में भी ऐसा ही विवरण मिलता है। महाभारत-काल में लोगों द्वारा वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। धृतराष्ट्र एवं गांधारी के वानप्रस्थाश्रमी होने से स्पष्ट है कि तत्कालीन पत्नियाँ पतियों का अनुगमन करती थीं।[110] महाभारत के शान्तिपर्व में विहित है कि क्षत्रिय को राज्यकार्य पुत्र पर सौंपकर वन चले जाना चाहिए। स्वयं ययाति ने समस्त कार्यभार पुत्र पुरु को को देकर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया था तथा निर्धारित-नियमों का पालन करते हुए तप एवं उपवास द्वारा शरीर त्याग दिया।[101]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

याज्ञवल्क्य का विश्वास था कि गृहस्थाश्रमी सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है वानप्रस्थाश्रम का पालन किए बिना ही। परन्तु मनु याज्ञवल्क्य के इस मत से सहमत नहीं हैं।[102] उनके विचार से तो प्रत्येक व्यक्ति का धर्म चारों ही आश्रमों का क्रमशः पालन करना है।[103] प्रसंगवश इतिहासकार चक्लधर के वक्तव्य का उल्लेख करना उचित होगा। उनके अनुसार वानप्रस्थाश्रम तत्कालीन भारतीय-समाज में समाप्त हो चुका था।[104] यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थाश्रम का वर्णन प्रायश्चित-अध्याय में किया जो कि अतिअल्प महत्व रखता है। यद्यपि लगभग समकालीन मनु ने निश्चित रूप से चारों आश्रमों को परमावश्यक बताया है। निःसन्देह मनु के सिद्धान्त अत्यधिक आदर्श-वादी होने के कारण शायद ही व्यवहारिक रहे हों।[105]

वानप्रस्थाश्रम के सम्यक् रूप से पालन हेतु व्यक्ति को निर्धारित नियमों के अनु-रूप आचरण करना पड़ता था। मनु के अनुसार व्यक्ति गृहस्थी का समस्त-कार्यभार पुत्र पर सौंपकर जितेन्द्रिय हो सपत्नीक वन जाए।[106] स्त्रियों के लिए अपने पतियों के साथ वन जाने की व्यवस्था वर्णित है यदि वह किन्ही कारणों से स्वयं ही न जाना चाहे तो पुत्र के संरक्षण में रह सकती थी।[107]

मनुस्मृति में विहित है कि वानप्रस्थी को वैदिक-अग्नियाँ गृह्याग्नि तथा यज्ञ-सामग्री यथा—स्रुक्, ध्रुव आदि साथ रखनी होती है। जितेन्द्रिय हो वह अन्न, फलादि से पंच-महायज्ञ, ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ तथा नृ-यज्ञ करता था। चूंकि वेद, उपनिषदों के नियमों के अध्ययन द्वारा ही वह ब्रह्म-प्राप्ति योग्य हो सकता था।[108] पूर्णिमा, अमावस्या आदि व्रत तथा वेतानिक-अग्निहोत्र करना वानप्रस्थी के लिए आव-श्यक था। नक्षत्रयाग, आग्रहायणयाग, चातुर्मास्ययाग, उत्तरायण एवं दक्षिणायनयाग करना भी उसका कर्तव्य था।[109] वानप्रस्थी को प्रातः, मध्यान्ह एवं सायं तीनों प्रहर स्नान करना चाहिए। तपस्या कठोरतम करता हुआ वह ग्रीष्म-ऋतु में पंचाग्नि लेकर, वर्षा-ऋतु में खुले मैदान में तथा शीतकाल में गीला वस्त्र धारण कर आदि अनेकानेक प्रकार के कष्टों द्वारा शरीर को जीर्ण कर दें।[110] रात्रि-शयन हेतु किसी प्रकार की सुख-सुविधा को न स्वीकार कर मात्र पेड़ के नीचे भूमि को ही शय्या बनाए। यही नहीं लौकिक अनुभूतियों सुख-दुख, ठण्डा-गर्म, मान-अपमान आदि से ऊपर उठता हुआ, वानप्रस्थी सबसे वन्धुत्व रखे, इन्द्रिय-संयमी, दानी, स्वयं दान न स्वीकार करने वाला तथा उदार बने।[111] एक वानप्रस्थी से ऐसी आशा की जाती थी।

धर्मग्रन्थों में वानप्रस्थी के वस्त्र मृग-चर्म एवं वृक्षों के वल्कल विहित हुए हैं। महा-भारत के आश्वमेधिक-पर्व में उल्लिखित है कि धृतराष्ट्र एवं गान्धारी ने वानप्रस्थी रूप में वृक्षों की छाल तथा मृग चर्म धारण किया था।[112] इस आश्रम में व्यक्ति को क्षौर्य-कार्य करना निषिद्ध था अर्थात् वह जटा, दाड़ी, मूछ एवं नख को बढ़ने दे। वानप्रस्थी के खाद्य-पदार्थ शाक, मूल, फल थे। इन पदार्थों द्वारा उसे बलि करके, भिक्षा देकर एवं जल कन्द, मूलादि की भिक्षा द्वारा अतिथि-सत्कार करना वर्णित है। मनुस्मृति में विहित है कि वानप्रस्थी वन में उत्पन्न पवित्र-हविष्यान्न द्वारा हवनकर शेष-अन्न का भोजन करे। मधु, मांस, पृथ्वी में उत्पन्न छत्राक, शाक, लसौड़े का फल आदि वस्तुएं उसके लिए सर्वथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्याज्य थी।[113] किसान द्वारा हल से जुती पृथ्वी में उत्पन्न अन्न तथा ग्राम में बिना हल से जुते भूमि में उत्पन्न फल, फूल क्षुधा-पीड़ित होने पर भी वानप्रस्थी के लिए ग्राह्य नहीं थे। वह तो मात्र अग्नि में पकने वाले अन्न, नियत समय पर पकने वाले फलादि एवं दाँत व पत्थर से कूट व पीसने वाले अन्नादि को ग्रहण कर सकता था। भिक्षा में प्राप्त भोजन को वह दिन में एक ही बार करता था। स्मृतियों में वर्णित है कि सायंकाल अथवा दिन में अथवा एक दिन के उपवासोपरान्त दूसरे दिन अथवा तीन रात उपवास कर चौथे दिन सायंकाल अथवा कृष्ण व शुक्ल-पक्ष में नियमानुसार भोजन करे अथवा अमावस्या तथा पूर्णिमा को दिन में केवल एक बार पकाई हुई यवागू को ग्रहण करे अथवा समय से पके एवं स्वयं गिरे फल, फूल, मूलों से ही जीवन-निर्वाह करे। भिक्षा-याचना करता हुआ वानप्रस्थी तपस्वी-वानप्रस्थाश्रमियों अथवा वन में निवास करने वाले गृहस्थ द्विजो के पास जाता था। इनके न मिलने पर उसे याज्ञवल्क्य के मतानुसार गाँव से प्राप्त 8 ग्रास खाकर ही सन्तोष कर लेना चाहिए।[114] मनु ने उसे स्वनिर्मित नमक खाने की अनुमति दी थी।[115] वानप्रस्थी को आदेश था कि वह एक दिन, एक मास, छः मास तथा अधिकतम एक वर्ष तक अन्न, फलादि का संचय कर सकता है परन्तु प्रत्येक आश्विन-मास में उसके द्वारा संचित भोग्य-सामग्री त्याज्य हो जाती थी।[116] सम्भवत. इससे तात्पर्य उसको त्यागी बनाने से रहा हो। चूंकि यदि वन में भी वह गृहस्थाश्रम की भाँति विभिन्न वतुओं से मोह करता है तो उसका वानप्रस्थ-धर्म भ्रष्ट हो जाता।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में एक वैशिष्ट्य यह है कि वह इन वानप्रस्थियों द्वारा योग-साधना किए जाने पर बल देती है। स्मरणीय है मनुस्मृति से भिन्न याज्ञवल्क्य-स्मृति में ब्रह्मचारी द्वारा भी स्नानोपरान्त प्राणायाम का विधान विहित है।[117] इतिहासकार चटर्जी का अनुमान है कि सम्भवतः याज्ञवल्क्य काल में ब्राह्मण-धर्म में योग-सिद्धान्त को विशेष महत्व दिया गया होगा।[118] उपरोक्त विधि द्वारा जीवन-निर्वाह करता हुआ वानप्रस्थी असाध्य रोग हो जाने पर जल एवं वायु के आहार पर आश्रित होता हुआ अथवा वैदिक-मन्त्रों द्वारा अथवा हिमालय में उपवास करते हुए शरीर त्याग कर सीधे ब्रह्मलोक में जाता है।[119] परन्तु इसके विपरीत आचरण करता हुआ आत्म-हत्यारा अपराधी माना जाता है और न तो उसकी सद्गति होती है और न ही वह तर्पण-योग्य रह जाता है, प्रायः धर्म-ग्रन्थों में ऐसा विहित है।

वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम के नियमों, मान्यताओं एवं उद्देश्यों में कतिपय समानता होने के कारण ही कदाचित् दोनों आश्रमों के स्थान पर तत्कालीन समाज ने एक ही आश्रम संन्यासाश्रम को स्वीकार किया था। दोनों आश्रमों के परस्पर सम्बन्धों का विशद् उल्लेख संन्यासाश्रम के प्रसंग में करना उचित जान पड़ा अतः किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य व्यक्ति को संन्यासाश्रम के कठोरतम नियमों के पालन योग्य बनाना था। इस आश्रम की आवश्यकता मात्र इसलिए महसूस की गई होगी चूंकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का परम-लक्ष्य मोक्ष पाना था जो वह संन्यासाश्रम को करके ही पा सकता था। पर गृहस्थाश्रम के तुरन्त बाद यदि वह संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की सोचता तो शायद दुर्लभ होता क्योंकि गृहस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम के मूल्यों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्य विस्तृत खाई थी जो बिना वानप्रस्थाश्रम के पाटी नहीं जा सकती थी। इसीलिए वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता अनुभव हुई होगी। बौद्ध व जैन संस्कृतियों में वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई थी अतएव बौद्ध व जैन उद्धरणों का उल्लेख सम्पूर्ण स्कन्ध में नहीं उपलब्ध है।

संन्यासाश्रम

संन्यासाश्रम कुषाण-कालीन भारतीय आश्रम-व्यवस्था में अन्तिम स्थान पर व्यवस्थित किया गया था। परिव्राजक, यति, श्रामण्य, भिक्षु, मुनि आदि शब्द संन्यासी के पर्यायवाची हैं। प्रायः वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम एक समान प्रतीत होते हैं। इन दोनों आश्रमों के अधिकांश नियम समान थे। वानप्रस्थी ही अन्त में संन्यासी होता था। दोनों को ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, भोजन-नियम तथा वेदाध्ययन करते हुए ब्रह्मज्ञान हेतु प्रयत्न-शील रहना पड़ता था। इसके साथ ही दोनों के जीवन-मूल्यों में कतिपय भिन्नता भी दृष्टिगत होती है। वानप्रस्थी इच्छानुसार पत्नी को साथ रख सकता था परन्तु संन्यासी को पूर्णतः अकेला रहना अनिवार्य था। अग्नि प्रज्जलित रखना, आह्निक एवं यज्ञादि वान-प्रस्थी का धर्म था जबकि संन्यासी को अग्नि वर्जित थी। इसके अतिरिक्त वानप्रस्थी को तप, आहार आदि द्वारा शरीर को क्लेश सहने योग्य बनाना होता था परन्तु एक संन्यासा-श्रमी इन सभी पर विजयी तथा जितेन्द्रिय रहते हुए ब्रह्म-ज्ञान में अनवरत निमग्न रहता था। बुद्ध-चरित में उल्लेख है कि गृहस्थाश्रम के सुख-वैभवों को भोगने के पश्चात् ही संन्यास उपयुक्त था।[120] इसी में विहित है कि नवयुवक के लिए बुद्धि की चंचलता, इन्द्रिय की चंचलता तथा श्रमणाचार्य की परेशानियों के कारण धर्माचरण दोषयुक्त और कष्टकारी था।[121] श्रामण्यं अथवा सन्यास वृद्ध ही प्राप्त कर सकते थे चूंकि वृद्धावस्था में कामोपभोग की गति नहीं रहती। साथ ही यह अवस्था अनुभवयुक्त विचारपूर्ण, स्थिर, धीर होती थी जिसमें अल्प प्रयासों से ही शान्ति, संन्यास अथवा श्रामण्यं का प्रमुख-गुण प्राप्त करना संभव था।[122]

संन्यास-काल में व्यक्ति जीवन भर विभिन्न आश्रमों का नियमानुसार आचरण करता हुआ जीवन-यात्रा को सफल बनाने हेतु एकाग्र हो सतत् प्रयत्नशील रहता था। संन्यासाश्रम आश्रम-व्यवस्था का अन्तिम सोपान था जिसमें पहुँचने के लिए व्यक्ति का प्रथम तीन सोपानों पर क्रमशः चढ़ना परमावश्यक था। स्मरणीय है। ब्राह्मण-जीवन की भाँति बौद्ध व जैन-जीवन में विभिन्न आश्रमों की अवस्था निश्चित न थी।

संन्यासाश्रम में एक संन्यासी का वास्तविक स्वरूप कैसा होना चाहिए साहित्य में इसका विशद् उल्लेख हुआ है। इसमें विषयों के प्रति वैराग्य अनिवार्य था। क्रम से प्रत्येक आश्रम में निर्देशित नियमों का सम्यक् पालन करता हुआ व्यक्ति परमगति को पाता है। प्रायः ऐसी धारणा थी। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व ऋषि-यज्ञ, देव-यज्ञ एव पितृ-यज्ञ कर लेना आवश्यक था। अन्यथा वह परमगति के स्थान पर अधमगति को ही प्राप्त होगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षित था कि वह सर्वप्रथम वेदों का सुन्दर ज्ञान प्राप्त कर, धर्मानुसार पुत्रोत्पत्ति कर और सामर्थ्यानुसार यज्ञादि सम्पन्न करता हुआ मोक्ष प्राप्ति हेतु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयत्न करे।[123] एक विद्वान् के विचार से व्यक्ति जीवन की अन्तिम अवस्था (संन्यासाश्रम) में निर्धारित सभी समाजिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करता हुआ आत्म-चिन्तन, आत्म-ज्ञान की खोज में लग जाता था।[121] स्मृतियों में वर्णित है कि समस्त सम्पत्ति आदि का दान कर प्रजापत्य-यज्ञ करनेवाले तथा स्वयं में अग्नि को धारण कर विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर व्यक्ति ऐसे लोक में पहुँचता है जहाँ उसे किसी का भय नहीं रह जाता और यही अन्तिम गन्तव्य स्थान ब्रह्मलोक है।

संन्यासाश्रम में प्रवेश के उद्देश्य से मौन अवस्था में कमण्डलु एवं दण्ड आदि लेकर अभिनिष्क्रमण के समय यदि कोई अत्यधिक प्रिय वस्तुओं को ले आए तब भी उसमें किंचित् मात्र आसक्ति न दर्शाते हुए उसे निकल जाना उचित था।[125] आचारांग-सूत्र में वर्णित है कि जिस श्रद्धा तथा त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया जाये उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शंकाओं से रहित होकर जीवन-पर्यन्त संयम का पालन करना चाहिए।[126] पुत्र-पत्नी आदि से मोह हीन अकेले रहते हुए सन्यासी को लक्ष्य की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती थी। संन्यासी को किस प्रकार का जीवन-यापन करना चाहिए मनु-स्मृति में वृत्तान्त आया है कि लौकिक अग्नि एवं गृह से रहित अस्वस्थ भी किसी प्रकार की औषधि न ग्रहण करता हुआ निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन करनेवाला संन्यासी भिक्षा हेतु ग्राम में प्रवेश करे। और हाथ में भिक्षा-पात्र, रात्रि-शयन हेतु पेड़ की जड़, वस्त्र के रूप में पुराना व मोटा अथवा उसके अभाव में वृक्ष का वल्कल वस्त्र, एकान्त, ब्रह्म में लीन सबके प्रति समभाव रखे।[127] अवलोकनीय है याज्ञवल्क्य ने संन्यासी को कुछ अन्य वस्तुएँ रखने की भी अनुमति दी थी यथा—उसके पास जलपात्र, जल छानने वाला वस्त्र, पादुका, आसन एवं कथरी होनी चाहिए।[128] त्रिदण्ड से ही उसे संन्यासी माना जा सकता था।

संन्यासाश्रमी को जीवन एवं मृत्यु से मोह न करते हुए धर्म का अनुसरण करना आवश्यक था। याज्ञवल्क्य के अनुसार वर्षाकाल के अतिरिक्त भिक्षा हेतु ग्रामों में भ्रमण न करना, दिन में भी पृथ्वी पर देखते हुए चलना एवं जल को छानकर पवित्र करके ही ग्रहण करना अभीष्ट था।[129] निःसन्देह इन सभी बातों का अभिप्राय जीव-अहिंसा से था। मनु के इतिवृत्त के अनुसार सावधानीपूर्वक संन्यासाश्रम का पालन करते हुए अज्ञात् उससे रात्रि में जो जीव-हिंसा हो जाती है उस पाप के निवारण हेतु मनु ने स्नान कर छः प्राणा-याम का विधान बताया है। यद्यपि गायत्री मन्त्र के साथ श्वास को रोककर पुनः छोड़ने की विधि द्वारा किये गये तीन प्राणायाम ही श्रेष्ठ तप वर्णित हुए हैं। प्राणायाम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए विहित है कि जैसे स्वर्ण एवं चाँदी को अग्नि में तपाने से उसकी गन्दगी दूर हो जाती है ठीक उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा श्वास रोकने आदि से आत्म-शुद्धि होती है। एक संन्यासी से अपेक्षित था कि वह मन, वचन, कर्म से पवित्र आचरण करेगा। तथा क्षण-भंगुर मानव जीवन को पाकर किसी का अपमान न करे, न क्रोध करे, साथ ही दूसरे द्वारा अपमानित होने पर उसे सहन करने की शक्ति अर्जित करे। परमब्रह्म के ध्यान में निमग्न, अपने वस्त्र, कमण्डलु, दण्ड एवं शरीर के मांसादि की सुन्दरता से पूर्णतः विमुख वह निर्विघ्न हो परम-सुख की अभिलाषा करता था।[130] संन्यासाश्रमी का स्वरूप ऐसा होता था जिसको देखते ही उसमें से सात्विकता की वर्षा-सी होती प्रतिभासित होती थी।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ललितविस्तार में उल्लेख आता है कि संन्यासी सुदीर्घ केश, नख व श्मश्रु भी रखते थे। तथा शरीर में भस्म लगाते थे।[131] उनके वस्त्र अवदान-शतक में कृष्ण मृग-चर्म तथा वल्कल बताये गये हैं।[132] भिक्षुओं के वस्त्र काषाय, (चीवर) मंगलमय होते थे। मनुस्मृति में विहित है कि केश, नख और दाढ़ी-मूछ को कटवाकर, भिक्षा-पात्र, दण्ड तथा कमण्डलु युक्त वह दर्शन मात्र से जीवों को सन्तुष्ट करता हुआ विचरण करता है।[133]

संन्यासी के लिए मौसम, नक्षत्र, हस्तविद्या आदि की भविष्यवाणी को भिक्षा का माध्यम बनाना अनुचित था।[134] वर्णित है कि जिस गृहस्थाश्रमी के घर उससे पूर्व अन्य साधु, ब्राह्मण, कुत्ते या भिक्षुक आदि पहुँच चुके हों, उससे स्वयं भिक्षा-याचना न करे एवं संन्यासियों के पात्र धातु-निर्मित न हों वरन् तुम्बा, लकड़ी, मिट्टी, बाँस के छिद्र रहित हों जो कि जल से ही शुद्ध हो जाते हैं। गृहस्थाश्रमियों के घर से जब धुँआ निकलना समाप्त हो जाए, अन्न कूटने का शब्द न होता हो, अग्नि भी समाप्त हो चुकी हो, घर के सदस्य भोजन-निवृत हो गए हों, वही समय संन्यासियों की भिक्षा-हेतु उपयुक्त था।[135] वर्णित है कि वह भिक्षा दिन में एक ही बार माँगे तथा कम अथवा अधिक मिलने पर उसने हर्ष अथवा विषाद रहित जीवन धारण करने के लिए ही उसकी उपयोगिता समझे।[136] चूँकि भोजन में आसक्ति होने से पुनः विषयों में मोह उत्पन्न होता है जो कि संन्यासी के लिए सर्वथा निषिद्ध था। अत्यधिक आदर-पूर्वक दी गई भिक्षा स्वाभाविक रूप से दाता के प्रति स्नेह भाव उत्पन्न करती है। अतः एकान्तवासी एवं इन्द्रिय-संयमी-संन्यासी को इस गृहस्थाश्रमी के जाना वर्जित था।[137] याज्ञवल्क्य के मतानुसार संन्यासी को भिक्षा देने के पहले तथा बाद में उसके हाथ पर जल डाला जाता है।[138] ललित-विस्तार में विहित है कि कुछ संन्यासी दिन में केवल एक बार तिल-तन्दुल का आहार करके साधना करते थे।[139] आश्रमवासी ऋषियों का भोजन दिव्यावदान में फल, फूल, मूल, जल वर्णित है।[140] बुद्ध-चरित में विहित बौद्ध-श्रमण की तपश्चर्या-विधि से स्पष्ट है कि तत्कालीन श्रमण्य निराहार तपस्या करते थे। परन्तु क्षुधा-त्रास के कारण तप-मार्ग में बाधा आती थी। अतएव काय-क्लेश और सुख को त्यागकर मध्यम-मार्ग को ही श्रेष्ठ माना गया था।[141]

संन्यासाश्रमी को लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अनुचित-कर्मों से उत्पन्न पाप के फलस्वरूप नरक की यातनाओं का विचार, प्रिय-पत्नी एवं पुत्र आदि के वियोग तथा शत्रु, रोग, शोक, वृद्धावस्था, मृत्यु, पुनः जन्म तथा इसी काल-चक्र का सहस्त्रों-वर्षों तक चलते रहने का का विचार करना उचित था।[142] वर्णित है कि संन्यासी सांसारिक अधार्मिक व्यक्ति के कृत्यों से उत्पन्न नाना प्रकार के क्लेशों की तुलना धार्मिक व्यक्ति के परम-सुख से करे। स्मृतियों में उल्लेख है कि प्राणायाम द्वारा व्याधियों से, परम-तत्त्व में ध्यान लगाकर काम, क्रोध, लोभादि पापों एव विषयों से इन्द्रियों को रोककर विषय-संसर्गों को संन्यासी नष्ट करें।[143] यदि एक बार संन्यासी परब्रह्ममय हो गया तो वह सदा के लिए इस मृत्यु-लोक से छूट जाएगा अन्यथा पुनः पुनश्च उसी प्रकार जन्म-मरण तथा तत्सम्बन्धी अनेकानेक कष्टों को भोगेगा। ऐसा मनु का कथन है। अतिदुलर्भ परमगति अहिंसा, विषयों से अनासक्ति, वेदानुसार आचरण तथा कठोर तपस्या से ही सम्भव थी। उल्लेख है कि जिस प्रकार पेड़ नदी के किनारे को छोड़ता है तथा पक्षी भी गिरते पेड़ को स्वेच्छापूर्वक छोड़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देते हैं ठीक उसी प्रकार संन्यासी भी शरीर को छोड़ता हुआ तत्सम्बन्धी बहुजटिल-जंजालों से मुक्त हो जाता है। यही नहीं अपने प्रिय सम्बन्धियों में पुण्य एवं अप्रियों में पाप को त्याग कर स्वयं आनन्दमय हो जाता है। संन्यासाश्रमी धर्म का पालन करता हुआ जब विषयों से दोष को जानता हुआ उनके प्रति आसक्तिहीन हो जाता था तब वह ऐसी अवस्था को प्राप्त इस जीवन तथा तदुपरान्त परलोक में भी वास्तविक सुख को भोगता था।[144] इस प्रकार विषयों को शनैः-शनैः छोड़ता हुआ मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ में समान अनुभव करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता था। ऐसी स्थिति तक पहुँचने के लिए ईश्वर में अनन्य-विश्वास आवश्यक था।[145] आध्यात्म-ज्ञान शूद्र व्यक्ति के लिए असम्भव था। चूँकि वह वेदमन्त्रहीन होता था। संन्यासी को वेद मन्त्र जाप आवश्यक था। इसका भाव सहित जाप करने से श्रेष्ठतम फल मिलता था। उपरोक्त विधि-पूर्वक जीवित रहता हुआ संन्यासी भवसागर को निःसन्देह पार कर लेता था। अतः मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण को सभी आश्रमों का नियमानुसार पालन करना आवश्यक था। प्रायः चारों आश्रमियों के लिए मनुस्मृति में धृत, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य, अक्रोध को आवश्यक कहा है।[146]

दिव्यावदान में विवरण है कि बड़े-बड़े आश्रमों में 500 तक ऋषि-निवास करते थे।[147] यहाँ पुण्य-कर्म करते हुए वे स्वर्गीय-आनन्द का अनुभव करते थे। महावस्तु में आश्रम के सबसे वृद्ध ऋषि को प्रधान कहा गया था।[148] साधारणतया स्त्रियाँ संन्यास ग्रहण नहीं करती थी। इस सम्बन्ध में धर्म-ग्रन्थों में परस्पर मतभेद है। याज्ञवल्क्य एवं पंतजलि ने अनेक उद्धरणों द्वारा तत्कालीन समाज में स्त्री-संन्यासी-प्रथा को स्वीकृति दी है जबकि मनुस्मृति में ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता।[149] धर्म-ग्रन्थों के अनुसार सभी आश्रमों में नियमों का पालन आवश्यक था अन्यथा शील व आचार के नाश होने से न तो प्रव्रज्या रहती और न ही गृहस्थ-धर्म।[150]

निष्कर्ष

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि कुषाण काल में आज की भाँति मानव-योनी श्रेष्ठतम-योनी मानी गई थी। साधारणतया विश्वास था कि पुनर्जन्म सिद्धान्तानुसार पूर्व-जन्म के शुभ कार्यों के फलस्वरूप ही मनुष्य जन्म मिलता है। इस परम दुर्लभ योनी में उत्पन्न होकर व्यक्ति को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए? क्या जीवन-पर्यन्त सांसारिक आनन्दों में लिप्त रहना ही जीवन का ध्येय है अथवा इन आनन्दों से ऊपर भी कोई परम आनन्द है? और यदि मोक्ष प्राप्ति परमानन्द प्राप्त करना सम्भव है तो क्यों न उसके लिए प्रयास किया जाए। इसी को विचार कर धर्मशास्त्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करके विभिन्न प्रकार के कार्यों का निर्धारण किया था जिनका अध्ययन हम कर चुके हैं। निःसन्देह इन कार्यों द्वारा उसका लक्ष्य अप्रत्यक्ष रूप से परम-तत्त्व तक पहुँचना था। पुनः प्रश्न उठता है कि जब संन्यास द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है तब क्यों न बाल-काल से ही उसका अनवरत अभ्यास किया जाए अथवा चारों आश्रमों को इच्छानुसार आगे पीछे किया जाए? इन सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही है कि

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यक्ति के लिए एकाएक संन्यासाश्रम का पालन असम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में अभ्यास द्वारा सरल से कठिन तत्पश्चात् और कठिन कार्य करने की सहज प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार संन्यासाश्रम के पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम में क्रमशः प्रवेश करना आवश्यक था।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवक का परम-लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था परन्तु इसके पूर्व उससे कतिपय अन्य कार्य भी अपेक्षित थे यथा—वह ऋषियों के लिए वेदाध्ययन, देवताओं के लिए हवन, पितरों के लिए श्राद्ध, अतिथियों का सत्कार तथा नित्य ही भूतों को सन्तुष्ट करे। चूंकि उक्त कार्यों से निवृत होकर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव थी अतः ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम परमावश्यक माने गए। वानप्रस्थाश्रम यद्यपि संन्यासाश्रम के ही समान प्रतीत होता था परन्तु अपनी उपादेयता के कारण महत्त्वपूर्ण था क्योंकि व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहता हुआ विभिन्न लौकिक वस्तुओं का भोग करता है अचानक यदि उससे संन्यासीवत आचरण की आशा की जाए तो वह पूर्णतः असम्भव होगी। अतएव वानप्रस्थ एक गृहस्थ को संन्यासी बनाने के मध्य की कड़ी थी।

संन्यासाश्रम पूर्णतः त्याग, तपस्या, तितिक्षा पर आधारित था और चूंकि सांसारिक आकर्षणों का त्याग केवल उनको इच्छानुसार भोगकर ही सम्भव है अतः संन्यासाश्रम ग्रहण करने के पूर्व इन गृहस्थाश्रम-विषयक-आनन्दों से तृप्त होना अत्यावश्यक था अन्यथा व्यक्ति न तो गृहस्थ ही रह पाता और न ही संन्यासी। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें प्राचीन भारतीय कला में मिलता है। जैसा कि सर्वविदित है कुषाण-कालीन समाज अपने सुख वैभव के लिए विख्यात है। इस काल के अन्तिम चरण में मूर्तियों के वस्त्राभूषण तथा मुख-मुद्रा में उनके द्वारा सांसारिक आनन्दानुभूति की चरम सीमा स्पष्ट परिलक्षित होती है और इसी की प्रतिक्रिया हमें कुषाण कालोपरान्त गुप्त काल में दिखती है जब व्यक्ति पूर्व कालीन अत्यधिक सुख विलास से उत्पन्न छटपटाहट के फलस्वरूप आध्यात्म की ओर उन्मुख होता है। गुप्त मूर्तियों में अन्तरात्मा में झाँकती हुई मुख भंगिमा से स्पष्ट है कि अब उसकी अभिलाषा किसी भी वाह्य तत्त्व को प्राप्त करने की नहीं रह गई है। वरन् वह तो अन्तरस्थित परम तत्त्व से साक्षात्कार हेतु शान्त भाव से सतत् प्रयत्नशील आनन्दातिरेक की अनुभूति कर रहा है। प्रसंगवश इतिहासकार टायन्बी के सामाजिक अध्ययन के 'चैलेन्ज एण्ड रिस्पोन्स थियोरी' का उल्लेख भी उचित होगा। निःसन्देह यही प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था तथा उसमें आश्रमों का सर्वमान्य क्रम व्यवहारिकता पर आधारित था।

क्या कुषाण-कालीन समाज में आश्रमों का वास्तविक-स्वरूप उपरोक्त वर्णित ही था अथवा इससे भिन्न। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध व जैन धर्म के प्रचलन के फलस्वरूप आश्रम व्यवस्था में कतिपय शिथिलता आ गई थी। जिसका कारण कुषाण शासकों का शासन था। यह विदेशी शासक बर्बर जाति के थे जिनकी अपनी कोई संस्कृति न थी यद्यपि इन्होंने भारतीय संस्कृति से सामन्जस्य ही स्थापित किया परन्तु फिर भी उनके द्वारा बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने से उपरोक्त विपरीत परिस्थितियों के कारण आश्रम-व्यवस्था में अपेक्षाकृत ढीलापन आ गया था। वास्तव में बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव ही वैदिक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के विरोध को लेकर हुआ था। बौद्ध-धर्म की मान्यताएँ वैदिक-धर्म की मान्यताओं से कदाचित् भिन्न थी। इसी कारण सम्भवतः तत्कालीन धर्मग्रन्थों में वैदिक आश्रम व्यवस्था को पूर्ववत व्यवस्थित करने के लिए विभिन्न कठोर सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया।

सन्दर्भ

1. बु० च० 10।34 अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम्।
2. मनु०, 4।1; 6।1, 33
3. काम०, 1।2।3-4
4. मनु०, 6।37
5. अवदान०, 2।105।15
6. वही, 2।86।6
7. सौ०, 2।20
8. ललित०, 238।14-5
9. याज्ञ०, 1।14
10. मनु०, 2।37-39
11. याज्ञ०, 1।38
12. वही, 1।29
13. अवदान०, 3।160।4
14. मनु०, 2।41-3
15. याज्ञ० 1।133
16. मनु०, 2।44, 63
17. याज्ञ०, 1।16
18. स्मिथ, वी० ए०, दि जैन स्तूप, जे० 276
19. मनु०, 2।45-48, 66
20. मनु०, 2।49-50; 2।183-5; 2।188
21. याज्ञ०, 1।29-32
22. मनु०, 2।51-2
23. चटर्जी सो० ला० एन० इन०, पृ० 36
24. याज्ञ०, 2।140-1
25. याज्ञ०, 1।92
26. मनु०, 3।156
27. याज्ञ०, 1।95
28. मनु०, 2।74
29. याज्ञ०, 1।22-32
30. मनु०, 2।187
31. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 227

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

32. मनु० 2।103-2
33. याज्ञ०, 1।34, 145
34. मनु०, 2।144; 2।69
35. वही, 2।207-8, 211-2
36. याज्ञ०, 1।40
37. याज्ञ०, 1।36,52
38. मनु०, 2।70-1
39. वही, 2।241, 238
40. चटर्जी सो० ला० एन० इन०, पृ० 39
41. याज्ञ०, 1।3
42. म० भा०, 12।110।1
43. मनु०, 7।43
44. काणे, पी०वी०, वही, पृ० 248
45. याज्ञ०, 3।228
46. मनु०, 2।136
47. याज्ञ०, 1।116
48. मनु०, 2।137, 151,3,5
49. मनु०, 2।244-5
50. मनु०, 2।247-9
51. वही, 2।245
52. म० भा०, 14।56।22
53. याज्ञ०, 3।265
54. म० भा०, 13।23।17
55. मनु०, 7।82-5, 85; 2।65; 3।4
56. ललित०, 124।9-10
57. बु० च०, 2।47
58. वही, 10।35, धर्मस्य चार्थस्य च जीव लोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि।
59. मनु, 77-8
60. म० भा०, 12।127।16-7
61. वही, 12।112।12
62. बु० च०, 5।33
63. ललित०, 213।21
64. बु० च०, 10।37-8
65. अवदान०, 5।36।114-5, 1।11।2।7
66. प्रभू, पी० एन०, हिन्दू० सोशल आरग्नाइजेशन, पृ० 201
67. बु० च०, 2।26, 46

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

68. मनु०, 3।59-60
69. म० भा०, 13।46।5
70. वही
71. सौ०, 13।19
72. मनु०, 4।92, 94; 2।62, 85, 87
73. वही, 3।121
74. याज्ञ०, 1।99, 131
75. मनु०, 11।14-5
76. वही, 3।68, 9, 71-72
77. वही, 3।70; 21।76
78. म० भा०, 1।70।49, 14।70।16-7
79. मनु०, 3।76
80. वही, 3।125
81. मनु०, 3।188-92; 3।202-7
82. वही, 3।208-28
83. वही, 3।229-35
84. वही, 3।259-61
85. वही, 3 262-72
86. याज्ञ०, 1।107, 11
87. बु० च०, 10।20
88. महाव०, 1।152
89. याज्ञ०, 11।10
90. म० भा०, 2।36।23-4
91. सौ०, 12।12
92. मनु०, 3।99, 101
93. अवदान०, 2।109।10-11; 2।107।7
64. बु० च०, 1।52
95. मनु०, 3।106-7
96. मनु०, 4।29; 3।104, 118; 3।84-88
97. मनु०, 3।89-93
98. काम०, 1।4।1
99. मनु०, 6।2
100. म० भा०, 14।35।43
101. वही, 12।21।15; 1।86।1
102. याज्ञ०, 3।56
103. मनु०, 6।34

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

104. चक्कलधर, एच० सी०, सोशल लाइफ इन एंशियंट इण्डिया, पृ० 83
105. चटर्जी सो० ला० एन० इन०: पृ० 168
106. मनु०, 6।1
107. याज्ञ०, 3।45
108. मनु०, 6।1, 4, 5, 7
109. मनु०, 6।9-10
110. याज्ञ०, 3।48, 52
111. मनु०, 6।26; 6।6, 8
112. म० भा०. 14।19।5
113. मनु०, 6।7, 12, 14
114. याज्ञ०, 3।46, 49-50; 6।27; 3।54-5
115. मनु०, 6।12
116. याज्ञ०, 3।47
117. वही, 3।51; 1।22
118. चटर्जी सो० ला० एन० इन०, पृ० 168
119. म० मा०, 9।39।33-4; 1।179।20
120. बु० च०, 5।33 पुरुषस्य वयः सुखानि भुक्त्वा । रमणीयो हि तपोवन प्रवेशः ।
121. वही, 5।30-1
122. वही, 10।34, 36
123. मनु०, 6।33-37
124. प्रभु, पी० एन०, वही, पृ० 100
125. मनु०, 6।41
126. आचाराङ्ग०, 1।1।3।20।98
127. मनु०, 6।42
128. याज्ञ०, 3।58
129. वही, 3।58
130. मनु०, 6।69-71; 6।45-48
131. ललित०, 249।5-6
132. अवदान०, 2।65।17
133. मनु०, 6।52
134. वही, 6।50-1
135. याज्ञ०, 3।60
136. आचाराङ्ग०, 1।2।4।8।6।256
137. मनु०, 6।55-9
138. याज्ञ०, 1।107
139. ललित०, 249।5-6 एककोलतिल तण्डुला हारेश्च ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

140. दिव्या०, 29।14-5 तत्तेषामाश्रमपदं पुष्पफलसलिल सम्पन्नम् ।
141. बु० च०, 12।95; 12।103; 15।34
142. मनु०, 6।60-3
143. याज्ञ०, 3।62-4
144. मनु०, 6।74-80
145. म० भा०, 12।63।11-4
146. मनु०, 6।83-93
147. दिव्या०, 29।14
148. महाव०, 2।63
149. याज्ञ०, 3।58
150. सौ०, 13।19

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5

संस्कार

कुषाण-समाज में संस्कारों का वास्तविक स्वरूप क्या था इसकी पर्याप्त जानकारी तत्कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा होती जाती है। संस्कार वह पवित्र कार्य[1] अथवा उत्सव थे जो धर्म द्वारा व्यक्ति के शरीर, मन एवं मस्तिष्क को सुसंस्कृत कर उसे समाज में रखने योग्य बनाते थे। अवदान-शतक में संस्कार को मनुष्य जीवन को उन्नत बनाने वाले कार्य कहा है।[2] इतिहासकार शास्त्री ने 'संस्कार' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि संस्कार व्यक्ति के शरीर एवं मन को पवित्र करके आध्यात्मिक-विकास में सहायक होता है।[3] संभवतः पाप व पुण्य सम्बन्धी आध्यात्मिक-विश्वासों से ही संस्कारों की उत्पत्ति हुई थी। निःसन्देह संस्कार व्यक्ति के जन्म व कर्म विषयक पापों एवं दोषों को नष्ट करते थे। उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि संस्कार का मूल उद्देश्य व्यक्ति को जन्म व कर्म सम्बन्धी त्रुटियों से मुक्त करके उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करना था।

तत्कालीन संस्कृत-बौद्ध-युग में समाज में जैन, श्रमण एवं ब्राह्मण तीनों धर्म समान रूप से प्रचलित रहे। अतः तत्सम्बन्धी संस्कारों का प्रचलन भी नितान्त स्वाभाविक था। यही कारण है कि हमें साहित्य में जहाँ एक ओर नामकरण, विद्यारम्भ आदि संस्कारों का उल्लेख मिलता है दूसरी ओर बौद्ध व जैनों के प्रवज्या, कुण्डलवर्धन, देवदर्शन आदि संस्कारों का भी।[4]

मानव-धर्मशास्त्र में संस्कारों का अभिप्राय बालक के उत्पन्न होने पर माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय सम्बन्धी दोषों से मुक्ति-हेतु गर्भाधान संस्कार से था।[5] याज्ञवल्क्य ने भी स्वीकार किया था कि संस्कार द्वारा बीज-गर्भजनित-दोषों से मुक्ति सम्भव है।[6] धर्मानुसार वेदाध्ययन, व्रत, होम, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पंचमहायज्ञ तथा वैदिक यज्ञ आदि द्वारा मानव जीवन ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता था। इससे संस्कारों की महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

प्रारम्भिक काल से ही संस्कार का उद्देश्य व्यक्ति की अन्तर्हित क्षमताओं को प्रकाश में लाना एवं उसे सामूहिक-जीवन के योग्य बनाकर समाज में प्रतिष्ठित करना रहा है। संस्कारों की प्रकृति प्रायः भिन्न-भिन्न थी यथा कतिपय संस्कार पवित्रता तथा अन्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लौकिकता पर आधारित थे। पवित्रता का तात्पर्य आध्यात्मिकता से था। इन संस्कारों में गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन आदि आते थे जबकि उत्सवादि के लिए किए जाने वाले संस्कारों का लौकिक महत्व समझना चाहिए। इनमें नामकरण, अन्नप्राशन एवं निष्क्रमण प्रमुख थे। उपनयन-संस्कार साधारणतया धार्मिक एवं सांस्कृतिक दोनों रूपों में महत्वपूर्ण रहा। विवाह संस्कार भी एक विशेष संस्कार था जिसमें दो व्यक्तियों को आत्म-निग्रह, त्याग एवं सहयोग द्वारा सृष्टि की शाश्वतता को बनाए रखने का श्रेय था। संस्कार द्वारा अपरिशोषित लोगों को प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। फलस्वरूप वह विशेष कार्यों एवं अधिकारों को प्राप्त करते थे। साथ ही संस्कार-युत व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक स्तर उन्नत होता था जिससे वह अपने नए-नए दायित्वों को समझता एवं करता था और इस प्रकार सुसंस्कृत व्यक्ति समाज की उन्नति में सहायक होता था।

जहाँ तक संस्कारों की संख्या का प्रश्न है विभिन्न धर्मशास्त्रों में 2 से लेकर 40 तक क्रमशः 7, 8, 13, 16, 18, 25, 40 प्रकार के संस्कारों का उल्लेख हुआ है। तत्कालीन मनु व याज्ञवल्क्य स्मृतियों में इन संख्याओं का विवरण नहीं मिलता। यद्यपि उसमें निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कारों की जानकारी मिल जाती है। द्विजातियों द्वारा इनका अनुशीलन अत्यावश्यक माना जाता था। शूद्र एव चाण्डालों को उपनयन के अतिरिक्त वेदमन्त्रहीन सभी संस्कार करने की अनुमति थी। संस्कृत बौद्ध साहित्य से हमें श्रमणों के संस्कारों का ज्ञान होता है। इनमें सर्वाधिक महत्व-पूर्ण प्रव्रज्या-संस्कार था जबकि देवदर्शन, मृत-संस्कार आदि का भी उल्लेख हुआ है। जैन साहित्य में भी प्रायः ब्राह्मण व बौद्ध जीवन में मान्य संस्कारों का प्रचलन रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों ही परम्पराओं में संस्कार सामान्य रूप से समान थे यद्यपि कतिपय संस्कारों के नाम में अवश्य भिन्नता थी। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, बौद्ध व जैन संस्कारों की क्रिया-प्रणाली भी मूलतः समान थी हालांकि उनमें किंचित विशिष्टताएँ अवश्य विद्यमान रही।

स्त्री एवं संस्कार विषय पर याज्ञवल्क्य का विचार था कि स्त्रियों के सभी संस्कार पुरुषों के समान ही जोरशोर से किए जाने चाहिए यद्यपि विवाह के अलावा अन्य संस्कारों में मन्त्रोच्चारण निषिद्ध वर्णित है।[7] मनुस्मृति में विहित हुआ है कि स्त्रियों का विवाह ही यज्ञोपवीत है, पति-सेवा गुरु-गेह में निवास एवं गृह कार्य ही श्रेष्ठ अग्निहोत्र कार्य हैं।[8]

जैसा कि सर्वविदित है संस्कारों की उत्पत्ति का इतिहास रहस्यमय है फिर भी धार्मिक-साहित्य के अध्ययन के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रारम्भ से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व संस्कारों से प्रभावित रहा है। वैदिक समाज संस्कारों से युक्त अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में था। संस्कारों की प्राचीनता समाज की प्राचीनता पर आधारित रही अर्थात समाज में प्रारम्भ से ही संस्कार विद्यमान रहे हैं। यद्यपि इन संस्कारों का स्वरूप प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न रहा। इन संस्कारों का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के किसी भाग-विशेष से न था वरन् यह तो उद्भव काल से लेकर मृत्योपरान्त चलते रहते थे।[9]

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानव-जीवन में सर्वप्रथम संस्कारों का उपयोग व्यक्ति की शारीरिक-शुद्धता से आरम्भ होता था चूँकि शरीर रक्त एवं वीर्य के रहस्यात्मक प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होने के कारण अपवित्र रहता है अतः धार्मिक कृत्य के पूर्व आवश्यक था कि शरीर को शुद्ध बनाया जाए। इसी विचार से वेदमन्त्रयुक्त संस्कारों का विधान धर्म-शास्त्रों में वर्णित हुआ। मनु का मत था कि वेदमन्त्रयुक्त संस्कारोपरान्त व्यक्ति के मन पर आध्यात्मिक ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे यह वास्तव में विश्वस्त हो जाता है कि संस्कारों द्वारा उसका अभ्युत्थान हुआ। और जब उसके मन में यह बात घर कर लेती है तो वह इस कृत्य को उचित समय एवं विधि-विधान पूर्वक करता हुआ तत्जनित फल को प्राप्त करता है। इस प्रकार संस्कारों द्वारा उत्पन्न लौकिक आनन्दों को भोगता हुआ व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

संस्कारों की उपादेयता सर्वसम्मति से मान्य होने के कारण इसका विरोध करने वाले का समाज विरोध करता था। चूँकि वह समाज विरोधी तत्त्व माना जाता था अतः दण्ड-स्वरूप इसका सामाजिक बहिष्कार हो जाता था प्रायः ऐसी धारणा थी। उदाहरण के लिए यदि द्विजाति उचित समय पर जिसकी मनु के अनुसार अधिकतम आयु क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के लिए 16, 22, 24 वर्ष के उपनयन संस्कार सम्पादित नहीं करता तो उसका जाति-बहिष्कार हो जाता था तथा उससे सामाजिक व वैवाहिक सम्बन्ध भी नहीं किए जाते थे जब तक वह सम्यक रूप से प्रायश्चित न करले।[10] संस्कारों के महत्व को स्पष्ट करते हुए कतिपय विद्वानों ने यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मण भी जन्म के तुरन्त बाद शूद्र होता है। संस्कारोपरान्त ही पुनः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण में प्रवेश योग्य होता है।

सांस्कारिक-कृत्यों में आध्यात्मिकता एवं लौकिकता मिश्रित-सुगन्ध से उनकी सुन्दरता एवं उपादेयता कदाचित् अधिक हो गई थी। सांस्कारिक-छत्र-युक्त व्यक्ति स्वयं को उन्नत एवं पवित्र अनुभव करता था।[11] वास्तव में अनेक तत्व अथवा अवयव संस्कारों में मिलकर आध्यात्मिक वातावरण को निर्मित करते थे। अतएव सस्कारों के इन अवयवों का संक्षिप्त विश्लेषण कर लेना प्रासंगिक होगा। संस्कारों का प्रधानतम अंग अग्नि था। इसकी महत्ता वैदिक काल से ही मान्य है। वैदिक ग्रन्थों मे अग्नि का विस्तृत उल्लेख हुआ है। धर्मग्रन्थों में इस गृहपति कहा है। उल्लेख है कि अग्नि कष्टों को दूर करन एवं शत्रुओं का नाश करने की सामर्थ्य रखती है। अग्नि व्यक्ति व देवता के मध्य संदेशवाहक रूप में थी। चूँकि व्यक्ति द्वारा किए गए कृत्यों का निर्देशन अग्नि करती थी। अतः इसके समक्ष किए गए कृत्य पवित्र एवं प्रभावपूर्ण माने जाते थे। प्रत्येक संस्कार मे अग्नि का आह्वान किया जाता था। विवाह-संस्कार में हवन के समक्ष किए गए सप्तपदी एवं सप्त-वचन को चिर स्थाई माना जाता था।

संस्कारों में अग्नि के उपरान्त जल का स्थान था। जल भी संस्कारों का प्रमुख तत्त्व था। जल का कार्य परिशुद्धि से रहा है। हम प्रतिदिन के कार्यों में भी इसका प्रयाग पवित्रता के लिए करते हैं। जल में शरीर को स्वच्छ करने का प्राकृतिक गुण होता है। भारतीय विचारधारा के अनुसार शरीर का मस्तिष्क से सीधा सम्बन्ध है। अतएव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसका शरीर स्वच्छ है मस्तिष्क भी स्वतः ही तद्रूप हो जाएगा। इसके अतिरिक्त जल के साथ कतिपय आध्यात्मिक विश्वास भी सम्बद्ध थे। मनुस्मृति में जल सृष्टिकर्ता की प्रथमसृष्टि विहित हुआ है।[12] अतः निश्चित रूप से इसका धार्मिक महत्व था। संस्कारों में जल का उपयोग स्नान, आचमन एवं छिड़कने के रूप में होता है। प्रार्थना तथा आर्शीवचन भी प्रायः सभी संस्कारों में प्रयुक्त होते रहे हैं। सांसारिक आनन्दों की प्राप्ति-हेतु प्रार्थना समाज में सदैव विद्यमान रही। जनसाधारण का विश्वास था कि प्रार्थना का प्रतिफल अवश्य मिलता है। राष्ट्रपिता गाँधीजी का भी यही कहना था कि प्रार्थना का प्रतिफल न मिले, यह असंभव है। अतः प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति की सर्वोन्मुखी उन्नति कर सके।

आज की भाँति कुषाण समाज में भी संस्कारों के साथ शान-शौकत, दिखावा आदि संस्कारों के प्रमुख अंग थे उपनयन, कर्ण-छेदन, मुण्डन, विवाह आदि संस्कारों का धार्मिक-महत्व के साथ-साथ लौकिक महत्व अधिक था। साज-सजावट, संगीत, नृत्य एवं अन्य उत्सव सम्बन्धी कार्य संस्कारों से इतने अधिक सम्बद्ध थे कि संस्कार का आवश्यक अंग माने जाते थे। संस्कारों में इसके अतिरिक्त होम का महत्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण भोजन तो प्रत्येक धार्मिक कृत्य में दिया जाता था। आचमन भी संस्कार का नितान्त आवश्यकतत्त्व था। आचमन द्वारा शरीर एवं स्थान को स्वच्छ करके ही अर्चना आरम्भ की जाती थी। अर्चना के आरम्भ में गणपति पूजन होता था। संस्कारों में मातृ पूजा का भी विधान था। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि उक्त वर्णित अवयव संस्कार के अनिवार्य तत्त्व थे जो संस्कार रूप में धार्मिक कृत्य को पूर्ण करते थे।

प्राप्त साहित्यिक-सामग्री के आधार पर संस्कारों का पृथक-पृथक अध्ययन एवं अनुशीलन उचित होगा। महावस्तु में यह संस्कारिक कृत्य विविध प्रकार के वर्णित हुए हैं।[13] मनुस्मृति में विहित संस्कारों में गर्भाधान, जातकर्म, नामध्येय, निष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, विवाह और श्मशान संस्कारों का उल्लेख हुआ है।[14] जबकि थोड़ी सी भिन्नता के साथ याज्ञवल्क्य ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जात-कर्म, निष्क्रमण, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और श्मशान संस्कारों का वर्णन किया है।[15] अवलोकनीय है याज्ञवल्क्य-स्मृति में केशान्त-संस्कार एवं मनुस्मृति में पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन संस्कारों का वर्णन नहीं है। प्रायः संस्कारों का विवरण तत्कालिक प्राथमिक-स्रोतों पर आधारित होने के कारण और अधिक महत्वपूर्ण है।

गर्भाधान-संस्कार

धर्मग्रन्थों में संस्कार के प्रसंग में गर्भाधान-संस्कार का नाम सर्वप्रथम आता है। बुद्ध-चरित में उल्लिखित है कि इस संस्कार द्वारा राजा शुद्धोधन एवं महामाया के सहयोग से वंश की वृद्धि हुई थी।[16] शान्तिपर्व में गर्भाधान-संस्कार को धर्म, अर्थ व काम का कारण कहा है।[17] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार को निषेक शब्द द्वारा भी संबोधित किया है। सुश्रुत-संहिता में विहित है कि व्यक्ति के शुक्राणु जो सोमगुणयुक्त एवं स्त्री के अग्निगुणयुक्त होते हैं इनके परस्पर-संयोग से ही गर्भ स्थित होता है।[18] इस

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धार्मिक-कार्य के लिए कतिपय काल श्रेष्ठ माने गए थे। स्मृतिशास्त्र में इनका विशेष उल्लेख हुआ है।[19] वर्णित है कि गर्भावस्था के तुरन्त बाद स्त्री को शारीरिक परिश्रम, व्रत, दिन में सोना, देर तक जागना, दुखी रहना, भय, यात्रा, अत्यधिक भावुकता वाले कार्य आदि नहीं करते हुए मनःस्थिति को पूर्णतः संयमित रखना चाहिए। अन्यथा इसका कुप्रभाव सन्तान एवं स्वयं के लिए अमंगलकारी रहता है।[20] इसी ग्रन्थ में आगे आता है कि जो स्त्रियां भगवत्-भजन में स्थित स्वच्छ शरीर द्वारा आत्मा को पवित्र रखती हैं उनके योग्य, सज्जन, सात्विक-मनोवृत्ति वाली सन्तान उत्पन्न होती हैं जबकि इसके विपरीत आचरण करने पर संतान भी तदनुरूप होती है।[21] अतः स्पष्ट है कि सन्तान पर माता-पिता के मनोभावों का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। उपरोक्त बातें धर्म-ग्रन्थों में वर्णित सत्य पर आधारित होने के कारण समाज को मान्य थीं। द्विज के लिए संस्कार में मन्त्रोच्चारण आवश्यक वर्णित है।[22] परन्तु शूद्र व चाण्डालों के संस्कार में निषिद्ध। मनु ने इस संस्कार को इहलोक एवं परलोक में पवित्र करने वाला शरीर-संस्कार माना था।

पुंसवन-संस्कार

पुंसवन का शाब्दिक अभिप्राय पुत्र-संतति से था। इस संस्कार द्वारा व्यक्ति भावी-सन्तति के पुत्र होने की कामना करता था। स्पष्ट है आज से हजारों वर्ष पूर्व भी हिन्दू-समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व दिया गया था। इसका विवेचन शान्तिपर्व में भी मिलता है।[23] जैन-संस्कारों में पुंसवन-संस्कार का उल्लेख न होने से विदित होता है कि संभवतः जैन-संस्कृति में कन्या व पुत्र को समान माना गया था।[24]

सीमान्तोन्नयन-संस्कार

याज्ञवल्क्य ने केवल 'सीमन्त' शब्द का प्रयोग किया है।[25] यह संस्कार बालक के सजीव होने के पूर्व 6ठे अथवा 8वें माह किया जाता था। इतिहासकार काणे के अनुसार यह संस्कार स्त्री के मनोरंजन हेतु सम्पादित होता था।[26]

जातकर्म-संस्कार

प्रायः ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्यों में जातकर्म-संस्कार का उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार का उचित समय बालक के जन्म से 11वाँ दिवस माना है।[27] मनुस्मृति में विहित है कि नाभिच्छेदन के पूर्व बालक का जातकर्म-संस्कार करना चाहिए।[28] महावस्तु में जन्म से 7 रात तक संस्कार करने का विधान वर्णित है।[29] इसी स्रोत से आगे आया है कि इस अवसर पर राजा, ब्राह्मण तथा सम्बंधीजन सैकड़ों की संख्या में एकत्रित होते हैं। जिसमें मनोरंजन हेतु उत्सव आदि का प्रबन्ध रहता है। आदिपर्व में अनेक स्थानों पर इस संस्कार का उल्लेख है।[30] मनु के विचार से इसमें स्वर्ण, घृत, मधु का नवजात-बालक को समन्त्र-प्राशन कराया जाता है।[31] दिव्यावदान में वर्णन है कि बालक को स्नान करवा कर धवल-वस्त्र में नवनीत से आपूरित किया जाता था। यह भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लेख है कि बालक को चौराहे पर लेटाकर ब्राह्मण अथवा श्रमण को बालक द्वारा प्रणाम कराने की प्रथा थी।[32]

नामकरण-संस्कार

नामकरण-संस्कार को नामध्येय भी कहा जाता था। मनु ने नामकरण-संस्कार उत्पन्न बालक का जन्म से 10वे या 12वें दिन करने को कहा है।[33] परन्तु याज्ञवल्क्य ने 6ठे दिन इस संस्कार को करने की व्यवस्था बताई है।[34] महावस्तु में प्रसंग आया है कि जातकर्म-संस्कार के एक सप्ताह उपरान्त नामकरण-संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[35] यदि किसी कारणवश संस्कार उक्त दिनों में न किया जा सके तो किसी भी शुभ-तिथि, मुहूर्त और गुणयुक्त नक्षत्र में करना उपयुक्त था।[36] विहित है कि नाम सूझ-विचार कर ही रखे जाने आवश्यक हैं। ब्राह्मण के शुभ-सूचक, क्षत्रिय के वीर्य-सूचक, वैश्य के धन-सूचक तथा शूद्र के निन्दा-सूचक नाम होते थे। प्रायः गुणों के अनुरूप ही नाम रखे जाते थे। संस्कृत बौद्ध-साहित्य मे इस संस्कार सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री है। अवदान-शतक[37] में विवरण है कि जिसके उत्पन्न होने से सम्मान-वर्धन हो उसका नाम वयुष्मान्, इसी प्रकार लोगों को प्रिय बालक का नाम प्रिय, जिसके नेत्र कमल के समान हों वह पद्मांक्ष, दुन्दुभि-सदृश-स्वर होने पर दुन्दुभिस्वर, प्रदीप्तमान होने पर सूर्य, प्रियदर्शी होने पर चन्द्र, स्वर्णिम प्रभायुक्त होने पर स्वर्णाभ, मुख एवं शरीर के सुरभि युक्त होने पर सुरभि-सदृश, जिसके उत्पन्न होने से समस्त अर्थ पूर्ण होते हों उसका नाम सवार्थसिद्ध। महाभाष्य में इन्द्र वर्मा तथा इन्द्रपालित नाम प्राप्त होते हैं जिनमें प्रथम राजन्य व द्वितीय वैश्य-सूचक हैं। अवलोकनीय है नामकरण हेतु पुरुषों की जाति के समान स्त्रियों का विचार नहीं किया जाता था। एक सामान्य नियम था कि स्त्रियों के नाम शुभ-सूचक हों। सुन्दर, सौम्य, सरलता से उच्चारण योग्य अन्त में दीर्घ अक्षरवाला, आशीर्वादयुक्त होना चाहिए।[39] इतिहासकार दास के विचार से स्त्रियाँ चूंकि शुभ व मंगलकारी होती हैं अतः उनका नाम भी उसी के अनुरूप ही रखा जाना श्रेष्ठ है।[40] अवदान-शतक में कन्याओं के नाम मणि-आभा एवं सुप्रभा आदि रखने का निर्देश है।[41] बौद्ध-साहित्य में उल्लेख है कि एक इक्ष्वाकु राजा ने इन्द्र के वरदान एवं कुल की सहायता से औषधिपान द्वारा उत्पन्न-पुत्रों का नामकरण इस प्रकार किया था—इन्द्रकुश, ब्रह्मकुश, देवकुश, ऋषिकुश, कुसुमकुश, द्रुमकुश, रत्नकुश, महाकुश, हंसकुश, कौंचकुश, मयूरकुश।[42] मनु के विचार से ब्राह्मण की उपाधि शर्मा, क्षत्रिय की वर्मा, वैश्य की धनपति तथा शूद्र की दीन अथवा दास रखनी चाहिए।[43]

निष्क्रमण-संस्कार

जैसा कि शब्द से विदित है अर्थात् बाहर निकलना। इस संस्कार में बालक को सर्वप्रथम चौथे माह घर से बाहर निकालकर सूर्य-दर्शन करने का विधान था। इसे निष्क्रमण, उपनिष्क्रमण, आदित्य-दर्शन, अभिनिष्क्रमण[44] एवं निर्णयन आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया गया है। याज्ञवल्क्य ने 6ठा माह इस संस्कार के लिए उचित माना है।[45]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्नप्राशन-संस्कार

मनुस्मृति में अन्नप्राशन-संस्कार 6ठे माह करने की अनुमति थी हालाँकि यह भी वर्णित है कि वंशपरम्परानुरूप भी इस संस्कार को सम्पन्न किया जा सकता है।[46] इसमें बालक को सर्वप्रथम अन्न में प्रायः खीर दी जाती थी। इतिहासकार के मतानुसार पिता द्वारा संतान की कामना से घी-चावल, इसी प्रकार शारीरिक-शक्ति हेतु भेड़ का मांस, सिद्धि की इच्छा से तीतर का मांस तथा साधु-स्वभाव के लिए मछली दी जाती थी।[47] सभी संस्कारों के आवश्यक कृत्य होम, ब्राह्मण-भोज, आशीर्वचन आदि सामान्य रूप से किए जाते थे।

चूड़ाकर्म-संस्कार

बौद्ध-साहित्य से प्रस्तुत संस्कार के निम्न नाम ज्ञात होते हैं यथा—जटाकर्म, चूड़ाकरण, मुण्डन, केश-कर्म आदि।[48] चूड़ा का तात्पर्य बालों के गुच्छे से था जो मुण्डित सिर पर रखा जाता था। इसे शिखा भी कहा गया। अद्यावधि यह संस्कार मुण्डन नाम से प्रचलित है। मनुस्मृति में चूड़ाकर्म के महत्व पर बल देते हुए लिखा है कि द्विजों के जन्म-सम्बन्धी दोष इस संस्कार द्वारा नष्ट हो जाते हैं। साधारणतया सभी धर्मग्रन्थ चूड़ाकर्म-संस्कार के लिए उपयुक्त समय प्रथम अथवा तृतीय वर्ष मानते हैं। स्मृतियों में परम्परा-नुसार इसे करने का समर्थन है। कटे केश किसी गुप्त स्थान अथवा नदी में डाल दिए जाते थे। मनु ने कन्याओं के जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक के संस्कारों को बिना मन्त्रोच्चारण के करने का अनुमोदन किया है।

केशान्त-संस्कार

मनु ने सभी वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् अवस्था में इस संस्कार को करने का उल्लेख किया है। ब्राह्मण को गर्भ से 16वे वर्ष, क्षत्रिय को 22वें वर्ष एवं वैश्य को 24वें वर्ष केशान्त-संस्कार करने की अनुमति थी।[49] इस संस्कार में ब्रह्मचर्यावस्था के केशों को कटवाया जाता था। अनुमानतः यह समावर्तन-संस्कार के पूर्व किया जाता होगा।

देवदर्शन-संस्कार

देवदर्शन बौद्ध-संस्कार था।[50] उल्लिखित है कि नवजात-शिशु को देवदर्शन हेतु सुसज्जित गलियों, नगरों, राजमार्गों में ले जाया जाता था। उत्सव मनाने के लिए राज-द्वार में श्रेणी गृहपति, अमात्य, दौवारिक तथा परिषद एकत्र होते थे। तदुपरान्त बालक को स्वच्छ नवीन वस्त्रावृत कर कुलदेवता के दर्शन कराए जाते थे।[51] स्पष्ट है उस प्रकार का धार्मिक-महत्व तो आंशिक था मुख्य रूप से सांस्कृतिक-महत्व ही था। स्मरणीय है कि बौद्धों के विभिन्न संस्कार सर्वसाधारण के लिए थे।

उपनयन-संस्कार

संस्कारों की शृंखला में उपनयन-संस्कार को विशेष महत्व प्राप्त था। इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कारोपरान्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण द्विज कहलाते थे। यह संस्कार अतिपवित्र धार्मिक कृत्य माना जाता था जिसके फलस्वरूप व्यक्ति जीवन के नए आयामों में प्रवेश करता था।[52] सुश्रुत-संहिता में ब्राह्मण को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; क्षत्रिय को क्षत्रिय, वैश्य एवं वैश्य को वैश्य के उपनयन कराने का अधिकारी माना था।[53] मनुस्मृति में उपनयन-संस्कार के लिए मौज्जीबन्धन, यज्ञोपवीत आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वर्णित है कि द्विजों के उत्पति-संबंधी दोष उपनयन-संस्कार द्वारा नष्ट हो जाते हैं।[54] यद्यपि उपनयन-संस्कार का विस्तृत-विवेचन ब्रह्मचर्याश्रम में किया जा चुका है परन्तु संस्कार-अध्याय में उपनयन-संस्कार के महत्व को विचार कर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। उपनयन का अभिप्राय सन्निकट ले जाना अर्थात् वेदज्ञान हेतु गुरु के समीप ले जाना था।

एक इतिहासकार ने विभिन्न वर्णों के उपनयन के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् ऋतुओं का विधान विहित किया है यथा—ब्राह्मण का उपनयन वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म एवं वैश्य का शरद ऋतु में करना उपयुक्त है।[55] जैसा कि ऊपर विवरण आया है कि साधारणतया उपनयन की आयु गर्भ से अथवा जन्म से 8वें, 11वें तथा 12वें वर्ष क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के लिए मान्य थी। मनु ने अधिक ज्ञान, शूरता-वीरता एवं धन-सम्पत्ति हेतु 5वें, 6वें तथा 8वें वर्ष को उपयुक्त माना है। यह भी उल्लेख है कि उक्त आयु तक उपनयन नहीं करने पर 16वें, 22वें तथा 24वें वर्ष तो अवश्य ही सम्पादित कर लेना चाहिए। अन्यथा द्विज-वर्ण का जाति-बहिष्कार हो जाएगा। यद्यपि पुनः प्रायश्चित द्वारा जाति में प्रवेश भी संभव था।[56]

उपनयन-संस्कारोपरान्त बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। वस्त्र रूप में वह उत्तरीय एवं अधोवस्त्र ही धारण करता था। ब्रह्मचारी के वस्त्र, दण्ड, मेखला व यज्ञोपवीत प्रायः वर्ण के अनुरूप हुआ करते थे। यहाँ प्राप्त सामग्री के आधार पर मात्र यज्ञोपवीत-विषयक किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है। वास्तव में यज्ञोपवीत डोरी के समान होता था। ब्राह्मण का कपास, क्षत्रिय का सन तथा वैश्यवर्ण का सूत-निर्मित होता था जो जीवन भर धारण करना आवश्यक था। यज्ञोपवीत धारण करने के विविध प्रकार मनुस्मृति में विहित हैं। जिनका उल्लेख ब्रह्मचर्य-आश्रम में किया जा चुका है। पिण्डदान के अवसर पर प्राचीनावीती प्रकार से यज्ञोपवीत का प्रचलन था। मनु का निर्देश था कि किसी का यज्ञोपवीत अन्य धारण न करे।[57] वर्णनीय है कि तत्कालीन स्त्रियों में भी मन्त्रोच्चारणहीन यज्ञोपवीत की प्रथा थी। इसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्य द्वारा हो जाती है।[58] उपनयन-संस्कारोपरान्त ब्रह्मचारी के सिर के केश उतारे जाते थे। मात्र शिखा ही मुण्डित सिर पर शेष रह जाती थी। बालक दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत आदि धारण कर जीवन के प्रथम सोपान ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता था। ब्रह्मचारी के जीवन में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान था।

शिक्षा गुरुगेह में दी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा हर किसी शिष्य को नहीं दी जाती थी वरन् जो मन व शरीर से पवित्र, धर्मज्ञानी, सत्यवादी, शिक्षण-हेतु धन दे सके, व्यवस्थित चित्त वाला हो आदि ही शिक्षा के पात्र माने गए।[57] मनुस्मृति में विहित है कि गुरु के सम्मुख शिष्य को विनम्रतापूर्वक आचरण करना, नीचे स्थान पर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बैठना तथा वस्त्रादि भी गुरु की अपेक्षा साधारण हों।[60] उपनयन-संस्कार के पश्चात् एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व ब्रह्मचारी को संयमित रहना आवश्यक था। उसे मधु, मांस, सुगन्धित पदार्थ, फूलों की माला, रस, स्त्री, अचार, जीव-हिंसा, गाना-बजाना आदि निषिद्ध था।[61] उसकी जीवन-चर्या सम्बन्धी आचरण का स्मृतिशास्त्र में विशद विवरण मिलता है। ब्रह्मचारी को नित्य प्रातः एवं सायंकाल हवन, भिक्षा-याचना, पृथ्वी-शयन, गुरुहित के कार्य, प्रतिदिन-स्नान, देवों, ऋषियों, पितरों को तर्पण, गुरु-सुश्रुषा, वाक्संयम तथा समिधादान आदि देना पड़ता था। सन्ध्या दोनों प्रहर प्रातः एवं सायंकाल करने पर विशेष बल था।

उपनयन-संस्कार का महत्त्वपूर्ण-तत्व भिक्षा-याचना थी। स्मृतियों में भिक्षा में प्राप्त भोजन को शुद्ध माना है। यह भी उल्लेख है कि भिक्षा में प्राप्त भोजन पर आधारित ब्रह्मचारी को उपवास का फल मिलता था। भिक्षा के नियमों का अनुपालन आवश्यक था। प्रायः भिक्षा माता, बहिन, मौसी, मामा आदि सम्बन्धियों अथवा जो बिना अपमान करे दे, उससे ही माँगी जाती थी। उल्लेख है कि सर्वोत्तम-भिक्षा तो वेदाध्ययन पंच-महायज्ञ एवं श्रेष्ठ-कर्म करने वालों से ग्रहण करना है, उनके अभाव में भले ही ब्रह्मचारी सम्पूर्ण गाँव से भिक्षा माँग सकता है परन्तु महापातकियों से कदापि नहीं। भिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त सर्वप्रथम गुरु को, उनकी अनुपस्थिति में गुरुपत्नी एवं गुरुपुत्र को अर्पित करके तदुपरान्त आचमन कर पूर्व-दिशाभिमुख हो ग्रहण करे, ऐसा शास्त्र-विहित नियम था।[62]

विद्यारम्भ-संस्कार

विद्यारम्भ-संस्कार ब्राह्मण-धर्म में उपनयन-संस्कार से सम्बद्ध था परन्तु बौद्ध-साहित्य में इसका पृथक् वर्णन है। सौन्दरनन्द में विद्यारम्भ-संस्कार उपनयनोपरान्त आरंभ होने का विवरण है।[63] महावस्तु में इस संस्कार को सम्पादित करने के लिए 7 अथवा 8वाँ वर्ष उचित माना है।[64] साधारणतया इस संस्कार की उपयोगिता ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों संस्कृतियों द्वारा स्वीकार की गई थी। बुद्ध चरित में उल्लेख है कि परम्परानुरूप विद्या-ग्रहण करने हेतु बालक लिपिशाला में ले जाया जाता था।[65] जो ब्राह्मणों के गुरुगेह के समान थी। ललित विस्तर में इस विषय का विस्तृत-विवेचन हुआ है। विहित है कि इस अवसर पर बालकों को पुरस्कार, खाद्य-पदार्थ दान, स्वर्ण-दान आदि दिया जाता था। सर्वप्रथम विद्यारम्भ चन्दन की पट्टिका पर ही किया जाता था।[66]

समावर्तन-संस्कार

ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर जो संस्कार किया जाता था समावर्तन कहलाया। इसे स्नान भी कहा गया है।[67] ब्रह्मचारी वेदाध्ययन के उपरान्त स्नान करके जब घर लौटता था तभी यह संस्कार किया जाता था। ब्रह्मचारी समावर्तन-संस्कार करके पलंग पर बैठ सकता था। ब्रह्मचर्य के अन्त में यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला एवं मृगचर्म को जल में त्याग कर ॐ उच्चारित किया जाता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाह-संस्कार

प्रायः सभी परम्पराओं में विवाह-संस्कार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बौद्ध-साहित्य में इस संस्कार को पाणि-ग्रहण-संस्कार कहा गया। विहित है कि विवाह-धर्म गृहस्थजनों का महत्वपूर्ण संस्कार है।[68] इस संस्कार का विशद वर्णन विवाह सम्बन्धी अध्याय में किया जाएगा। इसके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम के प्रसंग में भी संक्षिप्त-परिचय दिया गया है। अतएव यहाँ पुनः विस्तृत विवरण देना व्यर्थ की पुनरावृत्ति होगी।

प्रव्रज्या-संस्कार

प्रव्रज्या बौद्ध-धर्म का प्रमुख-संस्कार था। अवदान-शतक में वर्णित है कि प्रत्येक बौद्ध को अधिक अथवा अल्प काल के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना आवश्यक है।[69] यह संस्कार इच्छानुसार पाणि-ग्रहण के पूर्व या पश्चात् हो सकता था। आचरण के आधार पर बौद्धों की 4 शाखाएं थीं यथा—पंचशीलधारी-उपासक, अष्टशीलधारी-उपासक, दश-शीलधारी श्रामणेर और दो सौ सत्ताइस शीलधारी-श्रमण अथवा भिक्षु। प्रथम दो शाखाएं बौद्ध-गृहस्थों की थीं तथा तीसरी श्रामणेर की। श्रामणेर की दीक्षा को उपसम्पदा कहा जाता था। उपसम्पदा ग्रहण करने के पहले श्रामणेर होना आवश्यक था। संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में इससे सम्बन्धित विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रायः स्त्रियाँ भी इस संस्कार को करती। पुरुषों की भाँति प्रव्रज्या ग्रहण करते समय उनके केशों को भी कटवाया जाता था तथा काशाय-वस्त्र धारण करना अनिवार्य था।[70]

प्रव्रज्या की दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व दीक्षार्थी से पूछा जाता था कि वह पितृ-हन्ता, मातृ-हन्ता, अर्हत-हन्ता तो नहीं है यदि वह एक भी हत्या के पाप से दूषित होता था तो उसे प्रव्रजित करने की अनुमति नहीं मिलती थी।[71] दीक्षार्थी के योग्य होने पर परि-व्राजक की जीवन-चर्या की कठिनाइयों को पूर्व ही सूचित कर दिया जाता था जैसे—उसे भूमि पर घास बिछाकर सोना, वृक्षों की जड़ों में सोना, चाण्डाल और पुक्कस जनों से भी भिक्षा-याचना करना, श्वानवत उच्छिष्ट-भोजन करना, श्मशान-भूमि में प्रवास, जंगलों में भ्रमण, सिंहों, व्याघ्रों, मेरुदण्डकों के भयंकर-गर्जन का श्रवण, रक्तमांस का त्याग आदि अनिवार्य होगा।[72] सौन्दरनन्द में तथागत ने नन्द को उक्त परिस्थितियों से पूर्व अवगत कराकर ही दीक्षा दी थी।[73] तत्पश्चात् दीक्षार्थी से स्वीकृति ली जाती थी। सौन्दरनन्द का संस्मरण इस प्रकार उल्लिखित है, नन्द को दीक्षा-हेतु जब तथागत ने आनन्द को निर्देश दिए, नन्द ने प्रव्रजित होने से इन्कार कर दिया। तब तथागत ने पुनः नन्द को समझाया। तदुपरान्त नन्द के अंगीकार करने पर ही उसे प्रव्रजित किया गया था।[74] दीक्षित होने के पूर्व की विभिन्न औपचारिकताओं में यह भी अनिवार्य था कि माता-पिता एवं विवाहित पत्नी की अनुमति ग्रहण की जाए।[75] प्रव्रज्या सम्बन्धी क्रियाएँ बौद्धों के विहारों में सम्पन्न होती थीं।[76] दीक्षा देने का अधिकार मात्र भिक्षु को था। सर्वप्रथम दीक्षार्थी को क्षौरकर्म, केश कटाकर मुण्डित होना पड़ता था। तत्पश्चात् काशाय-वस्त्र धारण किये जाते थे।[77] अब उसे त्रिरत्न एवं पंचशील की तथा श्रामणेर को दश-शील की दीक्षा दी जाती थी। महावस्तु में विवरण है कि राहुल के केशकाटकर शारिपुत्र

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने दाहिना हाथ, इसी प्रकार मौद्गालन ने बायाँ हाथ पकड़ कर दीक्षित किया था।[78] दीक्षोपरान्त वह भिक्षु को साष्टांग-प्रणाम करता था एवं इसके बाद से गुरु द्वारा आदेशित आचरण करता था।[79]

अन्त्येष्ठि-संस्कार

अन्त्येष्ठि-संस्कार मनुष्य-जीवन का अन्तिम-संस्कार था। बौद्ध साहित्य में इसे मृत-संस्कार कहा गया। जबकि स्मृति-शास्त्र में यह श्मशान नाम से अभिहित है।[80] बौद्ध-ग्रन्थों से मृत-कर्म पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ललित-विस्तर में उल्लेख है कि शव को शाणक नामक वस्त्र द्वारा ढका जाता था।[81] सम्बन्धियों द्वारा मृतक् की अवस्था एवं सम्बन्धों के अनुरूप ही विलाप किया जाता था। शव को श्मशान भूमि-मंचक पर ले जाया जाता था।[82] शव हेतु पालकी जिसे शिविका कहते हैं, का प्रयोग होता था। यह विविध रंगों द्वारा सुसज्जित होती थी।[83] बुद्ध-चरित में तथागत का शवदाह-सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण मिलता है। विहित है कि उनके शव को सुन्दर, बहुमूल्य पालकी पर रखा गया था। शव को पुष्प-मालाओं एवं सुगन्धि द्वारा सुसज्जित एवं सम्मानित किया गया था। सुकन्याओं में अत्यधिक चकाचौंध करने वाले विद्युत-सदृश-वितान पालकी में बनाए थे। जनसमूह में से कतिपय तो श्वेत-मालाओं के छत्र एवं अन्य स्वर्ण-मण्डित धवल-चवर डुला रहे थे। चिता के निर्माण में सुगन्धित वल्कल, पत्ते, अगुरु, चन्दन एवं गलगज का प्रयोग किया गया था। दाह-हेतु घृत एवं जलावन उपयुक्त माना जाता था। अवशेषों को स्वर्ण-कलश में सुरक्षित रखा गया था बौद्ध-परम्परा में अवशेषों पर स्तूप निर्मित किए जाते थे। बुद्ध-चरित्र में उल्लेख आता है कि तथागत के अवशिष्ट पुष्पों पर श्वेत-पर्वत के सदृश 10 स्तूपों का निर्माण हुआ था।[84] ब्राह्मण उनको घर में रखकर काशी ले जाते थे।[85] दाहकर्म से निवृत्त हो समस्त जन लौटकर स्नान करते थे इन समस्त प्रक्रियाओं को मृत-संस्कार कहा जाता था।[86]

इस प्रकार मानव-जीवन के उपरोक्त संस्कार एवं तत्सम्बन्धी मान्यताएँ कुषाण-समाज में विद्यमान रही।

निष्कर्ष

संस्कार कुषाण-कालीन-समाज में व्यक्तिमात्र का आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया था। संस्कार द्वारा व्यक्ति जन्म व कर्म विषयक-पापों से विमुक्त हो जाता था। संस्कार युक्त वह स्वयं को पवित्र, सुरक्षित एवं समुन्नत महसूस करता था। संस्कारिक-व्यक्ति निःसन्देह सुसंस्कृत हो समाज में विशिष्ट सम्मानित-पद प्राप्त करता था एवं उसका मनोवैज्ञानिक-स्तर भी विकसित हो जाता था। अतएव संस्कार का महत्व सर्वसम्मति से मान्य रहा। जनसाधारण का विश्वास था कि व्यक्ति का व्यक्तित्व संस्कारों के अनुरूप होता है। यदि संस्कार विधि-पूर्वक सम्पादित किए जाएँ तो व्यक्ति में अवश्यमेव सरलता, सुन्दरता, सज्जनता, सुशीलता, सौहार्दता आदि लक्षणों का समावेश परिलक्षित होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति निश्चय ही मनोवांछित इहलौकिक एवं पारलौकिक आनन्दों को भी प्राप्त करेगा।

तत्कालीन साहित्य में संस्कार-सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है। उसके तुलनात्मक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि संस्कार सम्बन्धी अवमाननाएं प्रायः समान थीं यथा-तीनों संस्कृतियों के संस्कारों में संस्कारों का अभिप्राय ऐसे धार्मिक-कार्य से था जो जन्म व कर्मजनित-दोषों को नष्ट करके जीवन को पवित्र करने में सक्षम थे। सभी के संस्कारों में अग्नि, जल, प्रार्थना, आशीर्वचन आदि को आवश्यक-अवयव माना गया था। एवं कतिपय संस्कार जैसे—जात-कर्म, नामकरण, केशकर्म, कुण्डलवर्धन, विद्यारम्भ, पाणिग्रहण, मृत संस्कार आदि सभी में समान थे। तीनों परम्पराओं में आयु सम्बन्धी विचार भी समान रूप से किया गया था। यद्यपि एक भिन्नता वर्ण-विभाजन की अवश्य विद्यमान रही जो स्वाभाविक भी थी चूंकि बौद्ध व जैन धर्म की व्युत्पति का कारण वर्ण-विभाजन था। वर्ण-विभाजन ब्राह्मण-धर्म का प्राण-तत्व था जबकि बौद्ध व जैन धर्म इसके कट्टर-विरोधी। अतः बौद्धों के नामकरण, जातकर्म, कुण्डलवर्धन, देवदर्शन, विद्यारम्भ, पाणिग्रहण, प्रव्रज्या, मृतसंस्कार आदि मनुष्य मात्र हेतु थे। इसी प्रकार जैन-संस्कार भी। तथा इनसे सम्बन्धित निर्देश भी सभी के लिए समान थे। इसके विपरीत ब्राह्मण-धर्म में संस्कार करने का अधिकार तो सभी वर्णों को प्राप्त था परन्तु इन संस्कारों में मंत्रोच्चारण के योग्य द्विज ही माने गए थे। शूद्र व चाण्डालों को मंत्रोच्चारण सर्वथा-वर्जित था। इनको उपनयन-संस्कार करना भी निषिद्ध था। जहाँ तक स्त्री का संस्कार से सम्बन्ध है प्रायः सभी धर्मों में उन्हें संस्कार करने की पूर्ण अनुमति मिली परन्तु ब्राह्मण-धर्म में विवाह-संस्कार के अतिरिक्त सभी स्त्री-संस्कारों को मंत्र-हीन करने का आदेश था। विभिन्न-संस्कारों में विभिन्न-वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न नियम धर्म-शास्त्रों में विहित हुए हैं जिनका कितना पालन किया जाता था कहना कठिन है। साधारणतया सभी साहित्यों में धार्मिक कठोर-सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो मिलता है पर व्यावहारिक-स्वरूप में निःसन्देह शिथिलताएं ही दृष्टिगोचर होती हैं। तत्कालीन समाज में तो वैसे भी पृथक् संस्कृतियों के समकालीन होने से विषमताओं का आना स्वाभाविक था।

ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन संस्कारों का स्वरूप पूर्ववत सुव्यवस्थित न रह पाया चूंकि प्रचलित परस्पर विरोधी-धर्मों की मान्यताओं को विकसित होने के लिए स्वस्थ-वातावरण ही न मिला जिसका कुप्रभाव निश्चित रूप से संस्कारों पर पड़ा।

सन्दर्भ

1. अवदान०, 4।183।13, 4।184।6, 4।186।4
2. वही, 2।25।8
3. शास्त्री, एच०, हिन्दू संस्काराज़ इन एंशियंट इन्डिया, पृ० 11
4. महाव० 3।263
5. मनु०, 2।27-8
6. याज्ञ०, 1।13

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

7. याज्ञ०, 1।13
8. मनु० 2।67
9. याज्ञ०, 1।10
10. मनु०, 2।39
11. शास्त्री, एच०, वही पृ० 29
12. मनु०, 1।8
13. महाव०, 2।63
14. मनु०, 2।26-8, 3।5, 2।16
15. याज्ञ०, 1।12-2,4
16. बु० च०, 1।1, 3,5
17. म० भा०, 12।12311-3
18. सुश्रुत०, 3।2-3
19. याज्ञ०, 1।79-80
20. सुश्रुत०, 3।13-14
21. सुश्रुत०, 3।33
22. मनु०, 2।26
23. म० भा०, 12।265।20
24. बा० छो० जै० स्मृ० ग्र०, 1967, पृ० 91
25. याज्ञ०, 1।11
26. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 190
27. याज्ञ०, 1।11-2
28. मनु०, 2।29
29. महाव०, 2।422
30. म० भा०, 1।74।3
31. मनु०, 2।29
32. दिव्या०, 427।10-4
33. मनु०, 2।30
34. याज्ञ०, 1।12
35. महाव०, 2।422
36. सुश्रुत०, 10।27
37. अवदान०, 7।354।11; 7।371।11; 6।295।11; 7।381।11
38. वही, 7।346।3-4; 7।350।11-2; 7।354-5
39. शर्मा, आर० एन०, ब्रह्मनिज्म थ्रू दि एजेज, पृ० 191
40. दास, आर० एम०, वही, पृ० 74
41. अवदान०, 7।371।11
42. महाव०, 2।433

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

43. मनु०, 2।32
44. महाव०, 3।263-4
45. याज्ञ०, 1।11-2
46. मनु०, 2।34
47. आयबायर, जे०, डेली लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० 164
48. महाव०, 3।263; 3।191
49. मनु०, 2।65
50. ललित०, 118।15
51. वही, 118।5, 119।21
52. आयबायर, जे०, वही, पृ० 167
53. सुश्रुत०, 2।5
54. मनु०, 2।27
55. आयबायर, जे०, वही, पृ० 167
56. मनु०, 2।36-45
57. मनु०, 2।63; 4।66
58. स्मिथ, वी० ए०, दि जैन स्तूप, जे० 276
59. सुश्रुत०, 2।3
60. मनु०, 2।198
61. याज्ञ०, 1।33
62. मनु०, 2।188; 2।50-51
63. सौ०, 2।63
64. महाव०; 2।434
65. बु० च०, 2। 24
66. ललित०, 123।13; 125।15-6
67. याज्ञ०, 1।51
68. महाव०, 2।444
69. अवदान०, 3।13।17
70. दिव्या०, 317।31-2
71. वही, 160।24-30
72. महाव०, 3।264
73. सौ०, 5।11
74. सौ०, 5।34
75. अवदान०, 3।136-5
76. सौ०, 5।20,
77. अवदान०, 3।13।15-6,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

78. महाव०, 3।268
79. सौ०, 18।5
80. याज्ञ०, 1।10,
81. ललित०, 229।9
82. महाव०, 2।154
83. दिव्या०,163।9-10
84. बु० च० 27।60-4
85. महाव०, 2।78
86. बु० च०,24।63

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6

विवाह

सृष्टि की संरचना ईश्वर द्वारा की गई है। इस सृष्टि की निरन्तरता को बनाए रखने-हेतु विवाह करना परमावश्यक था। चूंकि विवाह का सम्बन्ध ईश्वरीय-उत्पत्ति सृष्टि से था अतः विवाह-कार्य को धार्मिक कार्य कहा गया। एवं धार्मिक कार्य ही संस्कार थे। विवाह-संस्कार सर्वोत्कृष्ट-संस्कार था। इसकी उपयोगिता प्रारम्भिक-काल से ही प्रत्येक समाज को मान्य रही है।

कुषाण-समाज में भी विवाह का महत्व विद्यमान रहा। विवाह की उपादेयता दो रूपों में स्वीकार की गई। तथा इन दोनों को पूर्ण करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य था। प्रथमतः विवाहित व्यक्ति ही पत्नी के साथ धार्मिक-कार्यों को सम्पन्न कर सकता था क्योंकि अविवाहित व्यक्ति इसके अयोग्य माना गया। एवं अयोग्य व्यक्ति द्वारा सम्पादित यज्ञादि-कार्य भी अपूर्ण ही रहते। दूसरा कार्य प्रजोत्पत्ति करना था जो पुनः पत्नी द्वारा ही सम्भव था अतएव विवाह परमावश्यक माना गया।

ब्राह्मण, जैन व श्रवण साहित्य द्वारा तत्कालीन विवाह पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनमें उद्वाह, उपयम, पाणिग्रहण-परिणयम्, आवाह-विवाह आदि शब्द विवाह के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[1] प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर सर्वप्रथम विवाह का वास्तविक स्वरूप, विवाह के विविध प्रकार, वैवाहिक-विधि एवं विवाह-संबन्धी मान्यताओं का विवेचन करना उचित होगा। विवाह स्त्री-पुरुष का आमरण-बन्धन था जिसे एक इतिहासकार ने संवैधानिक-संयोग माना है।[2] मनु ने धर्म, अर्थ व काम विषयों में पति-पत्नी का पारस्परिक सहयोग परमधर्म कहा है। इस प्रकार आचरण करते हुए पति-पत्नी निःसन्देह पितृ-ऋण एवं देव-ऋण से उऋण हो जीवन के अन्तिम-लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति में सफल होते हैं।[3]

तत्कालीन-समाज में विवाहों के विविध-प्रकार परिलक्षित होते हैं यथा-सजातीय विवाह, विजातीय-विवाह। विजातीय-विवाह के अन्तर्गत अनुलोम-विवाह, प्रतिलोम-विवाह, बहु विवाह (अनेक पति एवं अनेक पत्नी विवाह), स्वयंवर-विवाह आदि थे। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में विहित विवाह-प्रकार, विधवा-विवाह, नियोग आदि प्रचलित रहे। यह समकालिक राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण से प्रभावित

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। अतः विवाह का स्वरूप भी ब्राह्मण, जैन व श्रवण संस्कृति की मान्यताओं का संपुन्जन रूप था। चूंकि किसी भी संस्कृति को स्वतन्त्रतापूर्वक दृढ़ रखने का अवसर नहीं मिला। प्रसंगवश प्रत्येक विवाह का विस्तृत अध्ययन समुचित होगा। साधारणतया सवर्ण विवाह ही सर्वोत्तम-विवाह माना गया था। उसकी श्रेष्ठता को सभी धर्म-ग्रन्थों ने मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है क्योंकि धार्मिक-कृत्यों की सफलता सवर्ण-पत्नी द्वारा ही संभव थी अतएव सवर्ण-विवाह वास्तविक विवाह माना गया।[4] दिव्यावदान में उल्लेख है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल और पुक्कस अपने-अपने वर्ण में विवाह करते हैं। द्विजातियों एवं चाण्डालों के मध्य विवाह सम्बन्ध मूर्खता-जनक पवन को पाश में बाँधने की भाँति थे।[5] यह भी ज्ञात होता है कि जब राजा शुद्धोधन ने शिल्पकार दण्डपाणि की पुत्री कुमार सिद्धार्थ हेतु माँगी तो दण्डपाणि ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि आर्य सम्पन्न परिवार के हैं फिर भी हमारी परम्परानुसार शिल्पी की कन्या शिल्पी को ही दी जाएगी। कुमार शिल्पी नहीं हैं वह धनुष व युद्ध-कला में दक्ष हैं अतः कन्या उन्हें कैसे दी जाए।[6] यह परम्परा स्वजाति को पवित्र रखने हेतु थी।[7] क्षत्रिय भी अपनी कन्याओं का विवाह ब्राह्मण से करने की अपेक्षा प्रायः सवर्ण से करना उचित मानते थे यद्यपि ब्राह्मण के भूपति एवं उच्च-अधिकारियों से भी विवाह के कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं।[8]

कुषाण-कालीन सामाजिक-परिवेश में विजातीय-विवाहों को अधिक बल मिला। यह तत्कालीन बौद्ध व जैन वातावरण के दृष्टिकोण से स्वाभाविक था जिसमें जाति-विभेद का खुलकर विरोध एवं विदेशी-शासकों द्वारा उसका समर्थन किया गया था। फलतः हमें विदेशी-शासकों के भारतीय परिवारों के साथ विवाह के उद्धरण मिलते हैं वाशिष्ठ पुत्र पुलभावी के नासिक-गुफा अभिलेख[9] में रुद्रदामन शक-शासक का विवाह श्री शिव-शातकर्णी सातवाहन-शासक की पुत्री से हुआ विदित है। अवलोकनीय है यहाँ शातकर्णी के लिए 'एक ब्राह्मण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसका अभिप्राय निश्चय ही श्रेष्ठ-ब्राह्मण (पुरोहित) से था। अतएव स्पष्ट है कि शक-शासकों के वैवाहिक संबंध भारतीय संभ्रान्त परिवारों में भी सम्भव थे। ललित-विस्तार में उल्लेख है कि राजा शुद्धोधन ने पुत्र सिद्धार्थ के विवाह हेतु गुणयुक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा किसी भी वर्ण की कन्या उपयुक्त मानी थी। निःसन्देह उनके द्वारा कन्या के कुल एवं गौत्र का विचार नहीं किया गया।[10] उस समय समाज में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह-प्रकार विशेष प्रचलित रहे। यह विवाह बहुविवाह-प्रथा के भी द्योतक हैं। तथा बहुविवाह-प्रथा पितृ-प्रधान-समाज को स्पष्ट करती है।[11] उच्च-वर्ण का पुरुष जब निम्न-वर्ण की स्त्री से विवाह करता था तो इसे अनुलोम-विवाह कहा जाता था। स्मृति शास्त्र के अनुसार अन्य विवाह की इच्छा वाले व्यक्ति को अनुलोम-विवाह की अनुमति थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण-पुरुष चार विवाह प्रायः सभी वर्णों की कन्याओं से, क्षत्रिय-पुरुष क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कन्याओं से, वैश्य-पुरुष वैश्य व शूद्र कन्याओं से और शूद्र मात्र शूद्र कन्या से विवाह कर सकता था।[12] पुरुष की अनेक सवर्ण एवं विवर्ण पत्नियाँ होने पर इन्हें वर्णानुसार ही भाषण, संपत्ति, वस्त्राभूषण तथा निवासादि सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होते थे। जैसे पति की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Gurugram

सेवा एवं धार्मिक-कार्यों में सवर्ण-पत्नी सर्वोत्तम मानी गई।[13] तथा शूद्र-पत्नी धार्मिक-कृत्यों के अयोग्य।[14] इसी प्रकार गुरु पत्नियों के साथ भी विवर्ण गुरुपत्नी का दूर से ही सत्कार करना एवं सवर्ण पत्नी को गुरु के समान चरणस्पर्श द्वारा सम्मान करने की व्यवस्था थी। आगे विहित हुआ है कि ब्राह्मण की चारों वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति माता के वर्णानुसार ही प्राप्त होती थी यथा-ब्राह्मण पुत्र पिता के धन में से 4/10 भाग, क्षत्रिय पुत्र 3/10 भाग, वैश्य-पुत्र 2/10 भाग एवं शूद्र पुत्र 1/10 भाग का अधिकारी था। यद्यपि समाज में ब्राह्मण व शूद्र विवाह भी होते थे परन्तु उसे सज्जनों द्वारा अनुकरणीय नहीं माना गया। विहित है कि सवर्ण-विवाह से विवाहित द्विज शूद्र-कन्या से विवाह करके जाति-च्युत् हो जाता है। अतः यह सम्बन्ध सर्वथा त्याज्य हैं चूंकि शूद्र पत्नी द्वारा सम्पादित हव्य-कव्य देवता, पितर गृहण नहीं करते। यही नहीं शूद्र-पत्नी से उत्पन्न पुत्र सहित ब्राह्मण नरक जाता है। मन के विचार से विपत्ति में भी ब्राह्मण व क्षत्रिय की शूद्र-पत्नी वैद्य नहीं है।[15] याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण-पुरुष व शूद्र-स्त्री की पुत्री को 'पारशव' कहा है। पारशव का अभिप्राय शव से है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के विवाह मान्य अवश्य रहे हैं।[16] परन्तु प्रशंसनीय नहीं। सौन्दरनंद में वर्णित मुनि वशिष्ट और चाण्डाल बालिका अक्षमाला, मुनि पारशव और धीमर पुत्री काली का विवाह अनुलोम-विवाह ही तो थे। प्रतिलोम विवाह अनुलोम विवाह से स्वभावतः विपरीत था। इसमें निम्न-वर्ण के पुरुष एवं उच्च-वर्ण की कन्या में विवाह-सम्बन्ध होता था। प्रसेनजित पुत्री का चाण्डाल के साथ तथा कुकुदवती का मछुए के साथ प्रतिलोम-विवाह हुए थे।[17] यह विवाह अनुलोम की अपेक्षा हेय-दृष्टि से देखे गए। स्मरणीय है कि जहाँ मनुस्मृति मे ब्राह्मण-हेतु चारों वर्णों की पत्नियों का उल्लेख है याज्ञवल्क्य शूद्र को ब्राह्मणी से विवाह करने की कदापि अनुमति नहीं देते।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में बहुविवाह प्रायः हुआ करते थे। यह विवाह राजघरानों में अधिक प्रचलित रहे। निःसन्देह बहुविवाह समृद्धता एवं एक विवाह आर्थिक-दुर्बलता के सूचक भी थे।[18] ललितविस्तार में राजा शुद्धोधन की सहस्रों रानियों का उल्लेख हुआ है।[19] इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण महावस्तु में मिलता है जिसमें वाराणसी के इक्ष्वाकु-राजा की रानियों में अलिन्दादेवी को अग्रमहिषी कहा है।[20] स्वयं याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ कात्यायनी एवं मैत्रेयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सवर्ण एक पत्नी को श्रेष्ठतम मानने वाले आदर्शवादी-धर्म ग्रन्थों में व्यावहारिकता को दृष्टिगत कर अनेक पत्नी-प्रथा का भी अनुमोदन किया गया। वह बहुपत्नी-विवाह स्त्रियों की अवनत दशा का द्योतक है। प्रस्तुत बहुविवाह प्रकार में अधिकांश अनेक पत्नी-विवाह का समर्थन करते हैं यद्यपि अनेक पति-विवाह के भी कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत में पाँच पाण्डव एवं द्रोपदी का विवाह इस विवाह-व्यवस्था का ज्वलन्त उदाहरण है। इसके अतिरिक्त धर्मग्रन्थों में यदा-कदा ऐसे और भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं परन्तु वह संख्या में इतने अल्प हैं कि उन्हें अपवाद-स्वरूप ही ग्रहण करना होगा।

एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अनेक पत्नी-प्रथा की उत्पत्ति एवं विकास के क्या कारण थे? स्मृति-शास्त्र से विदित होता है कि पत्नी मद्यपान करती हो, गम्भीर रूप से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अस्वस्थ हो, धोखा देने वाली हो, अतिव्ययी, कर्कशा एवं केवल पुत्रियों की जननी हो तो त्याज्य है।[21] इनमें पुत्र-सन्तति न होना बहुविवाह-प्रथा की उत्पत्ति का महत्वपूर्ण कारण कहा जा सकता है। ऐसा विश्वास था कि पुत्र पिता की पुत् नामक नरक से रक्षा करता है इसीलिए उसे पुत्र कहा गया। तथा पौत्र द्वारा व्यक्ति अनन्तकाल तक स्वर्गानन्द एवं प्रपौत्र द्वारा सूर्यलोक को प्राप्त करता है।[22] अतएव पुत्रहीन-स्त्री अशुभ मानी गई। महाभारत में बहुपत्नी-विवाह का खुलकर अनुमोदन किया गया। विहित है कि अनेक पत्नी रखना धर्म है परन्तु उन पत्नियों द्वारा अपने प्रथमपति के लिए पतिव्रता न होना अधर्म है।[23] इतिहासकार काणे ने पुत्रों का धार्मिक-महत्व, स्त्रियों के प्रति अपवित्रता की धारणा, बाल-विवाह, स्त्रियों में अपेक्षाकृत शिक्षा का ह्रास, स्त्रियों की पुरुषों पर आश्रित प्रवृत्ति आदि ही अनेक पत्नी-विवाह के मुख्य कारण माने हैं।[24] इसके अतिरिक्त संभवतः युद्ध-काल होने के कारण स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक हो गई थी। अतः अनेक पत्नी-प्रथा को विशेष समर्थन मिला चूंकि क्षत्रिय-पुरुष ही युद्ध करते थे। महाभारत साहित्य से स्पष्ट है कि बहुपत्नी-विवाह राजपरिवारों में ही अधिक प्रचलित रहे।

एक अन्य प्रकार का विवाह जो उक्त विवाहों से स्वभावतः भिन्न था प्रचलित रहा। वह था स्वयंवर-विवाह जिसमें कन्या द्वारा पूर्व घोषित प्रतिज्ञा को पूर्ण करने हेतु आमन्त्रित युवक-समुदाय में प्रतियोगिता होती थी। इस प्रतियोगिता में सफल व्यक्ति ही कन्या का पति माना जाता था। राम-सीता, अर्जुन-द्रौपदी विवाह इसी प्रकार के थे। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी स्वयंवर विवाह के उल्लेख मिलते हैं।[25] ललित-विस्तर से ज्ञात होता है कि गोपा के साथ विवाह हेतु सिद्धार्थ को बल, लिपि, गणना, धनुष आदि प्रतियोगिताओं में प्रतिद्वन्दियों को पराभूत करना आवश्यक था।[26] गन्धार-कला में अनेक मल्लयुद्ध के चित्रण इस कथन की पुष्टि करते हैं। इतिहासकार पुरी के विचार से स्वयंवर-विवाह एक सीमित दायरे में ही प्रचलित रहे।[27]

याज्ञवल्क्य एवं मनुस्मृति के कदाचित् कुषाणकालीन होने के दृष्टिकोण से उसमें विहित आठ प्रकार के विवाहों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह हैं—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्रजापत्य, असुर, गन्धर्व, राक्षस और पिशाच विवाह। ब्राह्म-विवाह उसे कहा गया था जिसमें पिता द्वारा वस्त्राभूषण, अलंकारों से सुसज्जित कन्या वेदज्ञानी, चरित्रवान पुरुष को निमन्त्रित कर पूजा के उपरान्त सौंपी जाती थी। इस विवाह से उत्पन्न पुत्र 10 पीढ़ी पूर्वजों, 10 पीढ़ी वंशजों एवं स्वयं को मिलाकर 21 पीढ़ियों को पवित्र करता था। दैव-विवाह में कन्या ब्राह्म-विवाह की भाँति ही अलंकृत कर किसी पुरोहित को यज्ञ करते समय दान की जाती थी।[28] दैव विवाह से उत्पन्न सन्तान कुल मिलाकर 15 पीढ़ियों को पवित्र करती थी। इसके पश्चात् आर्ष विवाह व्यवस्थित किया गया था। इसमें वर-पक्ष द्वारा एक या दो जोड़ा पशु (गाय-बैल) कन्या पक्ष को देकर कन्या ग्रहण की जाती थी। चूंकि पशु स्वीकार करके ही कन्या दान किया जाता था अतः इसे कन्या विक्रय की श्रेणी में रखा गया। इस विवाह द्वारा उत्पन्न पुत्र 7 पीढ़ियों को परिशुद्ध करता था।[29] जब पिता द्वारा वर कन्या को 'तुम दोनों साथ-साथ धार्मिक कार्य करना' कहते हुए कन्यादान की जाती थी तो उसे प्रजापत्य विवाह कहा जाता था। याज्ञवल्क्य में 'क' का अभिप्राय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रजापति से होने के कारण प्रजापत्य विवाह को 'काय विवाह' नाम दिया।[30] इस विवाह से उत्पन्न पुत्र 13 पीढ़ियों को सफल बनाता था। असुर विवाह में वर पक्ष कन्या को एवं कन्या के सम्बन्धियों को सामर्थ्यानुसार वस्तुएं भेंट कर कन्या को स्वीकार करता था। इसके उपरान्त गन्धर्व विवाह विहित हुआ है। इसमें पुरुष एवं कन्या परस्पर स्नेह के वशीभूत हो विवाह करते थे। राक्षस विवाह में येन-केन-प्रकारेण कन्या पर अधिकार करना ध्येय था। इसमें निकट सम्बन्धियों की प्रताड़ना एवं तोड़-फोड़ सम्भाव्य था। अन्तिम विवाह पिशाच विवाह था जिसमें सोती हुई अथवा किसी भी अवस्था में स्थित कन्या के साथ एकाएक अश्लील सम्बन्ध स्थापित किया जाता था।[31] यह विवाह तामसीय-प्रवृत्ति का सूचक था।

उपरोक्त विविध प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित रहे। इन विवाह के विषय में सामाजिक मान्यता का विश्लेषण कर लेना उचित होगा। साधारणतया प्रथम चार विवाह प्रशस्त एवं अन्तिम चार अप्रशस्त माने गए थे। वर्णित है कि उच्चकोटि के विवाहोपरान्त उत्पन्न संतति भी तदनुरूप सुन्दर, धनवान, यशस्वी एवं सात्विक गुणयुक्त पर्याप्त आनन्दों को भोगने वाली एवं धर्मात्मा होती है। इसके विपरीत निम्न कोटि के विवाहोपरान्त उत्पन्न सन्तान दुष्ट, क्रूर, असत्यभाषी, वेदहीन, अधार्मिक प्रवृत्ति से युक्त होती है।[32]

इतिहासकार काणे[33] ने इन विवाहों का गहन अनुशीलन कर कतिपय तथ्य निकाले हैं। ब्राह्म व प्रजापत्य विवाह एक समान होते हुए भी भिन्नता रखते थे। प्रायः दोनों विवाहों का उद्देश्य पति-पत्नी का धर्म, अर्थ, काम विषयों में परस्पर सहयोग था परन्तु ब्राह्म विवाह प्रजापत्य विवाह की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था चूंकि ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत वर धार्मिक कार्यों में वधू का पूर्ण सहयोग देने का स्वयं वचन लेता था जबकि प्रजापत्य-विवाह में वह इस कार्य हेतु बाध्य था। इसी प्रकार आर्ष एवं असुर विवाह भी एक समान प्रतीत होते हैं। दोनों प्रकार के विवाहों में कन्या विक्रय का विधान था। फिर भी आर्ष विवाह में मात्र एक या दो युगल पशु (गाय बैल) का ही दान होता था जबकि असुर विवाह में विक्रय हेतु दी गई वस्तुओं की कोई सीमा न थी। इतिहासकार चटर्जी ने देव विवाह को अप्रत्यक्ष रूप से विक्रय का ही प्रकार माना है परन्तु यह अस्पष्ट है कि असुर विवाह को आर्ष व दैव विवाह से निम्न स्तर का क्यों माना गया।[34] बुद्ध चरित में अश्वघोष ने क्रय-विक्रय प्रकार के विवाहों के लिए 'शुल्क' शब्द का प्रयोग किया है।[35] महावस्तु में वर्णित है कि राजा कुश कुरूप था। उसने अधिक धन देकर सुन्दर पत्नी की अभिलाषा की थी।[36] स्मृतियों में कन्या विक्रय को उपपातक कहा गया है।[37] तथा महाभारत में जीविका हेतु कन्या विक्रय करने को नरकगामी माना है। यही कारण है कि अनुशासन पर्व में आर्ष विवाह की निन्दा की गई।[38] मनु ने कन्या विक्रय के दोष निवारण हेतु वर पक्ष से प्राप्त वस्तुओं को कन्या को देने का विधान बताया है। विहित है कि माता, पिता, भाई, बहनोई को कन्या के कल्याण के लिए उसे वस्त्राभूषणों से सुशोभित रखना चाहिए। प्राचीन ग्रीक इतिहासकार मैक्रिन्डल ने कन्या विक्रय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि नवयुवतियों का विक्रय उत्तर पश्चिम भारत में उस काल में होता था। लोग उनको पत्नी

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाने हेतु खरीदते थे।[39] मिलिन्दपन्हों में भी कन्या के चयन एवं उसके क्रय हेतु शुल्क का विवरण है।[40] वेस्टरमार्क के विचार से वर पक्ष से धनानि लेकर कन्या का विवाह आयोजित करना प्राचीनकाल में सर्वव्यापी रहा।[41] परन्तु मनु ने शूद्र को भी इस प्रकार के विवाहों की परामर्श नहीं दी है।[42]

गन्धर्व विवाह साधारणतया प्रशंसनीय नहीं माना गया क्योंकि विवाह काम भावना प्रधान था। गन्धर्व भी इसी प्रवृत्ति के होते थे। अतः इस विवाह को गन्धर्व विवाह कहा गया। वात्स्यायन ने गन्धर्व विवाह की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सामान्यतया विवाहों में जाति, धन आदि बातों का विचार किया जाता है परन्तु गन्धर्व विवाह में प्रधान तत्त्व स्त्री पुरुष का परस्पर स्नेह है।[43] इतिहासकार जाली के अनुसार गन्धर्व विवाह को कुलीनजनों का विशेषाधिकार समझना चाहिए।[44] यह विवाह प्रायः क्षत्रिय और समृद्धजनों तक सीमित रहा।[45] यद्यपि कतिपय अन्य लोगों द्वारा भी इसके अनुसरण के प्रसंग मिलते हैं। परन्तु न्याय ग्रन्थों एवं अन्य अनेकों साहित्य ग्रन्थों में गन्धब विवाह को क्षत्रियों के लिए ही उचित कहा है।[46] महाभारत काल में गन्धर्व विवाह को विशेष समर्थन मिला था। अतएव इसके अनेकानेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। आदिपर्व में विवरण है कि जब अर्जुन सुभद्रा के प्रति आकृष्ट हुए तो कृष्ण ने कहा कि अपनी प्रेमिकाओं को प्राप्त करना क्षत्रियों का धर्म है।[47] इतिहासकार शर्मा के मतानुसार गन्धर्व विवाह उच्च जाति के अनुकूल न था चूँकि इनमें जाति व धन का विशेष व्यवहार होता था। कुलीन क्षत्रियों ने धर्मशास्त्रों द्वारा क्षत्रियों की काम पिपासा से तृप्ति हेतु उन्हें इस विवाह की न्यायिक अनुमति दी थी।[48]

कुषाणकालीन समाज में विधवाओं के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाया गया, क्या वह पुनर्विवाह के लिए आज्ञापित थी ? दुर्भाग्यवश प्राप्त लेखों एवं साहित्य द्वारा विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी विशेष जानकारी नहीं मिलती है। यद्यपि कुषाण समाज में यह व्यवस्था विद्यमान अवश्य रही। मनु का वक्तव्य है कि विधवा विवाह ब्राह्मणों में कदापि सम्भव नहीं है। पति की मृत्यूपरान्त पत्नी को पूर्ण साध्वी जीवन निर्वाह करने का आदेश था। उसे पुष्पों, फलों एवं मूलों द्वारा शरीर को दुर्बल बना लेना श्रेष्ठ था अपितु किसी अन्य पुरुष का आश्रय लेने के। विहित है कि पर पुरुष से उत्पन्न सन्तान एवं पतिव्रता का दूसरा पति शास्त्रोक्त नहीं होता। जबकि पुरुषों को पत्नी की मृत्यूपरान्त गृहस्थाश्रम की इच्छा होने पर पत्नी का दाह कर्म समाप्त कर पुनः विवाह की अनुमति थी। मनु का विश्वास था कि यदि पति की मृत्यूपरान्त पत्नी पूर्ण संयमित हो, मधु, माँस, मद्य त्यागकर, व्रत रखकर, सतीत्व की रक्षा करते हुए पतिव्रता के समान आचरण करती हुई पुत्रहीन भी विधवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान स्वर्ग प्राप्त करती है। यह भी वर्णित है कि कन्या एक ही बार दान की जाती है। उसके बाद न तो उसे दान दिया जा सकता है और न ही बेचा।[49] निःसन्देह मनु के कथन उच्च आदर्श को प्रकट करते हैं दूसरी और आदिपर्व में उल्लेख है कि जिस प्रकार माँस-पिण्ड पर पक्षी झपटते हैं ठीक उसी प्रकार विधवा की स्थिति है।[60] स्पष्ट है इस ग्रन्थ में विधवा पुनर्विवाह का समर्थन ही नहीं वरन् अत्यावश्यक माना गया। काम सूत्र में विहित है कि यदि विधवा पुनः विवाह की आवश्यकता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझती है तो उसे इच्छानुसार व्यक्ति से विवाह कर लेना चाहिए।[51] धर्मग्रन्थों में विधवा के केशों को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। स्मृतियाँ इस विषय में मौन हैं। महाभारत में अवश्य 'प्रकीर्णकेशा' शब्द प्रयुक्त हुआ।[52] जो बिखरे केशों को सम्बोधित करता है। विधवा पुनर्विवाह 'पुनर्भू' कहलाता था। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू को दो रूपों में विभक्त किया है एक जिसका पति समागम न हुआ है और दूसरा जो पति समागम कर चुकी है। इन दोनों द्वारा किया गया विवाह पुनर्भू है।[53] ऐसा प्रतीत होता है कि विधवा पुनर्विवाह की अनुमति ब्राह्मण वर्ण को तो बिल्कुल न थी यद्यपि इसके अतिरिक्त निम्न वर्णों में इसका प्रचलन रहा। अवलोकनीय है कि मनुस्मृति में जहाँ शुभलक्षण युक्त वर के मिलने पर कन्या का विवाह अल्पायु में कर दिए जाने की परम्परा थी, जैन संस्कृति में पूर्ण यौवनावस्था में ही विवाह की अनुमति थी अतएव स्त्रियाँ चिरकालीन वैधव्य के असह्य दुःख से मुक्त थीं।

तत्कालीन समाज में नियोग व्यवस्था विद्यमान रही। नियोग का अभिप्राय नियुक्त करना था। इसमें पति की मृत्यूपरान्त पुत्रहीनों द्वारा पुत्र प्राप्ति हेतु गुरु द्वारा निर्दिष्ट देवर आदि सपिण्ड व्यक्ति से पुत्रोत्पत्ति की जाती थी। मनु का आदेश था कि नियुक्त व्यक्ति का आचरण धर्मयुक्त होना चाहिए। विपरीत आचरण करने वाले स्त्री अथवा पुरुष पतित कहे गए। यह भी विहित है कि इनके द्वारा उत्पन्न पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी नहीं है। न ही पिता की सम्पत्ति का अधिकार अनियोग से उत्पन्न एवं पुत्रवती में नियोग द्वारा उत्पन्न जार पुत्र को प्राप्त होता था। यद्यपि नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र सम्पदा का अधिकारी था। वर्णित है कि पुत्रहीन मृत के छोटे भाई आदि को धर्मानुसार नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करके सम्पत्ति उसे दे देनी चाहिए।[54] एवं पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त पुरुष को स्त्री से पुत्रवधूवत सम्बन्ध रखने चाहिए।

कतिपय धर्मग्रन्थ नियोग की आवश्यकता एक पुत्र प्राप्ति तक मानते हैं जबकि अन्य दो पुत्रों तक। महाभारत में नियोग की परिसमाप्ति तीन पुत्र उत्पन्न करने पर मानी थी परन्तु इससे अधिक होने पर स्त्री स्वैरिणी एवं बन्धकी कहलाएगी। इस ग्रन्थ में नियोग प्रथा के अनेक वृतान्त हैं। आदि पर्व के अनुसार परशुराम ने जब पृथ्वी क्षत्रिय विहीन कर दी तो क्षत्राणियाँ पुत्र की अभिलाषा से ब्राह्मणों के सम्मुख गईं।[55] सम्भवतः नियोग व्यवस्था का प्रतिपादन तत्कालीन समाज में पुत्र की अल्प संख्या होने के कारण हुआ था। पुरुषों को तो पत्नी की मृत्यु अथवा पुत्रहीन होने पर पुनर्विवाह की अनुमति थी परन्तु स्त्रियों के लिए यही एक विकल्प था।

मनु मूलतः नियोग-प्रथा के विरुद्ध थे। यहाँ तक कि पुरुषों के द्वारा नियोग को पशु-धर्म कहा है। आगे इसकी निन्दा करते हुए लिखा है कि गुरु द्वारा पति के जीवित रहने अथवा विधवावस्था में ब्राह्मण पत्नी को अन्य पुरुष में नियुक्त करने से सनातन धर्म नष्ट हो जाता है।[56] इतिहासकार शर्मा के अनुसार यदि मनुस्मृति में वर्णित द्विज का अभिप्राय ब्राह्मण से लिया जाए तो स्पष्ट है कि नियोग निम्न वर्णों में प्रचलित रहा परन्तु स्मृतियों के विवरण से यह भी स्पष्ट है कि नियोग मात्र शूद्रों में ही सीमित रहा।[57] क्योंकि मन्त्रों से युक्त विवाहों में नियोग निषिद्ध था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
साहित्य-ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट है कि विवाह निश्चित करने के पूर्व कन्या एवं पुरुष दोनों में कतिपय विशेषताओं का विचार किया जाता था। कन्या के पिंगल-केश, अधिक व कम अंग, अधिक बोलना, पीली आँख आदि अशुभ लक्षण थे। विवाह योग्य कन्या के शुभ-लक्षण, शुभ-अंग, हंस व गज की भाँति चाल, छोटे-छोटे केश व दाँत, कोमल शरीर, भाई युक्त आदि माने गए।[58] वर्णित है कि कन्या का नाम भगवान, सर्प, नदी, पहाड़, पेड़, पक्षी, दास-सूचक, भयभीत करने वाला दोषयुक्त आदि नहीं रखा जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने इनके अतिरिक्त कन्या का किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध न होना आवश्यक माना है।[59] ललित-विस्तर में उल्लिखित है कि कन्या किसी भी वर्ण की परन्तु गुणयुक्त होनी चाहिए।[60] कन्या की भाँति पुरुष में भी निम्न लक्षणों का होना अनिवार्य था। जिस पुरुष के परिवार में संस्कार सम्पादित किए जाते थे, पुत्रोत्पत्ति होती थी, वेदाध्ययन किया जाता था, जिसके शरीर पर अधिक केश न थे, क्षयरोग, अजीर्ण, मिर्गी, गलित या शुष्क, कुष्ठ रोग आदि से विहीन पुरुष विवाह योग्य स्वीकार किए गए। महाभारत में वर-पक्ष एवं कन्या-पक्ष में धन व विद्या की समानता को परमावश्यक माना था।[61] कन्या व पुरुष के लक्षणों में भिन्न-भिन्न आयु को उपयुक्त माना गया। मनु ने 30 वर्ष के पुरुष हेतु 12 वर्षीय कन्या तथा 24 वर्ष के पुरुष हेतु 8 वर्षीय कन्या उपयुक्त कही थी। पर गुणवान पुरुष के मिलने पर 10 व 8 वर्ष से भी अल्पावस्था में विवाह कर देना उचित था। महाभारत के एक प्रसंग में पुरुष की आयु 16 वर्ष वर्णित है। अन्य वृतान्त में एक कन्या द्वारा 60 वर्ष के पुरुष के साथ विवाह नहीं करने का उल्लेख है। स्पष्ट है कि कन्याओं के विवाह वृद्ध पुरुषों से भी कर दिये जाते थे। मनु का विश्वास था कि भले ही कन्या जीवन-पर्यन्त अविवाहित ही क्यों न रह जाए परन्तु पिता का कर्तव्य है कि वह सद्गुणी व्यक्ति को ही कन्यादान करे एवं विवाह योग्य कन्या को अधिकार था कि वह तीन वर्ष तक अभिवावक द्वारा विवाह की प्रतीक्षोपरान्त स्वयं योग्य वर का वरण कर सकती है। यह भी बिहित है ऐसा करने पर वर-वधू को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है। उसे पिता, भाई, माता आदि द्वारा दिये अलंकारादि वस्तुएँ अवश्य लौटा देनी चाहिए।[62] मनु ने एक स्थान पर वर्णन किया है कि यदि वर गुणवान मिल जाये तो कन्या का विवाह विवाह योग्य न होने पर भी उससे कर देना श्रेष्ठ है। मनु के इस वक्तव्य का अभिप्राय इतिहासकार शर्मा के मतानुसार सम्भवतः विदेशियों के आक्रमण से उत्पन्न सामाजिक असुरक्षा थी। अतएव मनु को कन्याओं की अल्पआयु में विवाह कर देना श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।[63] याज्ञवल्क्य ने भी कन्याओं के विवाह किये जाने पर सर्वाधिक महत्व दिया न कि वर के गुणों पर जब कि याज्ञवल्क्य के विपरीत मनु ने वर के गुणों को भी महत्व दिया था।

धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृत विवाहों में निर्धारित प्रतिबन्धों का अनुपालन अनिवार्य था। यह थे अन्तर्जातीय एवं वहिर्जातीय विवाह विषयक-विचार। अन्तर्जातीय विवाह में अपनीही जाति में विवाह आवश्यक माना जाता था परन्तु वहिर्जातीय-विवाह में अपनी जाति उपजातियों में परस्पर विवाह की अनुमति न थी। विवाह में तीन बातों पिण्ड, गोत्र व प्रवर का ध्यान रखा जाता था। वर्णित है कि कन्या माता या पिता के सपिण्ड सात पीढ़ी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं पिता के गोत्र वाली नहीं हो क्योंकि ऐसी कन्या स्त्रीकर्म-योग्य नहीं है।[64] याज्ञवल्क्य का मत था कि पिता की सात पीढ़ी सपिण्ड एवं माता की पाँच पीढ़ी का विचार पर्याप्त है।[65] प्रसंगवश सपिण्ड, सगोत्र एवं सप्रवर का उल्लेख उचित होगा। सर्वप्रथम सपिण्ड पर प्रकाश डाला जा रहा है। सपिण्ड अर्थात् समान पिण्ड का। अतः एक पिण्ड वाले सभी लोगों के शरीर-अवयव भी समान होंगे। विवाहोपरान्त पत्नी का पति से सपिण्ड सम्बन्ध हो जाता है। वर्णित है कि पत्नी पति का ही शरीर-अवयव है।[66] अतएव इनसे उत्पन्न सन्तान परस्पर सपिण्ड होगी। इन सन्तानों की पत्नियाँ एवं सन्तान भी सपिण्ड ही कहलायेंगी। अतः बाबा व पोता · नाना व नाता भी सपिण्ड हुए। इन सपिण्ड में विवाह वर्जित था। विवरण है कि बुआ, मौसी व मामा की कन्याएँ सपिण्ड-बहिन होने के कारण विवाह योग्य नहीं हैं। इनसे भार्यावत आचरण करने वाला नरकगामी होता है तथा इससे मुक्ति हेतु चान्द्रायण-व्रत का विधान है।[67] मानवशास्त्री वेस्टरमार्क के विचार से सन्निकट सम्बन्धियों के मध्य विवाह व्यभिचार माना जाता था।[68] वैसे यदि देखा जाये तो एक उपजाति के सभी लोग सपिण्ड हुए। अतः व्यवहारिकता की दृष्टि से धर्मग्रंथों में विवाह हेतु सपिण्ड का विचार माता व पिता की सात व पाँच पीढ़ियों तक सीमित रखा है। इनके अतिरिक्त सपिण्ड से विवाह सम्भव थे। मनुवाक्य है कि पितृ-ऋण से उऋण होने हेतु पिण्ड-दान पिता, पितामह एवं प्रपितामह का ही होता है तथा चौथा देनेवाले का। मृत व्यक्ति के धन-सम्पत्ति का अधिकार सन्निकट सपिण्ड-सम्बन्धी का था।[69] सम्भवतः विवाह में पिण्ड विचार सम्बन्धियों में पवित्रता बनाये रखने हेतु था।

प्रवर एवं गोत्र शब्द सदा से एक साथ ही प्रयुक्त होते रहे हैं। प्रवर का अभिप्राय वरण करने योग्य अथवा प्रार्थनीय से था। इस प्रार्थना में उन ऋषियों के नाम लिये जाते थे जो पूर्वकाल से अग्नि का आह्वान करते थे। स्पष्ट है प्रवर का अर्थ यज्ञादि करने वाले पूर्वजों से था। अतः विवाह में एक ही पूर्वज की सन्तानों में विवाह वर्जित था। याज्ञवल्क्य ने प्रवर का पर्यायवाची शब्द आर्षेय माना है।[70] पतंजलि के मतानुसार 80 हजार ऋषि अविवाहित रहे। मात्र 8 ऋषियों ने विवाह किया जिनसे गोत्र उत्पन्न हुए। इनमें परस्पर तो विवाह का विधान था परन्तु एक गोत्र की सन्तानें भाई-बहिन होने के कारण उनके मध्य विवाह निषिद्ध था। महाभाष्य में विहित है कि पृथक्-पृथक् गोत्रों में विवाह सम्बन्ध किये जाते थे यथा-अत्रि एवं भारद्वाज, वसिष्ठ एवं कश्यप, भृगु एवं अंगिरस, गर्ग एवं भार्गव और कुत्स एवं कुसिक।[71] मनुस्मृति में उल्लेख है कि गोद गये पुत्र का पिता के गोत्र व धन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।[72] उक्त वर्णित पिण्ड, गोत्र एवं प्रवर के मध्य एक भिन्नता यह थी कि विवाह में पिण्ड का विचार पाँच अथवा सात पीढ़ियों तक किया जाता था परन्तु गोत्र के सम्बन्ध में तो पूरे गोत्र को ही त्यागना पड़ता था।

समकालीन साहित्यिक-ग्रन्थों से विवाह की वैवाहिक-विधि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि विवाह सम्पन्न करने हेतु किये जाने वाले प्रत्येक अवयव का क्रमिक उल्लेख नहीं मिलता परन्तु निम्न प्रमुख वैवाहिक-कर्म थे यथा—बारात स्वागत, होम, पाणिग्रहण, कन्यादान, सप्तपदी आदि। याज्ञवल्क्य के मतानुसार कन्यादान का उत्तरदायित्व पिता, पितामह, भाई, कुटुम्बीजन एवं माता को था।[73] एक के न होने पर दूसरा इस कार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को सम्पन्न कर सकता था। प्रायः बौद्ध व ब्राह्मण साहित्य में विवाह सम्बन्धी क्रियाएं समान थीं। विवाह में वर-पक्ष का एक विशाल जनसमूह कन्या के घर जाता था।[74] विवाह सम्पन्न करने वाला पुरोहित ब्राह्मण होता था। अवदान-शतक से ज्ञात होता है कि विवाह हेतु निर्मित वेदी पर पुरोहित सर्पा द्वारा घृत डालता था।[75] काजल द्वारा वर-वधू का अग्नि-साक्ष्य के समक्ष पाणिग्रहण करता था। एवं सुन्दर वस्त्राभूषण, अलंकार, गन्ध आदि से युक्त वर-वधू साथ-साथ अग्नि-प्रदक्षिणा करते थे। तदुपरान्त पुरोहित वर को कन्या का हाथ देता था।[76] यह विवाह-धर्म गृहस्थों का महत्वपूर्ण संस्कार था। ब्राह्मण-धर्म में मन्त्र-युक्त-विवाह का विशेष महत्व था। स्मृतिशास्त्र सप्तपदी को पत्नीत्व-सूचक मानते हैं जबकि अन्य कन्यादान अथवा पाणिग्रहण को। महाभारत में सप्तपदी का अनुमोदन करते हुए विहित है कि विवाह का सबसे महत्वपूर्ण तत्व सप्तपदी था। द्रोणपर्व के विवरण के अनुसार सप्तपदी के पूर्व वर की मृत्यु हो जाने पर कन्या अविवाहित ही कहलाएगी न कि विधवा।[77] मनु ने भी इससे सहमत हो लिखा है कुँवारी एक ही बार विवाहित होती है अतः सप्तपदी के पश्चात् जीवन-पर्यन्त विवाहित मानी जायेगी।[78] क्योंकि काम-सूत्र के अनुसार अग्नि-साक्ष्य के समक्ष सम्पादित विवाह आमरण रहता है।[79] सप्तपदी के पूर्व वर के विषय में अशोभनीय बात सुनने अथवा उससे अधिक योग्य वर के मिलने पर विवाह किया जा सकता था। याज्ञवल्क्य ने भी इससे पूर्ण सहमत हो लिखा है कि कन्या-दान करने के पश्चात् जो उसे वापिस लेता है वह चोरी करने का अपराधी है परन्तु कन्या-दान के समय भी यदि कोई और अच्छा वर मिल जाता है तो कन्या उसी को देनी उपयुक्त है।[80] मनुस्मृति के अनुसार कन्या में कोख दोष प्रकट होता है तो पुरुष को अधिकार था कि वह उसे त्याग दे।[81] पंतजलि ने व्यभिचारिणी स्त्री के पुत्र को कनीन कहा है।[82] स्पष्ट है स्त्रियों में व्यभिचार जैसे दोष थे। याज्ञवल्क्य ने कन्या के दोषों को छुपाकर विवाह करने पर उत्तम साहस का दण्ड बताया है। साथ ही दोषहीन कन्या का त्याग करने पर पुरुष भयंकर अपराधी होगा।[83]

निष्कर्ष

सामाजिक-परिवेश में विवाह का महत्व सर्वमान्य है। बिना विवाह के समाज की परिकल्पना कदाचित् दुर्लभ है। वास्तव में विवाह एक अत्यधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। विवाह गृहस्थाश्रम का मूल अंग है। तथा गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठतम स्वीकार किया गया। क्योंकि अन्य आश्रमी जीविका हेतु गृहस्थाश्रमी पर निर्भर रहते थे। व्यक्ति विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश योग्य होता था। व्यक्ति के जीवन का परम-लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था जिसकी प्राप्ति वह विभिन्न पंच-महायज्ञों को नियमानुसार पूर्ण करता हुआ ही प्राप्त कर सकता था। विवाह के सन्दर्भ में पितृ-यज्ञ एवं देव-यज्ञ परमावश्यक माने गये। इन यज्ञों की सम्पन्नता ही विवाह की सफलता थी। चूंकि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण न था। स्त्री ही उसे पूर्णत्व प्रदान कर देव यज्ञ को सम्पन्न करती थी। एवं स्त्री द्वारा ही सन्तानोत्पत्ति कर वह पितृ-यज्ञ को भी सम्पादित करता था। अतएव दोनों कृत्यों हेतु विवाह की उपादेयता समझनी चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण-कालीन समाज में भी विवाह के महत्व के प्रति अवमाननाएँ पूर्ववत रहीं। विवाह व्यवस्था सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी समकालिक संस्कृत बौद्ध-साहित्य, जैन एवं ब्राह्मण-साहित्य द्वारा हो जाती हैं जिनमें विविध प्रकार के विवाहों का उल्लेख हुआ है। प्राय: सभी धर्मग्रन्थ सजातीय-विवाह को एक स्वर में स्वीकार करते हैं तथा इसे विवाह का सर्वश्रेष्ठ प्रकार मानते हैं। इसके अतिरिक्त विजातीय-विवाह के अन्तर्गत अनुलोम-विवाह, प्रतिलोम-विवाह, बहुविवाह (अनेक पत्नी एवं अनेक पति विवाह), स्वयंवर-विवाह आदि व्यवस्थित किए जा सकते हैं। एक सवर्ण-विवाह के पश्चात् अन्य विवाह के इच्छुक व्यक्ति को अनुलोम-विवाहों की अनुमति थी परन्तु प्रतिलोम-विवाह तो सर्वथा निन्द्य माने गए। बहुविवाहों में अनेक पत्नी-विवाह मात्र उच्च-वर्ण के समृद्ध परिवारों में प्रचलित रहे। अनेकपति-विवाह अपेक्षाकृत कम ही किए जाते थे। वस्तुत: विजातीय अनुलोम प्रतिलोमादि विवाहों का परिणाम अनेकानेक वर्णसंकर-जातियों की उत्पत्ति थी। जहाँ तक स्वयंवर-विवाह का प्रश्न है यह विवाह कदाचित् सौन्दर्य एवं कला-प्रवीण परिवारों तक ही सीमित रहे। मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों का विशेष प्रचलन था। ये क्रमश: ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस और पिशाच विवाह थे। साधारणतया प्रथम चार प्रशस्त विवाह उच्च वर्णों के लिए उपयुक्त माने गए। इनमें असुर-विवाह का सर्वाधिक अनुकरण किया गया। यह स्त्रियों की अच्छी स्थिति का परिचायक है। विधवा-विवाह संभवत: निम्न वर्णों द्वारा स्वीकृत रहे। ब्राह्मणों के सन्दर्भ में इन्हें निषिद्ध माना गया था। नियोग यद्यपि वैदिक कालीन उच्च वर्णों द्वारा प्रयुक्त रहा परन्तु इस काल में मात्र निम्न वर्णों में ही इसका प्रचलन था। जैन व बौद्धों में जातिय-विचार न होने के कारण विवाह सभी वर्णों में हो जाता था।

विवाह योग्य कन्या एवं पुरुष में कतिपय लक्षणों व आयु आदि का विचार अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त विवाह में पिण्ड, गोत्र एवं प्रवर का भी विशेष महत्व था। विवाह के आवश्यक अंग बारात-स्वागत, होम, सप्तपदी, कन्यादान, पाणिग्रहण आदि थे। इनका उल्लेख समान रूप से ब्राह्मण व श्रमण विवाह-पद्धति में प्राप्त होता है। विवाह में अग्नि-साक्ष्य का विशेष महत्व था। विवाह पति-पत्नी का धर्म, अर्थ, कामादि विषयों में समस्त जीवन का सहयोग था। विवाह प्राय: माता-पिता द्वारा निश्चित स्थान पर विधिपूर्वक किए जाते थे जिससे समाज में पवित्रता स्थापित रहती थी। विवाह-विच्छेद की ब्राह्मणादि को कदापि अनुमति न थी क्योंकि अग्नि के समक्ष मन्त्रोच्चारण द्वारा किया गया विवाह जीवन-पर्यन्त का बन्धन था।

सन्दर्भ

1. दिव्या०, 323।18
2. लाल, ए०, संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भारतीय-जीवन, पृ० 262
3. मनु०, 9।101-2; 6।35-7
4. शर्मा, आर० एन०, ब्रह्मिन्स थ्रू दि एजेज, पृ० 187
5. दिव्या० 321।2, 6-11

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6. ललित०, 143।4-5
7. महाव०, 1।351
8. केतकर, एस० वी०, हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इन्डिया, पृ० 92
9. सरकार, से० इन०, भाग 1, पृ० 198
10. ललित०, 139।16-20
11. ज० बि० रि० सो०, 1954, 40, पृ० 49
12. मनु०, 3।12-3
13. मनु०, 9।85
14. याज्ञ०, 1।88
15. मनु०, 2।210; 3।14-18; 9।152-3
16. याज्ञ०, 1।91-2
17. सौ०, 7।28-9
18. शर्मा, आर० एस०, सम इकोनामिक आस्पेक्ट्स आफ दि कास्ट सिस्टम इन एशियंट इण्डिया, 1952, पृ० 19-24
19. ललित०, 28।13-4
20. महाव०, 2।424
21. याज्ञ०, 1।80
22. मनु०, 9।132।39
23. म० भा०, 1।160।36
24. काणे, पी० वी०, वही, पृ० 314
25. अवदान०, 1।32।10
26. ललित०, 144।5-7
27. पुरी, इन० अन० कुषा०, पृ० 90-1
28. याज्ञ० 1।58-9
29. मनु०, 3।39
30. याज्ञ०, 1।60
31. याज्ञ०, 1।61
32. मनु०, 3।40, 2
33. काणे, पी० वी०, वही, पृ० 298
34. चटर्जी सो० ला० एन० इन०, पृ० 68
35. बु० च०, 1।21
36. महाव०, 2।440
37. मनु०, 9।61
38. म० भा०, 13।45।18-20
39. मैक्रिन्डल, मेग० एरि०, पृ० 222
40. मिलिन्द०, 47

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

41. वैस्टरमार्क इ०, हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज, जि० 2, 166-71
42. मनु, 9।98
43. चक्लघर, एच० सी०, स्टडीज इन वात्स्यायनाज कामसूत्र, पृ० 143
44. जाली, जे०, हिन्दू ला एण्ड कस्टम, पृ० 126
45. अल्टेकर पो० वो० हि० सिवि०, पृ० 81
46. मनु०, 3।26
47. म० भा०, 1।219।22
48. ज० वि० रि० सो०, 1954, 40, पृ० 42
49. मनु०, 5।157-60, 168; 9।47
50. म० भा, 1।160।12
51. काम०, 2।4।39-43
52. म० भा०, 11।16-18
53. याज्ञ०, 1।67
54. मनु०, 9।144-7
55. म० भा०, 1।120।31-2; 1।64।2-8
56. मनु०, 9।66
57. ज० बि० रि० सो०, 1954, 40, पृ० 49
58. काम०, 1।3।1-3, 11-5
59. याज्ञ०, 1।52
60. ललित०, 139।21-2
61. म० भा०, 131।10
62. मनु०, 9।88-92
63. शर्मा एन० इन० हिस० कल०, पृ० 100-1
64. मनु०, 3।5
65. याज्ञ०, 1।53
66. मनु०, 4।184
67. वही, 11।171-2, याज्ञ०, 3।254
68. ज० आर० एशि० सो०, 1907, पृ० 611-40, वेस्टरमार्क, इ०, वही जि० 2, पृ० 71-81
69. मनु०, 9।186-87
70. याज्ञ०, 1।52
71. महाभा०, 2, 4, 62, पृ० 492
72. मनु०, 9।142
73. याज्ञ०, 1।63-4
74. अवदान०, 2।49।4-5

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

75. वही
76. महाव०, 3।151
77. म० भा०, 7।55।15-6
78. मनु०, 9।47
79. काम०, 3।5।13
80. याज्ञ०, 1।65
81. मनु०, 9।72
82. महाभा०, 5, 2, 94, पृ० 393, 4, 1, 116, पृ० 258
83. याज्ञ०, 1।66

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

7

स्त्रियों की दशा

स्त्रियों का स्वरूप एवं महत्व

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः॥"

मनु वाक्य है कि जिस कुल में स्त्रियों को सम्मान मिलता है देवता वहीं रहते हैं इसके विपरित जहाँ इनका अनादर होता है समस्त कार्य असफल हो जाते हैं।[1] अतएव कुल की समृद्धता के इच्छुक पुरुषों का कर्तव्य इनको भोजनादि से सन्तुष्ट रखना था।[2] इससे स्पष्ट है कुषाण समाज में स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ था। इन्हें कुल-लक्ष्मी माना गया था। उनकी प्रसन्नता पर समस्त कुल की प्रसन्नता निर्भर थी।[3] वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण जीवन-यात्रा में पाँच ऋणों से उऋण होना आवश्यक माना गया जिन्हें वह विविध अवस्थाओं में पंच-महायज्ञों को सम्पन्न करके ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचता था। इनमें देव-ऋण एवं पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए व्यक्ति को पत्नी रूप में स्त्री की आवश्यकता पड़ती थी। स्त्री ही विवाहोपरान्त गृहस्थ हो नृ-यज्ञ संपादित करती थी। एवं ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी को भिक्षा देकर गृहस्थ-स्त्री अपनी सार्थकता की पुष्टि करती थी। इस प्रकार पंच-महायज्ञों को पूर्ण करने में, जिसके फल-स्वरूप ही व्यक्ति ब्रह्ममय हो सकता था, स्त्री का महत्व श्लाघनीय था। निःसंदेह नियति के चक्र को अनवरत रखने में स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका थी। प्रजोत्पत्ति, उसका पालन-पोषण, प्रतिदिन के धर्म-कार्य सभी तो स्त्रियों द्वारा संभव थे। मनुस्मृति में वर्णित है कि ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण के पूर्व सर्वप्रथम अपने शरीर को अर्धनारीश्वर रूप में विभक्त किया था।[4] इतिहासकार दास ने पति-पत्नी की व्याख्या करते हुए लिखा है कि एक सज्जन पुरुष एवं सज्जन स्त्री अपने निर्धारित कार्यों को पूर्ण करते हैं परस्पर लड़ते नहीं एवं एक दूसरे के गुणों से सामंजस्य स्थापित कर जीवन को सहज एवं सुन्दर बनाते हैं।[5]

स्त्रियों की महत्ता का गुणगान प्रायः समकालीन ब्राह्मण, बौद्ध व जैन ग्रन्थों में हुआ है। जैन-धर्मसंघिनी या श्रद्धाचारी का महत्वपूर्ण स्थान था। श्रद्धाचारी महती धार्मिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत होती थी साथ ही परिवार से भी सम्बन्ध रखती थी।[6] स्त्रियों की सामाजिक-महत्ता का वर्णन करते हुए एक विचारक ने उल्लेख किया है कि यू-ची जा ति में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्रियों को पर्याप्त आदर मिला था। यहाँ तक कि प्रशासन सम्बन्धी जिन विषयों से उनका सम्बन्ध न था उनमें भी उनकी परामर्श ली जाती थी।[7] हूण-शासक द्वारा मारे गये यू-ची शासक की पत्नी ने ही सर्वप्रथम प्रशासन भार संभाला था।[8] महाभारत के अनुशासन-पर्व में विहित है कि माता अपनी महत्ता में दस पिता से अथवा समस्त भूमण्डल में श्रेष्ठ है एवं श्रेष्ठतम गुरु भी।[9] मनु ने माता को आचार्यः उपाध्याय, एवं पिता से उच्च स्थान दिया था।[10] याज्ञवल्क्य भी इसका समर्थन करते हैं। आदिपर्व में वक्तव्य आया है कि सभी श्रापों से छुटकारा संभव है परन्तु माता द्वारा दिए श्राप से बच पाना दुर्लभ है।[11] एक अन्य प्रसंग में स्त्री को परिवार के प्राण (कुललक्ष्मी), समृद्धता का प्रतीक, पति को पूर्णत्व प्रदान करने वाली, सखा, दार्शनिक, मार्ग-प्रदर्शक और इसी कारण सम्मानीय माना है। विहित है भगवान् स्त्री का आदर करने वाले से प्रसन्न होते हैं।[12] याज्ञवल्क्य स्त्री की पवित्रता की चर्चा में लिखते हैं कि सोम ने स्त्री को शुद्धता, गन्धर्व ने मधुर-स्वर, अग्नि ने मधु दिया अतः स्त्री सर्वथा पवित्र है।[13] जैन-संस्कृति में कन्या समाज व परिवार के लिए उस धुरी के रूप में उपयोगी मानी गई थी जिस पर गृहस्थाश्रम घूमता है।[14] दास के विचार से स्त्री के स्नेह बिना पुरुष का पुरुषत्व प्रसुप्त रहता है।[15] बौद्ध व जैन साहित्य में भी स्त्रियों को अत्यधिक आदर प्रदान किया जाता था। संभवतः इसका कारण अधिकांश स्त्रियों द्वारा बौद्ध-विहार में प्रवेश था जिनमें कतिपय विख्यात आचार्या भी हुई।[16] कलाकृतियों में देवियों के सन्दर्भ में मातृ-देवी, वसुन्धरा, गजलक्ष्मी, दुर्गा, महिषमर्दिनी, षष्ठी, नाना-देवी आदि का अंकन समाज में स्त्रियों की उन्नत-दशा का बोधक है। इतिहासकार के मतानुसार यही नाना-देवी आज कुमाऊ और हिमाचल-प्रदेश में नैना-देवी के रूप से पूजित हैं।[17] अन्य सह-देवियों में जयन्ती, विजयन्ती, सिद्धार्था, अपराजिता, नन्देतारा, नन्दीसेन, नन्दिनी, श्रीमती, यशोमती, यशोप्राप्ता, सुउत्थिता, सुप्रथम, सुप्रबुद्धा, सुखवाहा, अलमबुशा, मिश्रकेशी, पुण्डरी का, अरुणा, एकदासी, नवमिका, सीता, कृष्णा, द्रौपदी, इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, आशा, श्राद्धया, हिरी और श्री प्रायः चारों दिशाओं की देवियाँ थीं। साहित्य में मथुरा की कुल 93 मातृ देवियों का उल्लेख मिलता है।[18] स्त्री संबंधी विभिन्न विषयों के अध्ययन द्वारा उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान संभव होगा। स्त्रियों की सामाजिक दशा का विवरण पूर्णतः प्राथमिक स्रोतों पर आधारित विशेष महत्वपूर्ण है।

स्त्रियों के कर्तव्य

मनुस्मृति में स्त्रियों के कर्त्तव्यों का विशद उल्लेख हुआ है। मनु ने स्त्री का परम कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम विषयों में पति के प्रति सत्य रहना बताया है। वर्णित है उसे धार्मिक-कार्य आरंभ करने के पूर्व पति की अनुमति लेना आवश्यक था।[19] उसे जीवन की किसी भी अवस्था में कोई कार्य स्वतः नहीं करना चाहिए। वह बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था में क्रमशः पिता, पति व पुत्र की इच्छानुसार ही आचरण करे।[20] स्त्री जीवन में कभी भी स्वतन्त्र नहीं मानी गई थी।[21] उल्लेख है कि उसे विभिन्न अवस्थाओं में निर्धारित संरक्षकों के संरक्षण में रहना चाहिए अन्यथा वह पिता एवं पति दोनों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंशों को निन्दित कर देगी। स्त्री से अपेक्षित था कि वह सर्वथा प्रसन्न-मुद्रा में, गृह-कार्यों में दक्ष, बर्तनों को स्वच्छ-शुद्ध रखने वाली, धार्मिक-कार्य करने वाली, भोजन पकाने वाली एवं अल्पव्ययी हो। उल्लेख है मद्यपान करना, दुष्ट-चरित्रों से मिलना, पति से दूर रहना, पति के बिना ही दूरस्थ यात्रा करना, दिन में सोना, अपरिचित के घर रहना उक्त 6 दोष स्त्रियों का सर्वनाश कर देते हैं।[22] आदिपर्व में भी पति से दूर रहना अहितकर कहा है।[23] याज्ञवल्क्य ने पिता अथवा पति द्वारा वर्जित पुरुष से वार्तालाप करने पर स्त्री को सौ पण से दण्डित किया था। उसे गृहकार्यों के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य के अनुसार सास-श्वसुर के चरण-स्पर्श एवं पति-सेवा करनी चाहिए। स्त्री का कर्तव्य पिता द्वारा विवाहित पति के प्रति जीवन-पर्यन्त सेवारत रहना एवं उसकी मृत्युपरान्त पतिव्रत-धर्म का पालन करते हुए पारलौकिक-कार्यों को पूर्ण करना था।[24] विवाह में प्रजापति के उद्देश्य से किए गए हवन तथा वाग्दान के उपरान्त पत्नी पति के अधीन हो जाती थी। पति पत्नी के लिए इस लोक एवं परलोक में भी सुखकारी मान गया था। अतः दुराचरण युक्त, परस्त्रीगामी एवं विद्या आदि गुणहीन पति भी पतिव्रता स्त्री के लिए देवतुल्य पूजनीय था। वस्तुतः पति के अनुकूल चलती हुई स्त्री स्वर्ग-लोक में पूजित होती थी। वर्णित है स्त्रियों के लिए पति बिना कैसा यज्ञ एवं पति की अनुमति बिना कैसा उपवास ?[25] याज्ञवल्क्य के विचार से पति के विदेश जाने पर पत्नी को क्रीड़ा-कौतुक, शारीरिक-सजावट, उत्सवों का दर्शन, प्रसन्न रहना, अपरिचितों के घर जाना आदि छोड़ देना चाहिए।[26] अनुशासनपर्व में भी इसका अनुमोदन किया गया। पति को विदेश गमन के पूर्व पत्नी की जीविका का प्रबन्ध करना आवश्यक था ताकि वह निर्दोष जीवन-यापन कर सके।[27] स्त्री का कर्तव्य जीविका का प्रबन्ध हो जाने पर पूर्णतः मर्यादा में रहना था। यदि पति बिना प्रबन्ध किए ही चला जाता है तो पत्नी को सिलाई-बुनाई जैसे शिल्प द्वारा परिवार का पालन करना उचित था।

पतिव्रता-धर्म का पालन करती हुई स्त्री को पति का अप्रिय अर्थात व्यभिचारादि कार्य नहीं करने का आदेश था।[28] अनुशासनपर्व में विहित है कि शाण्डिली ने सुमना कैकेयी से कहा कि उसने बिना काशाय धारण किए, बिना वस्त्र धारण किए, बिना सिर-मुण्डित किए अथवा जटा रखाए देवत्व प्राप्त किया क्योंकि वह पतिव्रता पत्नी हेतु करणीय समस्त नियमों का पालन करती थी। इसी ग्रन्थ में सावित्री की पतिव्रतता का ज्वलन्त उदाहरण है जिसने यम के हाथों से अपने पति की प्राण-रक्षा की थी। शल्यपर्व में पतिव्रता गान्धारी विश्व को भस्म करने एवं सूर्य व चन्द्र की गति को रोकने में सक्षम उल्लिखित है।[29] पतिव्रता स्त्री मन-वचन-कर्म से संयत रहती हुई पति के विरुद्ध आचरण न कर इस लोक में सज्जनों द्वारा प्रशंसित एवं तत्पश्चात् पतिलोक को निश्चित पाती थी।[30] इतिहासकार चटर्जी के अनुसार स्त्री के विषय में मनु एवं याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण पर्याप्त भिन्न था मनु उसे भावनाहीन मानते थे जबकि याज्ञवल्क्य कर्तव्यनिष्ठ।[31]

स्त्रियों के अधिकार एवं विशेषाधिकार

निःसन्देह स्त्रियों के कर्तव्यों व असमर्थताओं के प्रतिफल-रूप में उन्हें अनेकानेक

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकार एवं कतिपय विशेषाधिकार भी प्राप्त थे—

(क) सर्वप्रथम स्त्रियों का अधिकार पति सेवा करना, सदा पति के निकट रहना एवं पति के घर में निवास पाना था। उसे पति के घर में भरण-पोषण का पूर्ण अधिकार था। निर्दोष पत्नी को घर से निष्कासित करने पर राजा द्वारा पति को दण्डित किया जाता था। इसी सन्दर्भ में मनु ने वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता-पत्नी, छोटे बच्चों के पोषण हेतु एक सौ निकृष्ट-कर्मों को भी उचित माना था।[32] याज्ञवल्क्य भी इसका समर्थन कर पत्नी का सम्यक् पालन न करने पर पति को पापी स्वीकार करते हैं एवं पिता, भाई, बहनोई आदि को घर की स्त्रियों को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रखने पर बल देते हैं।[33]

(ख) पुरुषों द्वारा सुरक्षा पाना स्त्रियों का मूल अधिकार था। वह जीवन की किसी भी अवस्था में स्वाधीन न थी।[34]

(ग) बच्चों, पुत्रियों, विवाहित बहिनों, गर्भवती स्त्रियों, अविवाहित पुत्रियों आदि को गृहस्थ पति-पत्नी के पूर्व भोजन दिया जाता था।[35] यहाँ तक कि इन्हें ब्राह्मण से भी पूर्व भोजन देने की पेशकश की गई थी।

(घ) समाज में पत्नी की आयु का विचार न कर पति के पद अवस्थानुसार ही उन्हें सम्मान प्राप्त था।

(ङ) मनु ने तीन माह की गर्भवती-स्त्री को घाटकर से मुक्त रखा था।[36]

(च) मार्ग में पहले आगे चलने का अधिकार स्त्रियों को था। मार्शल ने सांची के तोरणद्वार पर बने पूजा से सम्बन्धित चित्रणों में स्त्रियों को पुरुषों से आगे चित्रित देखकर सही अनुमान लगाया कि भारतीय पुरुष स्त्रियों को सम्मान में पहले स्थान देते थे।[37]

(छ) स्त्रियों की हत्या सर्वथा निषिद्ध थी। पति पत्नी के अपराधों पर गुरुवत शारीरिक-दण्ड दे सकता था।[38] व्यभिचार-दोष पर त्यागा जा सकता था परन्तु उन्हें मारा नहीं जा सकता था।

(ज) पतित-स्त्री की पुत्री पतिता नहीं कहलाती थी जबकि पुत्र पतित होता था।

(झ) धन-सम्पत्ति पर स्त्री के अधिकार के विषय में याज्ञवल्क्य पुत्रहीन पति परायण, पुत्रवती एवं मधुरभाषी पत्नी का त्याग करने पर पति की सम्पत्ति का 1/3 भाग पत्नी को देते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम इसी समय स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार माना गया। पुरुष की विधवा सम्पत्ति की प्रथम अधिकारी थी।[39] मनु ने पत्नी को पति का शरीरांश माना था। अतः स्वाभाविक है उसके जीवित रहते पति-सम्पत्ति पर उसका ही अधिकार था। स्पष्ट है स्त्रियों को संपत्ति-अधिकार प्राप्त थे।

(ञ) यज्ञादि-कर्मों से स्त्री का सन्निकट साहचर्य होने के कारण यदि वह पति के पूर्व मर जाती थी तो उसका शरीर पवित्र अग्नि में यज्ञ के समस्त उपकरणों एवं पात्रों सहित दाह किया जाता था।[40] यह निःसन्देह उनका विशेषाधिकार था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्त्री सम्बन्धी धार्मिक मान्यता

स्त्रियों का धर्म से अभिन्न-सम्बन्ध था। यज्ञादि धर्म-कार्य उनके बिना सम्पन्न नहीं होते थे। उन्हें सन्ध्या-कालीन पके भोजन की आहुति देने की अनुमति थी। वास्तव में बौद्ध व जैन-धर्म से प्रभावित हो अधिकांश स्त्रियों ने भिक्षुणी होना स्वीकार किया था।[41] मथुरा के अभिलेखों से स्पष्ट है कि जैन-धर्म में भी स्त्रियों को बौद्धों की भाँति मठों में रहने की अनुमति दे दी गई थी।[42] अतः इस समय स्त्रियों का एक वर्ग अनधिकृत-धर्मों में अपने अधिकार प्राप्ति हेतु सचेष्ट था जबकि दूसरा वर्ग अवसर का दुरुपयोग कर अनैतिक कार्यों में संलग्न था।

निःसन्देह अधिकांश स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचर्य धारण कर अध्ययन व धर्म में संलग्न रहती थीं। मथुरा के अनेक अभिलेखों में स्त्रियों द्वारा दान के उल्लेख उनकी धर्म में विशेष रुचि के साथ-साथ प्राप्त धर्म-कर्म की स्वतन्त्रता को भी स्पष्ट करते हैं। प्रतिमाओं में स्त्रियों द्वारा धारण किया गया जनेऊ इस बात का संकेत करता है कि पुरुषों के समान स्त्रियों को धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। इसी प्रकार उपनयन वेदारम्भ एवं गायत्री जाप आदि में प्राप्त स्वतन्त्रता निश्चय ही उनकी सामाजिक उन्नति की परिचायक हैं।[43]

स्त्री एवं शिक्षा

जैसा कि सर्वविदित है वैदिक काल में स्त्री शिक्षा अति उन्नत अवस्था में विद्यमान रही। स्त्रियाँ प्रायः लम्बी अवस्था तक अध्ययनरत रहती थीं। विवाह भी तदनुरूप विलम्ब से ही होता था परन्तु कतिपय विद्वानों के विचार से कुषाण कालीन स्त्रियों की शिक्षा में अपेक्षाकृत ह्रास दृष्टिगोचर होता है। अपने मत के समर्थन में वह निम्न वक्तव्य देते हैं। ईसा पूर्व की शताब्दियों में विदेशी आक्रमण होते रहे। अतएव स्वस्थ वातावरण के अभाव में सुरक्षा की दृष्टि से कन्याओं के विवाह अल्पावस्था में कर देना सर्वोत्तम माना गया। फलस्वरूप उनकी प्रारम्भिक-शिक्षा ही हो पाती थी। यही कारण है इस काल में विदुषी-स्त्रियों के कम ही उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उच्च-शिक्षा के न मिलने पर उनकी अवनति स्वाभाविक थी। वास्तव में शिक्षा समाज के अतिसीमित दायरे तक ही व्याप्त थी।[44] स्त्रियों का सामाजिक आदर भी कम हो गया था। अल्प-शिक्षा प्राप्त स्त्रियों का मानसिक व व्यक्तिगत सम्पूर्ण विकास न हो पाने के कारण वह पूर्णतः पुरुषों के अधीन होती गई। इतिहासकार अल्टेकर के विचार से विदेशी अशिक्षित एवं असंस्कृत स्त्रियों के भारतीय समाज में मिश्रण से स्त्री मात्र के प्रति लोगों का आदर कम हो गया था।[45]

बौद्ध व जैन साहित्य में स्त्रियों को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ था। क्योंकि प्रायः स्त्रियां भिक्षुणी हो गई थीं। बौद्ध-ग्रन्थों में थेरी-भिक्षुणी शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य स्त्रियों से था। इसमें कतिपय तो उद्भट विदुषी भी थीं। जैन-साहित्य में ब्राह्मणी, सुंदरी, चंदना, जयंती आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उल्लेख आता है। यह अध्ययन-हेतु सम्पूर्ण जीवन अविवाहित रहती थीं। ब्रह्मचारी कन्याएं-सामान्यतया

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रद्धाचारी से शिक्षा ग्रहण करती थीं यद्यपि पुरुष अध्यापकों से शिक्षण निषिद्ध न था।[46] अवदान-शतक में पद्मावती नाम की उपाध्यायिका का उल्लेख है।[47] महाभारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण नायिका द्रोपदी पण्डिता नाम से विख्यात थी। यह निर्भीकता एवं विद्वता पूर्वक पति से सभी विषयों में तर्क-वितर्क करती थी एवं संकटकालीन अवसरों पर वह अत्यधिक विवेकी सांसारिक स्त्री होती थी।

तत्कालीन स्त्रियाँ शिक्षा के अलावा संगीत, नृत्य एवं चित्रकला आदि की शिक्षा भी ग्रहण करती थी।[48] उनके द्वारा सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के भी उल्लेख मिलते हैं। पतंजलि ने एक माल-धारिणी स्त्री को शक्तिकी कहा है।[49] जो उनकी सैनिकी-रुचि की पुष्टि करता है स्त्रियाँ प्रायः शासन में भी भाग लेती थी। अतः स्पष्ट है वह सर्वतोन्मुखी प्रतिभायुक्त थीं।

स्त्री एवं विवाह

धर्मग्रन्थों से विदित होता है कि स्त्रियों के विवाह अल्पायु में ही करना अपेक्षाकृत श्रेष्ठ माना गया। संभवतः उसका कारण समकालिक राजनैतिक-सामाजिक वातावरण था जिससे स्त्रियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। कन्याओं के विवाह में वर के गुणों का विशेष महत्व था। मनुस्मृति में विहित है कि यदि वर गुणवान मिल जाए तो कन्या का विवाह अल्पावस्था में ही कर देना सर्वोत्तम है।[50] याज्ञवल्क्य ने भी विवाह योग्य कन्या का विवाह कर देना अविभावक का परम-कर्त्तव्य कहा था तथा उनके द्वारा विवाह न करने पर कन्या को स्वेच्छानुरूप वर का वरण करने की अनुमति दी थी। स्पष्ट है सुरक्षा की दृष्टि से विवाह को शीघ्रातिशीघ्र अवश्यम्भावी माना गया था। इतिहासकार काणे के मतानुसार कन्याओं का विवाह अल्पायु में करना केवल ब्राह्मण-वर्ण तक सीमित था।[51] जैन-संस्कृति में निवृत्ति के मार्ग को प्रशस्त किया गया था अतएव ब्राह्मी, सुन्दरी, आदि उल्लेख आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने के सन्दर्भ में मिलते हैं। यद्यपि जैन-संस्कृति में गृहस्थाश्रम के महत्व को भी नकारा नहीं गया था।[52]

विवाह प्रायः माता-पिता द्वारा विधि-विधान पूर्वक किए जाते थे। सभी धर्मग्रन्थों से सवर्ण एक विवाह को श्रेष्ठतम स्वीकार किया गया।[53] इनमें स्त्रियों की स्थिति सम्मानीय थी। यद्यपि असवर्ण-विवाह के अन्तर्गत बहु-विवाह का विशेष प्रचलन था। बहु-विवाह के दो स्वरूप थे अनेक पत्नी एवं अनेक पति विवाह। अनेक पति विवाह में विभिन्न पत्नियों की सामाजिक दशा भिन्न थी। समाज में अनेक पति विवाह भी मान्य तो था हालांकि अपेक्षाकृत कम। इसमें स्त्री की दशा पर्याप्त सम्मानीय थी। द्रौपदी का विवाह इसी विवाह-प्रकार का बोध कराता है। इनके अतिरिक्त अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह भी समाज में प्रचलित रहे जिनका विस्तृत विवेचन विवाह-अध्याय के अन्तर्गत हुआ है। इन विवाहों के फलस्वरूप वर्णसंकर जातियों का उदय हुआ था। स्मृतिशास्त्र में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों का विशेष-प्रचलन था। प्रथम चार विवाह धार्मिक माने गए थे। अन्तिम विवाहों में असुर-विवाह सर्वाधिक प्रचलित रहा।

स्त्री के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में मनु का विश्वास था कि इस धर्मलोक में पर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरुष से उत्पन्न सन्तान तथा पतिव्रता-स्त्री का दूसरा पति कहीं भी उचित नहीं कहा गया। अतएव जो नीच-वर्ण-स्त्री अपने पति का त्याग कर उच्च-वर्ण पुरुष से सम्पर्क स्थापित करती है लोकनिन्दा के साथ-साथ शृंगाल-योनि पाती है एवं पाप रोगों से व्यथित रहती है।[54] याज्ञवल्क्य भी इसका अक्षरक्षः समर्थन करते हैं।[55] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने पुरुषों को पुनर्विवाह की परमार्श दी थी, स्त्री का कटुभाषी होना मनु को कदापि सहनीय न था। विहित है स्त्री के संतानहीन होने पर 8वें वर्ष, मृत-संतान स्त्री की 10वें वर्ष, कन्या को ही जनने वाली स्त्री की 11वें वर्ष और अमधुरभाषी स्त्री की तत्काल उपेक्षा करके पति पुनर्विवाह कर सकता था। पतिव्रता स्त्री यदि अस्वस्थ रहती हो तो उसकी अनुमति से पति दूसरा विवाह कर सकता था यद्यपि उसके साथ भी पति का आचरण मधुर होना आवश्यक था। पत्नी द्वारा पति के पुनर्विवाह से कुपित होने पर पति को उसे सुरक्षित पिता के सन्निकट छोड़ आना उचित था।[56] पत्नी से अपेक्षित था कि वह पति के जीवन में एवं मृत्यूपरांत भी पति के प्रति सत्य रहे जबकि पति पत्नी की दाह-क्रिया करके इच्छानुसार पुनर्विवाह के लिए आज्ञापित था।[57]

पर्दा-प्रथा

कुषाण-समाज में स्त्रियों का पर्दा-प्रथा के प्रति क्या दृष्टिकोण था इस पर विभिन्न धर्म-ग्रन्थों द्वारा प्रकाश पड़ता है। महाभारत के शल्यपर्व में उल्लिखित है कि कौरवों की पूर्ण पराजय के पश्चात उनकी पत्नियों को राजधानी में एकत्रित जनसमूह ने देखा। इसके पूर्व सूर्य ने भी इन्हें नहीं देखा था।[58] द्रौपदी का दर्शन राजाओं ने स्वयंवर के समय ही किया था तदुपरांत जुए में हारने पर चीर-हरण के समय।[59] ललित-विस्तार में एक वक्तव्य है कि नवविवाहिता अपने ससुराल के वृद्धों के समक्ष पर्दा करती थीं जबकि इसी ग्रन्थ के अन्य प्रसंग में वर्णित है कि शाक्य-स्त्रियाँ अपने सास-श्वसुर से पर्दा नहीं करती थीं। स्त्रियाँ हर्म्यतल तथा वातायनों में रहती एवं आगन्तुकों को वहीं से देखा करती थीं।[60] सौदरनन्द में बुद्ध के दर्शन-हेतु आए नन्द को पत्नी सुन्दरी अपलक-दृष्टि से देखती वर्णित है।[61] ऐसा वर्णित है कि समाज में यद्यपि पर्दा-प्रथा विद्यमान न रही फिर भी उच्च वर्णों की स्त्रियाँ जनसाधारण के समक्ष नहीं जाती थीं। विशेष अवसरों पर ही उनके दर्शन सुलभ थे।

स्त्री एवं सम्पत्ति-अधिकार

कुषाण-कालीन स्त्रियों का सम्पत्ति-अधिकार विषय अवश्य आकर्षण का विषय रहा है। स्मृति-ग्रन्थों द्वारा इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में विहित है कि सभी वर्णों में पत्नियाँ, पुत्रियाँ, माता, पिता, भाई, भतीजे, सगोत्र, सम्बन्धीजन, शिष्य, सहपाठी यह क्रमशः सम्पत्ति के अधिकारी थे। इसके विपरीत मनुस्मृति में पैतृक-संपत्ति का वास्तविक अधिकारी पुत्र एवं पुत्र के न होने पर भाई अथवा पिता को स्वीकार किया था। आगे वर्णित है कि पुत्रहीन, पुत्र की मृत्यूपरान्त सम्पत्ति पर माता तथा माता के न होने पर दादी का अधिकार था। अवलोकनीय है कि याज्ञवल्क्य

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्नी एवं पुत्री को ही सर्वप्रथम संपत्ति का अधिकारी मानते हैं। इसके अलावा मनुस्मृति में उल्लेख आता है कि पत्नी पति का शरीर भाग है। अतः स्वाभाविक रूप से पति की मृत्यूपरान्त संपत्ति पर पत्नी का अधिकार होगा।

स्त्रीधन-संबंधी नियम अन्य संपत्ति-अधिकार के नियमों से भिन्न थे। सर्वप्रथम इसी समय स्त्रीधन को पूर्णतः स्त्रियों तक ही सीमित रखा गया था। मनुस्मृति में निम्न 6 प्रकार से प्राप्त धन को स्त्रीधन माना था। विवाह में अग्नि-साक्ष्य के समक्ष पिता द्वारा दिया गया, विदा के समय दिया गया, पति द्वारा किसी अवसर पर दिया गया, भाई, माता एवं पिता द्वारा दिया गया धन स्त्रीधन था।[62] याज्ञवल्क्य ने पिता, माता, पुत्र या भाई द्वारा विवाह के पूर्व अथवा पश्चात् दिए धन को स्त्रीधन माना था। वर्णित है कि स्त्री यदि मर जाए तो उसके धन पर सभी सहोदर भाइयों अविवाहित पुत्रियों एवं नातियों का अधिकार होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य मात्र पुत्रियों को ही सम्पत्ति का अधिकारी घोषित करते हैं। यद्यपि स्वयं मनु ने भी आगे विहित किया है कि स्त्रीधन पर पति के जीवित रहने पर पुत्रियों का ही अधिकार होता है। स्त्री के सन्तानहीन मरने पर इस धन में सर्वप्रथम ऋण से उऋण होना आवश्यक था पुनश्च उस धन को जिससे प्राप्त हुआ था उन संबंधीजनों में बाँटने का विधान था। अथवा संतानहीन स्त्री के मरने पर उसके विवाह-प्रकार के अनुसार ही संपत्ति का अधिकार होता था। यदि विवाह प्रथम चार विवाहों में से हुआ था तो स्त्री-संपत्ति का अधिकारी पति था। अन्यथा अन्तिम विवाहोपरान्त पत्नी के पिता को संपत्ति का अधिकार था।[63]

इतिहासकार जायसवाल के याज्ञवल्क्य द्वारा स्त्रीधन पर पुत्रियों के अधिकार पर विशेष बल देने का कारण संभवतः पैतृक-संपत्ति पर पुत्र अधिकार के समान ही पुत्रियों को समान अधिकार दिलाना था।[64] अतः स्त्रीधन पर पुत्रियों का ही अधिकार था। पुत्रहीन नाना के सब धन को दौहित्र पुत्रिका की गई पुत्री का पुत्र प्राप्त करता था।[65] पितृप्रधान समाज में पैतृक-संपत्ति का अधिकार पुरुषों को प्राप्त था। उसी प्रकार स्त्रीधन-समाज में स्त्रियों को। संभवतः यह स्त्रीधन की प्रथा द्रविण मातृ-प्रधान समाज की देन थी। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस युग में स्त्रियों के सम्पत्ति-अधिकार पूर्ण सुरक्षित थे।

विधवा-विवाह—यद्यपि इन स्त्री विषयक विषयों पर विचार पूर्व के अध्यायों में किया जा चुका है पर प्रस्तुत अध्याय में इसका प्रासंगिक महत्व है। विधवा-विवाह के संबंध में मनु का मत था कि पति की मृत्यूपरान्त यदि चाहे तो स्त्री केवल कन्दमूल-फल खाकर अपने शरीर को क्षीण कर दे परन्तु उसे किसी अन्य पुरुष का नाम तक नहीं लेना चाहिए। उसे संयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एवं गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यूपरान्त यदि साध्वी-स्त्री अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् अपने सतीत्व की रक्षा में लगी रहे तो पुत्रहीन भी ब्रह्मलोक को जाती है जैसे—नैष्ठिक ब्रह्मचारी।[66] आदिपर्व में विवरण आता है कि जिस प्रकार मांस के टुकड़े पर पक्षी टूट पड़ते हैं उसी प्रकार विधवा की स्थिति थी।[67] स्पष्ट है विधवा-स्त्री सुरक्षित न थी। अन्यथा भी वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेय-दृष्टि से देखी जाती थी। विधवा-जीवन अति दुष्कर एवं निंद्यनीय था। वह अच्छा भोजन व वस्त्र ग्रहण नहीं कर सकती थी। मांगलिक कार्यों में उनकी दृष्टि अशुभ मानी जाती थी। संभवतः इसीलिए वह स्त्रीपर्व में प्रकीर्णकेशा कही गई है।[68] बुद्ध-चरित में इसी प्रसंग में लिखा है कि पति के समक्ष वस्त्राभूषण-रत्नों से सुशोभित स्त्री पति की मृत्यूपरान्त श्रीविहीन हो जाती है।[69] एवं समाज में उपेक्षिता मानी जाती है।[70]

विधवा के विवाह को साहित्य में 'पुनर्भू' कहा गया था। याज्ञवल्क्य पुनर्भू को दो भागों में विभक्त करते हैं एक तो जिसका पति-मिलन हो चुका है तथा दूसरा जो अभी पति से नहीं मिली है। उक्त दोनों ही स्त्रियाँ पुनर्भू थी। याज्ञवल्क्य ने ऐसी स्त्री को जो पति को छोड़कर दूसरे पुरुष से आकर्षित हो उसके साथ रही है पौनभर्व-पति एवं उससे उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव-पुत्र कहा था।[71] स्मृतियों में पौनर्भव-पुत्र को श्राद्ध निमन्त्रण-योग्य नहीं माना था।[72] विधवा को याज्ञवल्क्य के अनुसार अपने पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर, मामा आदि के पास रहना चाहिए।[73] यदि पति धार्मिक-कृत्य से विदेश गया हो तो पत्नी को आठ वर्ष तक, यदि ज्ञान या यश-प्राप्ति हेतु गया तो तीन वर्ष तक, यदि प्रेम के वशीभूत हो गया हो तो तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य का विचार है कि इस अवधि-उपरान्त पत्नी को पति के समीप चले जाना चाहिए।[74] स्पष्ट है विधवा-विवाह को किसी भी परिस्थिति ने श्रेयस्कर नहीं माना गया था। यद्यपि निम्न वर्णों में यह व्यवहारिक रहा। मात्र कामसूत्र में ही विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन मिलता है। विहित है कि जितेन्द्रिय रहने में असमर्थ विधवा इच्छानुसार विवाह कर सकती है।[75] मनुस्मृति में इसे भर्त्सनीय माना था। अथवा विधवा द्वारा पुनर्विवाह करने पर मन्त्रोच्चारण वर्जित था तथा सदाचारी स्त्रियों द्वारा दूसरा पति करने से सनातन-धर्म नष्ट हो जाता था।[76]

नियोग-प्रथा

प्रायः सभी धर्म-ग्रन्थों में नियोग-व्यवस्था का विवरण उपलब्ध होता है। इसका अभिप्राय पति की मृत्यूपरान्त पुत्रहीन विधवा में गुरु की आज्ञानुसार देवर आदि सपिण्ड द्वारा पुत्रउत्पन्न करता था।[77] वैसे तो विधवा का देवर से विवाह एक अति प्राचीन-प्रथा रही है।[78] निश्चय ही समाज में पुत्र की धार्मिक-महत्ता ही नियोग-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूलभूत कारण था। विभिन्न धर्मग्रन्थ पृथक्-पृथक् रूप से एक दो अथवा तीन पुत्रों तक इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। परन्तु इससे अधिक पुत्र होने पर स्त्री को बन्धकी एवं स्वैरिणी कहते हैं। वर्णित है कि नियोग में निहित स्त्री को मात्रप्राप्ति हेतु इसकी सार्थकता समझनी चाहिए। जैसा कि ऊपर उल्लेख है कि इस कार्य के पूर्व गुरु द्वारा आज्ञापित होना अत्यावश्यक था वरना तो यह व्यभिचार एवं बलात्कार की श्रेणी में आ जाता है। पुत्र प्राप्ति के उपरान्त देवर-भाभी को भविष्य में श्वसुर-पुत्रवधुवत आचरण करना धर्म था। यद्यपि स्मृतियों में नियोग-व्यवस्था का विधान मिलता है परन्तु मनु के अन्य विवरणों में स्पष्ट संकेत है कि पुत्र-लोभ से नियोग अथवा पुनर्विवाह करती हुई स्त्री धर्मभ्रष्ट हो जाने से लोक-निन्दा एवं पुत्र द्वारा स्वर्ग से भी वंचित रह जाती है।[79]

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहासकार थामस का अनुमान है कि विधवा-विवाह एवं विवाह-विच्छेद को महाभारत-काल में विशेष महत्व न मिलने के फलस्वरूप नियोग-प्रथा को विशेष मान्यता मिली थी क्योंकि इसके द्वारा प्राप्त पुत्र वैध माना जाता था ।[80] याज्ञवल्क्य ने भी इस प्रथा को स्वीकार किया था ।

विवाह-विच्छेद

मनुस्मृति से विवाह-विच्छेद विषयक सम्यक् जानकारी मिल जाती है । विहित है कि पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा अजर-अमर रहे वह पति-पत्नी का परम-धर्म है। प्रसंग है न तो भागकर और न ही विक्रय द्वारा एक-दूसरे से पृथक् होना सम्भव है ।[81] यदि पति-पत्नी में उत्पन्न दोष ही विवाह-विच्छेद का कारण होते तो गम्भीर से गम्भीर दोषों का प्रायश्चित द्वारा निवारण सम्भव न होता । स्पष्ट है कि समाज में किसी भी परिस्थिति में विवाह-विच्छेद को उपयुक्त नहीं माना गया।

वैश्या-वृत्ति

वैश्या-वृत्ति न केवल भारतीय समाज में प्रत्युत् संसार के प्रत्येक समाज में प्राचीन-काल से विद्यमान रही है । देवताओं के सन्दर्भ में अप्सराओं के उल्लेख भी इसी वैश्या-वृत्ति के बोधक हैं। अतः कहना गलत न होगा कि अनादिकाल से यह संस्था सजीव रही है। स्मृतिशास्त्र एवं महाभारत के प्रसंगों में इसका विशद विवेचन हुआ है । वैश्या के हाथ का भोजन ब्राह्मण-हेतु त्याज्य माना था ।[82] कामसूत्र में 64 कलाओं में पारंगत वैश्या को गणिका कहा है ।[83] गणिकाओं में श्रेष्ठ गणिका अग्रगणिका कहलाती थी । इनके निवास-स्थान गणिका-वीथि नाम से जाने जाते थे। जो दूरस्थ स्थानों पर निर्मित थे । बौद्ध-ग्रन्थों में वैश्याओं की प्रकृति का चित्रण प्राप्त होता है। विहित है वैश्याओं की दूतिनियाँ लोगों को फुसलाने की क्रिया में चतुर थीं ।[84] इनका लक्ष्य प्रेमियों को अपने बन्धन में बाँधकर उनका धन हड़पना था । धन लालसा में प्रेमियों की हत्या कर देना कोई आश्चर्य न था ।[85] यह वैश्याएँ धनवान एवं निर्धनों के प्रति सर्वथा भिन्न व्यवहार रखती थीं। धनवानों में इनका आचरण तृष्णापूर्ण परन्तु निर्धनों से अपमानजनक होता था ।[86] याज्ञ-वल्क्य वैश्याओं को दो उप-विभागों में विभक्त करते हैं—अवरुद्धा एवं मुजिष्या । अवरुद्धा घर में रहती थी । अन्य व्यक्ति उससे सम्पर्क नहीं कर सकते थे परन्तु मुजिष्या घर में न रहकर एक व्यक्ति विशेष की रखैल रूप में कहीं अलग रहती थी । इसके साथ यदि अन्य व्यक्ति सम्पर्क करता था तो 50 पण से दण्डित किया जाता था । याज्ञवल्क्य का विचार था कि यदि शुल्क प्राप्त कर वैश्या व्यक्ति की शर्त-पूर्ति नहीं करती है तो उसे दुगुना दण्ड देना आवश्यक था । इसके विपरीत यदि वैश्या से सम्पर्क स्थापित करके भी व्यक्ति उसे शुल्क नहीं देता है तो उसे शुल्क का दुगुना दण्ड-स्वरूप देना पड़ता था ।[87]

उद्योगपर्व में विहित है कि युधिष्ठिर ने कौरवों की वैश्याओं को शुभ-सन्देश भेजे थे । श्रीकृष्ण जब कौरवों की सभा में शान्ति स्थापना-हेतु आये तो उनके स्वागतार्थ वैश्याएँ भी आयीं थीं । आदिपर्व में गान्धारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र की सेवा में एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैश्या का उल्लेख है।[88] ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्या-वृत्ति उस समय एक स्थिर व्यवस्था के रूप में विद्यमान रही।

स्त्री एवं व्यभिचार

व्यभिचार को प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में भर्त्सनीय माना गया। याज्ञवल्क्य ने व्यभिचार द्वारा गर्भवती होने अथवा पति को मार डालने अथवा इसी प्रकार के घृणास्पद अपराध करने पर पत्नी को त्यागनीय माना है।[89] इसके अतिरिक्त यदि वह अन्य पुरुष से विवाह करे तो राजाज्ञानुसार कुत्तों द्वारा कटवाकर मरवाना दण्ड का उचित स्वरूप था।[90] याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण मनु की तुलना में किंचित् उदार प्रतीत होता है। उनके अनुसार व्यभिचारिणी स्त्री को अधिकारविहीन, अलंकारविहीन, केवल जीविका हेतु जौ देकर अपमानपूर्वक, सोने के लिए पृथ्वी की ही अनुमति देनी चाहिए।[91] इतिहासकार काणे ने उक्त कथन का विश्लेषण किया है कि भारतीय ऋषियों के जीवन-दर्शन में मानवता को विशेष स्थान मिला था।[92] सम्भवतः इसीलिए व्यभिचार का दोष होने पर भी साधारणतया दण्ड स्वरूप स्त्री का त्याग करना विहित है। मनु ने स्त्री को प्रकोष्ठ में बन्द करने को कहा है तथा ऐसी स्त्री से बात करने पर पुरुष को एक सुवर्ण का दण्ड बताया है।[93] प्रायः व्यभिचार के अनुरूप ही प्रायश्चित का निर्धारण होता था। अतः स्पष्ट है पति व्यभिचारिणी स्त्री को त्यागने को स्वतन्त्र न था। अपराध के पश्चात् वह प्रायश्चित करके अपराध मुक्त हो जाती थी। एवं पुनः पूर्ववत अधिकारों को प्राप्त कर लेती थी। महाभारत के शान्तिपर्व में कतिपय भिन्न विचार व्यक्त करते हुए स्त्री के कुमार्गगामी होने का दोष उसके पति को दिया है।[94]

सती प्रथा

सती-प्रथा प्राचीन भारत में ही प्रचलित न थी वरन् प्राचीन यूनानियों, जर्मनों, स्लावों आदि जातियों में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।[95] सती होने से तात्पर्य पति की मृत्यूपरान्त अग्नि में आत्म-समर्पण करता था।[96] यह पत्नी की पति के प्रति असीम निष्ठा का सूचक था।[97] स्त्रियाँ इस कार्य को सहर्ष करती थीं एवं जो सती नहीं होती थीं उन्हें समाज में गौरव नहीं मिलता था।[98] विधवाओं के प्रति अपमानजनक व्यवहार किया जाता था। सम्भवतः इसीलिए विधवा सती हो जाना श्रेयस्कर समझती थी। अतएव सती-प्रथा को बल मिला।[99] इस प्रथा के अभिलेखीय एवं साहित्यिक उल्लेख मिलते हैं। सर्वप्रथम सती-प्रथा सम्बन्धी अभिलेख गुप्त सं० 191 श० सं० 510 का एरण-अभिलेख जिसमें गोपराज की मृत्यु पर पत्नी द्वारा सती होने का विवरण है।[100] परन्तु साहित्य में इसके पूर्व भी इसके विद्यमान रहने के संकेत मिलते हैं। आदिपर्व में पाण्डु की पत्नी माद्री का पति-शव के साथ सती हो जाने का वर्णन है। एक अन्य स्थान में वसुदेव की चार पत्नियों —देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा के पति के साथ दाह हो जाने का जिक्र आता है।[101] मनुष्यों के अलावा पक्षियों में भी सती-प्रथा प्रचलित थी। शान्तिपर्व में विहित है कि एक कपोती अपने पति-कपोत की मृत्यु पर उसके साथ अग्नि में प्रवेश कर गई।[102] स्त्रीपर्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में द्रोणाचार्य की मृत्यु पर पत्नी कृपी विकीर्णकेशी क्रन्दन करती हुई युद्ध-भूमि में आती है परन्तु उसके सती होने का कोई उल्लेख नहीं है।[103] ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय-स्त्रियों के सती हो जाने के काफी समय बाद यह प्रथा ब्राह्मण स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त हुई। वस्तुतः इस प्रथा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध क्षत्रिय स्त्रियों से था।[104] युद्ध में पति के मृत होने पर शत्रुओं द्वारा बन्दी बनाकर स्त्रियों को दासीवत आचरण हेतु बाध्य किया जाता था। अतः सती हो जाना इससे अच्छा था। मनु ने युद्ध में प्राप्त वस्तुओं में स्त्रियों का वर्णन किया है।[105] महावस्तु में स्त्रियों को दासी एवं दान में देने योग्य वस्तु माना गया विहित है। इस प्रथा को सम्पूर्ण समाज में मान्यता नहीं दी थी। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें आत्म समर्पण हेतु तत्पर स्त्री को सम्बन्धीजन रोकते थे।[106] जैन-संस्कृति में सती-प्रथा की कोई आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई थी। प्रबुद्ध जैन-स्त्रियाँ आत्म-संयम में सक्षम आर्थिका बनकर धर्म-ध्यान में शेष जीवन व्यतीत करती थीं।[107]

स्त्रियों के प्रति विविध-धारणाएँ

समकालीन-ग्रन्थों में स्त्रियों के पक्ष एवं विपक्ष में विविध वर्णन उपलब्ध होते हैं। इनमें जहाँ स्त्रियों को ब्रह्मा की सर्वोत्कृष्ट-सृष्टि माना था वहाँ उन्हें निकृष्टतम शूद्र के समान भी माना। स्त्रियों के पक्ष में प्रशंसात्मक विवरण सविस्तार प्रथमतः वर्णित किया जा चुका है। अतएव केवल विपक्ष के विवरण प्रस्तुत हैं। अनुशासन-पर्व में विहित है कि स्त्रियाँ झूठी हैं, उनसे अधिक दुष्ट कोई नहीं है, वह उस्तरे की धार की भाँति हैं, विष हैं, सर्प और अग्नि हैं, सैकड़ों-हजारों में शायद कोई एक पतिव्रता स्त्री होगी। वह वास्तव में दुर्दमनीय हैं। उनमें शम्बर एवं नमुचि आदि राक्षसों की धूर्तता पायी जाती है।[108] पुरुषों को आकृष्ट करना इनका स्वभाव है। अतएव विज्ञजन इनसे विवेकपूर्वक व्यवहार करते हैं। क्योंकि यह विज्ञ अथवा अविज्ञ सभी को पथभ्रष्ट कर सकती हैं।[109] वह पुरुष की सुन्दरता की परीक्षा नहीं करती, युवावस्था में उनका सम्मान नहीं करती वह तो केवल पुरुष है अतएव उससे सम्बन्ध रखती हैं।[110] इतिहासकार चटर्जी ने स्त्री-विषयक मनु एवं याज्ञवल्क्य के विवरणों की व्याख्या में लिखा है कि मनु ने स्त्री-प्रशंसा एवं निन्दा दोनों में कोई कसर नहीं छोड़ी परन्तु याज्ञवल्क्य ने केवल स्त्री-प्रशंसा ही की।[111] सौन्दरनन्द में स्त्रियों का स्पर्श विषैली लताओं के स्पर्श, उपर्युक्त गुफा में निवास तथा खुली तीक्ष्ण तलवार को पकड़ने के भयंकर परिणाम के समान बताया है।[112] अवदान-शतक में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी दुर्मति देवी द्वारा औरसपुत्र को तलवार से काट कर रक्तपान करने का उल्लेख है।[113] यह उसके कठोर-हृदया होने का द्योतक है। स्त्रियाँ विघ्नस्वरूपा कही गयी थीं। उनकी माया अनन्त थी। वह स्वजनों व मित्रों में परस्पर भेद उत्पन्न करने का कारण थीं। अतः शत्रु के समान अविश्वसनीय थीं। समस्त संकटों एवं पापों की मूल थीं। उनके मुँह में मधु परन्तु हृदय में विष था।[114]

स्त्री का जिस प्रकार के (सद्गुणी अथवा दुर्गुणी) पुरुष से संयोग होता था वह स्वयं भी वैसी हो जाती थी। सम्भवतः इसीलिए वर के गुणों का विशेष ध्यान रखा जाता था। नीच-योनि में उत्पन्न अक्षमाला नामक स्त्री वसिष्ठ से तथा शारंगी नाम की स्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन्दपाल ऋषि से विवाहित हो उनके शुभ गुणों से श्रेष्ठता को प्राप्त हुई थीं।[115] स्त्री जैसे पति (धर्मानुकूल अथवा धर्म प्रतिकूल) का सेवन करती थी सन्तान भी वैसी ही उत्पन्न होती थी।[116] चटर्जी का मत है कि तत्कालीन धर्मों में स्त्रियों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी थी। इसका परिणामस्वरूप परिवार एवं उनकी सुरक्षा हेतु पुरुषों को सजग किया गया था।[117]

महात्मा बुद्ध ने भी स्त्रियों में विहित दोषों को स्मरण कर धर्म नष्ट होने की आशंका से सर्वप्रथम उन्हें विहारों में प्रवेश की अनुमति न दी थी परन्तु बाद में आनन्द के कहने पर विहारों में भिक्षुणी रूप में रहने की आज्ञा दे दी थी। तथा उन्हें पुरुषों से निम्न पद दिया। एक सौ वर्ष की भिक्षुणी नवयुवक भिक्षु के समक्ष सम्मान में खड़ी हो जाती थी।[118]

अब प्रश्न है कि एक ही काल की स्त्रियों के विवरणों में इतनी अधिक असमानता क्यों? ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थों में जहाँ उनकी महती प्रशंसा की गई, उसका अभिप्राय स्त्री मात्र से न होकर केवल पतिव्रता स्त्री से था। इसी प्रकार उपरोक्त विवरण केवल पतित स्त्रियों से था जो स्त्री-धर्म का अनुपालन नहीं करती थीं। स्पष्ट है प्रत्येक समाज की भाँति कुषाण समाज में भी पतिव्रता एवं पतित दोनों प्रकार की स्त्रियाँ विद्यमान रहीं।

पुरातत्व पर आधारित स्त्री-सम्बन्धी-मान्यता

कुषाण-युग के शिल्प और पुरातत्व के दोहन से यह स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण था ब्राह्मण, बौद्ध व जैन स्त्रियों की मूर्तियों के निर्माण में भी स्त्रियों ने योगदान दिया। एक आयागपट्ट में एक लवणशोधिका द्वारा आयागपट्ट व दान का उल्लेख है इसी प्रकार लखनऊ संग्रहालय[119] में नर्तक फल्वयश की भार्या शिवयशा द्वारा आयागपट्ट की स्थापना का उल्लेख मिलता है, अभी कुछ वर्ष पूर्व मथुरा के समीप मिर्जापुर से प्राप्त क्षत्रपयुगीन शिलालेख[120] में कौशकी पाक्षका द्वारा इष्टापूर्ति कार्यों को सम्पन्न करने का विस्तृत उल्लेख मिलता है। यह शैग्रवगोत्रिय ब्राह्मण कोशाध्यक्ष की पत्नी थी, उसने लक्ष्मी की प्रतिष्ठा की स्थापना कराई तथा पुष्करिणी, उद्यान, प्याऊ, जलाशय तथा सभागृह का निर्माण कराया। लगभग 100 वर्ष पूर्व इसका एक और उल्लेख मिला था जो स्पष्ट करता है कि वह बड़ी प्रतापी महिला थी। यह शिलालेख कुषाण काल के कुछ पहले का है और कुषाण काल में भी ऐसी स्थिति रही। लखनऊ संग्रहालय[121] में एक शिलालेख में जैन-तीर्थंकर के स्थान पर देवी आर्यावती को प्रधानता दी है। विद्वानों का अनुमान है कि यह वर्धमान की माँ त्रिशला थी जिन्हें आर्यावती नाम से शिलालेख में स्मरण किया गया है। यह सर्वविदित है कि बुद्ध ने अन्तिम समय में आनन्द के अनुरोध पर स्त्रियों को संघ में रहने की अनुमति दी थी। इस दृष्टि से संघ में महिलाओं को प्रवेश मिला। जैन व बौद्ध मूर्तियों से श्रावकों के साथ श्राविकाएँ, उपासकों के साथ उपासिकाएँ पर्याप्त संख्या में अंकित मिलती हैं।

महिला सौन्दर्य को एक विशिष्ट दृष्टि से अंकित करना कुषाण-युग के मथुरा

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिल्पी की विशेषता थी यद्यपि कला में स्त्रियों का अंकन मथुरा से पूर्व साँची व भरहुत में भी हुआ पर वहाँ उनका स्थान देविका व उपासिका का है। एक स्थिति में वह पूजा स्वीकार करती है तथा दूसरी में वह स्वयं पूजा करती है। परन्तु माथुरी शिल्प में इन दोनों दृष्टि से हटकर स्त्री के सौन्दर्य व लावण्य पर दृष्टि बाँधी जिससे कला में आकर्षण व कमनीयता की वृद्धि हुई।[122] फलस्वरूप अब कुषाण युग में महिलाएँ विविध रूपों में आकर्षण मुद्राओं में दिखती हैं। कभी वह उद्यान-क्रीड़ा में लीन हैं और विभिन्न प्रकार की मनोहारी क्रियाओं को करती दिखती हैं।[123] कभी शाल-भंजिका के रूप में पेड़ के नीचे पुष्पाचयन में दत्तचित्त हैं[124], कभी अशोक पादक को अपने वाम-पद से आघात करती[125], कामसूत्र की आख्यायिका को सुलझाने में लगी हैं, कभी शृंगार की विविध चेष्टाओं में प्रसाधन करती हैं और कभी प्रेमी अथवा पति के साथ प्रणयलीला में लीन हैं। वेणी-प्रसाधन, आभूषण आदि उसके प्रमुख कार्य हैं। वस्त्रों का झीनापन उसके सौन्दर्य को और अधिक उभारता है। इस प्रकार कुषाण-युग के शिल्प को देखते हुए स्त्रियों की दशा एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती दीखती है। कहीं-कहीं मद्यपायी दृश्यों व अन्तरगृह के दृश्यों में स्त्री पुरुष से अधिक प्रभावी दिखायी दे रही हैं। सोंख से मिले नाग-मन्दिर के शीर्ष पट्टी में नागराज्ञी नाग राजा के दाहिनी ओर सम्मान के साथ प्रतिष्ठित है।[126] अतएव पुरातत्व पर आधारित स्त्री सम्बन्धी उपरोक्त विवरण निःसन्देह स्त्रियों की सामाजिक दशा के उन्नत होने का परिचायक हैं।

निष्कर्ष

वस्तुतः स्त्रियों की दशा सामाजिक विकास का मापदण्ड है। उन्नत एवं आदर्श समाज वही है जिसमें स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार व उन्नति के समान अवसर प्राप्त होते हैं। भारतीय समाज को सदैव स्त्रियों से उच्च आदर्शों की आशा रही है। अतएव स्त्रियों की प्रशंसा में कुषाण-कालीन धर्मग्रन्थकारों ने कोई कसर न छोड़ी। माता को पिता, आचार्य और अन्त में समस्त पृथ्वी पर सर्वोच्च पदासीन किया परन्तु जहाँ स्त्रियों के दूसरे पक्ष का वर्णन किया तथा स्त्रीगत कमजोरियों अथवा उनमें मूलतः निहित दोषों का उल्लेख किया उससे स्पष्ट है कि बौद्ध व जैन संघों में स्त्रियों को रहने की अनुमति मिल जाने के उपरान्त प्राप्त स्वतन्त्रता का दुरुपयोग भी किया गया।

कुषाण-कालीन ब्राह्मण, बौद्ध व जैन साहित्य में स्त्रियों की उन्नति के पक्ष एवं विपक्ष में पर्याप्त विवरण उपलब्ध हैं परन्तु यदि तत्कालीन पुरातात्विक सामग्री (जो निश्चय ही अधिक विश्वसनीय है) पर दृष्टि डाली जाए तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्त्रियों की दशा पर्याप्त सन्तोषजनक थी। मुद्राओं एवं मूर्तियों में मातृ-देवी की पूजा का चित्रण स्त्रियों के सम्मान का सूचक है। अभिलेखों में स्त्रियों द्वारा दिये गये दान के उल्लेख धर्म-कर्म में प्राप्त स्त्रियों के स्वतन्त्र अधिकार की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त कलाकृतियों में स्त्री-प्रतिभाओं में अंकित वस्त्राभूषण, केश सज्जा से जहाँ एक ओर उनकी सामाजिक व आर्थिक उन्नति का प्रमाण मिलता है दूसरी ओर मुख-भंगिमा द्वारा सांसारिक विषयों से पूर्ण सन्तुष्टि की पुष्टि होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन्दर्भ

1. मनु०, 3।56,8
2. याज्ञ०, 1।82
3. मनु०, 3।59-62, 9।26-7
4. वही, 9।27-9; 9।96 9।32
5. दास, बी०, साइंस ऑफ सोशल आरग्नाइज़ेशन्स, जि० 2, पृ० 462
6. श्री० महा० जे० वि० सु० म० ग्रं०, 1968, पृ० 160
7. सांकृतायन, आर०, हिस्ट्री ऑफ सेन्ट्रल एशिया, पृ० 100
8. मजूमदार एज० इम० यू०, पृ० 136
9. म० भा०, 13।105।14-6
10. मनु०, 2।145
11. म० भा०, 1।37।5
12. मनु०, 3।55-9
13. याज्ञ०, 1।35
14. बा० छो० जे० स्मृ० भ्र०, 1967, पृ० 92
15. दास, आर० एम०, वही, पृ० 38
16. चटर्जी, बी०, कुषाण स्टेट एण्ड इण्डियन सोसायटी, पृ० 193-4
17. अवस्थी, ए० वी० एल०, माइनरडिटीज़ इन दि कुषाण आर्ट, इन० से० आ० कुषा०, ए०, 1984, पृ० 4
18. जोशी, एन० पी०, कुषाण मातृका स्कल्पचर्स इन दि लाइट आफ लिटरेरी रिफ्रेन्सेज़, इन० से० आ० कुषा०, ए०, 1984, पृ० 1-32
19. मनु०, 9।101-2; 5।155
20. वही, 5।147-8
21. याज्ञ०, 1।85
22. मनु०, 5।148-9
23. म० भा०
24. याज्ञ०, 2।285; 1।77, 83, 87
25. मनु०, 5।152-5
26. याज्ञ०, 1।84
27. म० भा०, 13।123।17
28. मनु०, 5।156
29. म० भा०, 13।146।4-6; 9।63।10-1
30. याज्ञ०, 1।75
31. चटर्जी सो० ला० एन० इन०, पृ० 87
32. मनु०, 8।389, 11।10

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

33. याज्ञ०, 1।82
34. मनु०, 5।147-9
35. याज्ञ०, 1।105
36. मनु०, 8।407
37. पुरी, बी० एन०, इण्डिया इन दि टाइम आफ पंतजलि, पृ० 110
38. मनु०, 9।232; 8।299-300
39. याज्ञ०, 2।25; 2।135
40. मनु०, 5।167-8
41. ला, बी० सी०, वोमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृ० 66
42. लूडर्स, नं० 16, 18, 21, 22, 25-32, 34, 36, 39, 45, 47, 48, 50, 56, 59, 67, 68, 70, 73, 75, 78, 86, 94, 96, 99-100, 107, 112, 118, 121-2
43. ज० बि० रि० सो०, 1973, 59, 1-4, पृ० 98
44. केतकर, एस० वी०, हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ० 54
45. अल्टेकर, पो० वो० हि० सिवि०, अध्याय 11
46. सद्धर्म०, 1।395
47. अवदान०, 2।23।2, 4, 2।5।15
48. मजूमदार ग्रे० वो० इन०, पृ० 17
49. महाभा०, 4, 1, 15-6
50. मनु०, 9।88
51. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 446
52. बा० छो०, जे० स्मृ० ग्र०, 1967, पृ० 92
53. याज्ञ०, 1।90
54. मनु०, 6।162-4
55. याज्ञ०, 1।75
56. मनु० 9।81-3
57. याज्ञ०, 1।89
58. म० भा०, 9।29।69-74; 2।69।9-10
59. ललित०, 12।157
60. वही 179।16-7
61. सौ०, 4।39
62. वही, 9।192-5
63. याज्ञ०, 2।143-5
64. जायसवाल, के० पी०, वही, पृ० 257
65. मनु०, 9।132
66. वही, 5।157-60

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

67. म० भा०, 1।160।12
68. वही, 11।16।18, 11।24।7
69. बु० च०, 8।36
70. अल्टेकर पो० हि० वो०, पृ० 162-3
71. याज्ञ०, 1।67
72. मनु०, 3।155
73. याज्ञ०, 1।86
74. वही, 1।69
75. काम०, 1।3।39
76. मनु०, 4।162
77. याज्ञ०, 1।68
78. वेस्टरमार्क, इ०, हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज, जि० 3, पृ० 207-20
79. मनु०, 9।61-63; 5।161; 9।143-4
80. थामस, पी०, इण्डियन वोमेन थ्रू दि एजेज़, पृ० 125-7
81. मनु०, 9।46; 10।89, 92
82. याज्ञ०, 1।161
83. काम०, 1।3।20
84. महाव०, 3।35-6; 2।168
85. बु० च०, 4।17
86. सौ०, 8।39-40
87. याज्ञ०, 2।290, 92
88. म० भा०, 5।30।38; 8।94।26; 1।115।139
89. याज्ञ०, 1।70-2
90. म० भा०, 12।165।64
91. याज्ञ०, 1।70
92. काणे, पी० वी०, वही, पृ० 322
93. मनु०, 8।361
94. म० भा०, 11।267।38
95. वेस्टरमार्क, इ०, ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ मॉरल आइडियाज़, जि० 1, पृ० 472-6
96. सौ०, 8।42
97. आयबायर, जे० डेली लाइफ इन एंशियंट इन्डिया, पृ० 211
98. मैक्रिन्डल, जे० डब्ल्यू०, एंशियंट इन्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, पृ० 69
99. अल्टेकर पो० हि० वो०, पृ० 163
100. फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 91

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

101. म० भा०, 1।95।64; 16।7।18
102. म० भा०, 12।148।9
103. वही, 11।23।34
104. अल्टेकर पो० हि० वो०, पृ० 162
105. मनु०, 7।96
106. महाव०, 3।41-2; 2।174
107. वा० छो० जे० स्मृ० ग्र०, 1967, पृ० 94-5
108. म० भा०, 13।19।6, 13।38।12, 6, 29, 13।19।93
109. वही, 13।48।37-8
110. मनु०, 9।14
111. चटर्जी, सौ० ला० एन० इन०, पृ० 95
112. सौ० 8।31
113. अवदान०, 4।180।17-8
114. सौ०, 8।33-8
115. मनु०, 9।22-4.
116. मनु०, 9।9
117. चटर्जी, बी०, कुषाण स्टेट एण्ड इण्डिया सोसायटी, पृ० 193
118. मजूमदार, ग्रे० वो० इन, पृ० 22
119. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 535
120. रा० स० ल० मू० सं०,79, 29
121. वही, जे० 1
122. शर्मा, आर० सी०, मथुरा स्कूल ऑफ स्कल्पचर्स इन दि कुषाण पीरियड, इन० से० आ० कुषा० ए०, 1984, पृ० 5
123. रा० सं० म० मू० सं०, 11-151
124. वही, जे० 57-58
125. वही, 33-2348
126. वही, एस० ओ०, 4-36

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

8

अध्ययन, अध्यापन एवं शिक्षा

शिक्षा शब्द की उत्पत्ति 'शिक्ष' धातु से हुई है जिसका तात्पर्य जानना, सीखना, ज्ञान विज्ञान से है। व्यक्ति के जीवन में शिक्षा का सदैव महत्व रहा है। व्यक्ति की उन्नति शिक्षा पर आधारित है। वास्तव में व्यक्ति को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए ताकि समाज में नियमितता एवं सुव्यवस्था स्थापित हो सके, इसके लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। व्यक्ति में मूलतः सीखने की प्रवृत्ति होती है। अतः सम्यक् रूप से शिक्षित व्यक्ति मानवीय गुणों का अर्जन कर स्वयं को पाशविक आचरण से सुरक्षित कर लेता है।

व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि व्यक्ति शिक्षित होते हैं तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षा उन्नति का मापदण्ड है, अतएव व्यक्ति के विकसित होने पर समाज की उन्नति तो स्वतः सम्भव हो जाएगी। स्पष्ट है शिक्षा एवं समाज का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रायः शिक्षा विश्व के प्रत्येक सभ्य समाज में विद्यमान रही है।

कुषाण कालीन शिक्षा शिष्य के बौद्धिक व नैतिक विकास का व्यक्तिगत व्यावहारिक स्वरूप था। शिक्षा द्वारा व्यक्ति निर्धारित व्यावहारिक कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ सफल नागरिक सिद्ध होता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का माध्यम भी थी। ज्ञान व्यक्ति का तीसरा नेत्र माना गया जिसके द्वारा वह ब्रह्मतत्व का भास कर सकता था।[1]

तत्कालीन शिक्षा पद्धति एवं तत्सम्बन्धी विषयों का विशेष विवरण संस्कृत बौद्ध साहित्य, जैन एवं ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध होता है।[2] प्रायः शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ संस्कार से होता था। तत्पश्चात् उपनयन-संस्कार सम्पन्न होता था चूंकि उपनयन संस्कार का विस्तृत उल्लेख विभिन्न प्रसंगों में ऊपर किया जा चुका है अतएव यहाँ अति संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत है। उपनयन की अनुमति ब्राह्मण, क्षत्रिय, व वैश्य वर्णों को प्राप्त थी। ब्राह्मण-गुरु द्विजमात्र का यज्ञोपवीत कर सकता था तथा क्षत्रिय-गुरु क्षत्रिय व वैश्य वर्ण का।[3] उपनयन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान ने मत व्यक्त किया है कि गर्भाधान-संस्कार द्वारा जिस प्रकार व्यक्ति का शरीर उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार उपनयन संस्कार द्वारा उसका आध्यात्मिक जन्म होता है।[4] उपनयन के

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्व तो बालक पशुवत होता है परन्तु उपनयनोपरान्त उसका शरीर व मस्तिष्क विशुद्ध हो जाता है। उपनयन का सम्पादन निश्चित आयु में ही करने का विधान था। ब्राह्मण वर्ण के लिए उपनयन की निम्नतम आयु 5 व अधिकतम आयु 16 वर्ष, इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण के बालक की क्रमशः 7 व 22 वर्ष तथा वैश्य वर्ण की 8 व 24 वर्ष निर्धारित की गई थी। इस आयु के उपरांत भी संस्कार न किए जाने पर विभिन्न वर्णों का जाति पतन हो जाता था।[5] आयु के समान ही ब्रह्मचारी के वस्त्र, दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला आदि में भी वर्ण विचार किया जाता था।

उपनयन के उपरान्त बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। भिक्षा हेतु सर्वप्रथम वह सगे सम्बन्धियों अथवा जो बिना अपमान करे दे दें उससे याचना करता था परन्तु महापातकियों से भिक्षा ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध माना गया।[6] गृहस्थ से अपेक्षित था कि भिक्षा याचना करने पर ब्रह्मचारी को अवश्य भिक्षा दे अन्यथा उनके पुण्य क्षीण हो जाते थे। प्राप्त भिक्षा को ब्रह्मचारी सर्वप्रथम गुरु को अर्पित करता था।[7] तत्पश्चात् उनके द्वारा आदेशित भोजन को पूर्वदिशाभिमुख हो स्वयं ग्रहण करता था। वह श्राद्ध में केवल एक घर से प्राप्त भिक्षा ग्रहण करता था। पर नित्य अनेक घरों से प्राप्त भिक्षा द्वारा उसकी वृत्ति उपवासी के समान होती थी। उपवास के दिन ब्रह्मचारी मांस-मदिरा, लवण, मसाले के बिना भोजन ग्रहण करता था। वह दिन भर में प्रातः एवं सायंकाल ही भोजन करता था।

शिष्यों का चुनाव एवं शिक्षण-संस्था में प्रवेश

धर्मग्रन्थों में पढ़ने योग्य शिष्य का विस्तृत उल्लेख हुआ है। केवल आचार्य-पुत्र, सेवा करने वाला, अन्य विषय की शिक्षा देने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, बान्धव, ज्ञान के ग्रहण करने में समर्थ, धन देने वाला, हिताभिलाषी और स्वजातीय इन 10 लोगों को मनु ने धर्मानुसार पढ़ाने योग्य स्वीकार किया था।[8] याज्ञवल्क्य ने कतिपय अन्य लक्षण शिक्षा के इच्छुक बालक में होने आवश्यक माने थे।[9] यह भी विहित है कि जिस शिष्य में धर्म व अर्थ न हों ऊसर भूमि में उत्तम-बीज के समान उस शिष्य को विद्यादान भी व्यर्थ है।[10] सुश्रुत-संहिता में अच्छे लक्षणयुक्त शूद्र भी शिक्षा योग्य स्वीकार किए गए थे यद्यपि उनके सन्दर्भ में मंत्रोच्चारण निषिद्ध था। अतएव वेदज्ञ-विद्वान चाहे विद्या के साथ मर जाए परन्तु उसे घोर आपत्ति में भी अपपात्र को शिक्षा दान निषिद्ध था।[11] मनुस्मृति से विदित होता है कि विद्या की देवी सरस्वती ने ब्राह्मण के पास आकर अपनी रक्षा की याचना की थी।[12] इतिहासकार पिलई इसकी व्याख्या में लिखते हैं कि शिक्षा का सौभाग्य प्रत्येक बालक को नहीं प्राप्त था। इसके लिए पात्र में एक विशेष योग्यता होनी आवश्यक थी। उच्च शिक्षा देने के पूर्व बालक का बौद्धिक-स्तर, चरित्र, योग्यता, आनुवंशिकता तथा वातावरण का विचार किया जाता था। चूंकि बिना बालक के गुणों एव योग्यतानुरूप दी गई शिक्षा के परिणाम विपरीत होंगे प्रायः ऐसी धारणा थी।[13]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शैक्षिक-जीवन, शिष्य के कर्त्तव्य एवं निषिद्ध-कर्त्तव्य

उपनयन के उपरांत शिष्य अपने परिवार को छोड़कर झोपड़ी में गुरु एवं अन्य शिष्यों के साथ रहता था। इस स्थान को गुरुकुल कहा जाता था।[14] यहाँ शिष्य-गुरु के पूर्ण संरक्षण में रहता था। ब्रह्मचारी रूप में वह गुरु के अनुरूप ही आचरण करता था। प्रत्येक कार्य को गुरु की आज्ञानुरूप ही करना आवश्यक था। वेदज्ञान तभी पूर्ण माना जाता था जब व्यक्ति वचन एवं विचारों से निर्मल होता था। शिक्षा ग्रहण करने का तात्पर्य कष्ट व दुख सहना था। गुरु समीप रहते हुए ब्रह्मचारी अपनी इच्छाओं का सर्वथा दमन कर देता था।[15] असुविधापूर्ण जीवन जिसमें पृथ्वी शयन, अस्वादिष्ट-भोजन, गुरु-सेवा आदि से शिष्य का शिक्षा के प्रति वास्तविक लगाव परिलक्षित होता था। मनुस्मृति में इसका अनुमोदन करते हुए वर्णित है कि शिष्य को भोजन, वस्त्र, आचरण, इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी कठोर नियमों का पालन करना अनिवार्य था।[16] शारीरिक दृढ़ता हेतु उन्हें वर्षा में बिना आवरण के तथा शीत में स्नानोपरान्त बिना शरीर के पोंछे ही रहने का अभ्यस्थ होना पड़ता था।

फल, फूल, मूल खाकर सादा-सरल जीवन व्यतीत करना ही उनका धर्म था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी खेतों में प्राप्त अन्न का सेवन कर उद्दवृत्ति धारण करते थे। इसी ग्रन्थ में विहित है कि विन्ध्याचल पर्वत पर असित ऋषि के आश्रम में 500 शिष्य फल-फूल-मूल खाकर वेदों का अध्ययन करते थे।[17] समिधा लाने के कारण शिष्य समिधा-हारक कहलाते थे।[18]

गुरु-सेवा शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य था। शिष्य जीवन-पर्यंत गुरु की सेवाकर ब्रह्म-लोक को प्राप्त करता था। अवदान-शतक से विदित होता है कि शिष्य गुरु की पूजा और उनका आदर करता था।[19] गुरु के चरणों की वन्दना, हाथ जोड़कर प्रणाम करना उनका स्वभाव था।[20] याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्वीकृति देते हुए ज्ञान हेतु गुरु सेवा व पूजा को अत्यावश्यक माना था।[21]

शिष्य का कर्त्तव्य था कि गुरु के समक्ष उच्च स्थान, अभद्र-मुद्रा में न बैठे। अपितु गुरु से वार्तालाप के समय शिष्य आसन से उठकर गुरु के सम्मुख विनम्रतापूर्वक आज्ञा को सुने। गुरु की निन्दा करना तो दूर सुनना भी पाप था। गुरु के पूर्व प्रातः उठना एवं गुरु के सोने के उपरान्त सोना ब्रह्मचारी का धर्म था।[22] शिष्य से आशा की जाती थी कि समस्त जीवन गुरु का कृतज्ञ हो रहे।

शिष्य का अधिकांश समय निर्धारित कार्यों को करने में व्यतीत होता था। प्रातः सर्वप्रथम वह सन्ध्या करता था। सन्ध्या प्रातः एवं सायंकाल करना आवश्यक था। मनु ने सन्ध्या न करने वाले द्विज को द्विज स्वीकार नहीं किया है। वेदारम्भ के पूर्व ब्रह्मचारी को विधिपूर्वक आचमन कर, ब्रह्माञ्जली बांधकर, हल्के वस्त्र पहनकर, जितेन्द्रिय हो, वेद पढ़ने के पूर्व एवं पश्चात गुरु के चरण स्पर्श करना अपेक्षित था। ज्ञान को स्थिर रखने हेतु शिष्य को अध्ययन के आरम्भ एवं अन्त में ॐ शब्दोच्चारण आवश्यक था।[23]

कतिपय वस्तुएं शिष्य के लिए वर्जित मानी गई थीं। इनमें मांस, मदिरा, मसाले, स्त्री, नाचना, गाना आदि थे।[24] शिष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहंकार, द्वेष

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रोष, पैशुन, असत्य, आलस्य का त्याग आवश्यक था।[25] निषिद्ध कर्म करने पर उसे दण्डित करने का अधिकार शिक्षक को था। संभवतः यह पीठ पर ही मारा जाता होगा। मनु ने भी रस्सी या पतली बाँस की छड़ी से पीठ पर मारने की अनुमति दी थी परन्तु किसी कोमल अंग पर नहीं। ऐसी मान्यता थी कि अनुचित समय पर शिष्यों को ताड़ित न करने वाले गुरु मानो उन्हें अनैतिकता का पाठ पढ़ा रहे हों। एवं जो उन्हें निषिद्ध कार्यों में संलग्न करते हैं मानो जहर देकर उनका नाश कर रहे हों।[26] शारीरिक दण्ड दण्ड का अन्तिम स्वरूप था।

शिक्षक

समकालीन ग्रन्थो में शिक्षक के लिए आचार्य,[27] उपाध्याय,[28] गुरु और अध्यापक[29] शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो बाह्यरूप से समानार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु मूलतः उनमें कतिपय भिन्नता है। विहित है जो अध्यापक वेद का शुद्ध ज्ञान कराता है उसे माता-पिता के समरूप ही देखना चाहिए। आचार्य उपनयन के उपरान्त शिष्य को शारीरिक-शुद्धता प्रतिदिन के करणीय-कार्य, अग्नि में समिधा डालना एवं सन्ध्या-वन्दना की विधि समझाता था। याज्ञवल्क्य उपनयन के उपरान्त वेद पढ़ाने वाले को आचार्य मानते हैं।[30] आचार्य चर् शब्द से बना है इसका अभिप्राय सदाचरण से था। अतएव अच्छे आचरण युक्त आचार्य शिष्य को भी तदनुरूप होने के लिए प्रशिक्षित करता था। मनु ने आचार्य को उपाध्याय से दस गुना श्रेष्ठ माना था। उपाध्याय शुल्क लेने की दृष्टि से वेद-वेदांग पढ़ाता था। यह शुल्क ही उनके जीविकोपार्जन का साधन था। वर्णनीय है ब्राह्मण ग्रन्थ जहाँ आचार्य को उपाध्याय से उच्च मानते हैं बौद्ध ग्रन्थ उपाध्याय को आचार्य से श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं सामान्तया शिक्षक गुरु कहलाते थे।[1] गुरु अर्थात महान भारी, जो ज्ञान एवं नैतिक-आदर्शों में निःसन्देह महान थे। उल्लेख से जो बालक का गर्भाधान आदि संस्कार से लेकर पालन-पोषण करता है गुरु (पिता) कहा जाता है। इस प्रकार तो गुरु पिता वाचक हो गया। आगे आता है माता-पिता एवं आचार्य तीनों गुरु हैं जो ज्ञान दे वही गुरु है। यहाँ तक की प्रत्यक्ष लाभकारी ज्ञान शूद्र से भी सीख लेना उचित था।[32] शान्ति-पर्व में भी इसकी पुष्टि की गई है।[33] सामान्यतया शूद्र द्विज का अध्यापक न था। मनु ने शिक्षक को पिता से अधिक महान माना था, जो केवल जन्म देता है। इतिहासकार शर्मा ने शिक्षकों को दो भागों में विभक्त किया था—गुरु एवं मुख्य शिल्पकार। यह व्यक्तिगत रूप से शिष्यों के घर में अध्यापन या शिक्षण-संस्थाओं और निगमों में शिक्षण कार्य करते थे। इनमें जहाँ गुरु बौद्धिक प्रशिक्षण हेतु था कलाकार कला एवं शिल्प हेतु। गुरु पूर्णतः शैक्षिक था और कलाकार पूर्णतः व्यवसायिक। उक्त दोनों शिक्षक अपने-अपने पैत्रिक-व्यवसायों को करते थे।[34]

मनु ने वेदाध्ययन का अधिकारी ब्राह्मणों को माना था।[35] एक अब्राह्मण शिष्य को समस्त जीवन गुरु की सेवा करना, गुरु के पीछे-पीछे रहना और आज्ञा का पालन करना अनिवार्य था।[36] हस्ति व अश्व-प्रशिक्षण देने वाले ब्राह्मण शिक्षक हव्य-कव्य योग्य नहीं माने गये थे।[37] गुरु-भक्ति एवं उनकी सेवा का विशेष महत्त्व था। मनुस्मृति में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विहित है कि शिष्य द्वारा भक्ति-श्रद्धा त्यागकर पूछने पर शिक्षक तत्व-ज्ञान को न कहे प्रत्युत जड़वत आचमन करे।[38] सामान्य शिक्षकों के अतिरिक्त कतिपय शिक्षा शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान भी शिक्षक होते थे। ललित-विस्तर में शिक्षक द्वारा एक समय में 500 शिष्यों तक का अध्यापन करने का उल्लेख हुआ है।[39] अवदान शतक में भी विहित है कि शिक्षक प्रायः शिष्यों से घिरे रहते थे।[40] वैसे तो एक ही गुरु से शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था थी पर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब शिष्य शिक्षक की विद्वता से आकृष्ट हो पलायन कर जाते थे। साहित्य में इन शिष्यों के लिए 'तीर्थकाक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[41] यद्यपि प्रस्तुत सन्दर्भ अन्य की अपेक्षा कतिपय विस्तृत है परन्तु शिक्षा में गुरु की महत्ता को विचार कर ऐसा किया गया है।

शिक्षक एवं शिष्य में सम्बन्ध

शिक्षक एवं शिष्य के परस्पर सम्बन्ध मधुर थे।[42] दोनों के कतिपय अनिवार्य उत्तरदायित्व थे। शिष्य शिक्षक की छत्रछाया में सुरक्षित रहता था जो उसके करणीय-कार्य एवं त्याज्य कार्यों को भलीभाँति निर्देशित करता था, शिष्य को किन लोगों से बात करनी चाहिए एव किनकी संगति अहितकारी है, भोजन एवं शयन सम्बन्धी नियमों का ज्ञान शिक्षक ही कराता था।[43] एक सच्चा शिक्षक अपना समस्त ज्ञान शिष्य को दे देता था न कि शिष्य महान हो जाएगा इस भय से छुपाता था।[44]

शिक्षक एवं शिष्य के सम्बन्ध पूर्णतः व्यक्तिगत एवं व्यावहारिक थे। व्यक्तिगत इस दृष्टि से थे क्योंकि शिक्षण-विषयक सभी कार्यों में समाज व राज्य का किंचिदपि हस्त-क्षेप न था।[45] दोनों के मध्य शैक्षिक-सम्बन्ध पिता-पुत्र से भी अधिक स्नेहपूर्ण थे। इह-लोक एवं परलोक में भी कल्याण के इच्छुक शिष्य को शिक्षक का स्नेह-पात्र होना आवश्यक था।[16] उच्च शिक्षा ग्रहण करने वाले शिष्यों से शिक्षक बन्धुवत आचरण करता था। शिक्षक से अपेक्षित था कि वह शिष्य का अहितकर कार्य न करे।[47]

साधारणतया शिक्षक सभी शिष्यों को समान रूप से शिक्षा देते थे परन्तु शिष्य अपनी योग्यतानुसार ही उसे ग्रहण करते थे। दिव्यावदान में विवरण है कि शिक्षक अच्छे शिष्यों को पढ़ाना पसन्द करते थे।[48] यद्यपि कतिपय शिष्य शिक्षा में प्रमाद भी दिखाते थे।[49] तीक्ष्ण-बुद्धि वाले शिष्य अग्निमानवक, वाक्पटु-शिष्य शब्दकारी अयम् मानवक और दुष्ट शिष्य मानवक जटिलकभिरूपम् कहलाते थे।[50]

शिक्षा का ध्येय

शिक्षा का मुख्य ध्येय व्यक्ति का सर्वांगीण विकास कर उसमें आन्तरिक ज्ञान उत्पन्न करना था। शिक्षा मनुष्य का मातृवत पालन कर, पितृवत सन्मार्ग पर लाकर तथा पत्नीवत प्रसन्नता और सुखदायक थी। शिक्षा द्वारा व्यक्ति विश्वभर में ख्याति प्राप्त करता था। शिक्षा ग्रहण कर व्यक्ति विशुद्ध, विनम्र एवं सुसंस्कृत हो जाता था। शिक्षा रूपी कल्पवृक्ष व्यक्ति को विपत्ति में अकस्मात् सहायक सिद्ध होता था। मनु ने शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए वर्णित किया है कि न आयु, न बाल पकने, न सम्पत्ति, न

 CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मित्र से व्यक्ति महान् बनता है वरन् एक नवयुवक ही विद्वान् होने पर महान् कहलाता है।[51]

शिक्षा तभी पूर्ण मानी जाती थी जब विभिन्न नियमों का पालन, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार सभी हो।[52] मात्र गुरु समीप रहकर अध्ययन करना पर्याप्त न था अपितु विभिन्न परिस्थितियों में निरन्तर अध्ययनरत रहना आवश्यक था। समाज में प्रतिष्ठा-हेतु ज्ञानार्जन करने के लिए ग्रहस्थाश्रमी को अध्ययन करना आवश्यक था।[53] वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य विभिन्न आश्रमों में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति-हेतु प्रयत्नशील होना था। उसका मूलाधार शिष्य का चरित्र-निर्माण था। ताकि वह श्रेष्ठ चरित्र की नींव पर ब्रह्मज्ञान रूपी अट्टालिका निर्मित कर सके। इसी को दृष्टिगत करके सादे जीवन को प्रोत्साहन दिया गया तथा माँस, मदिरा आदि उत्तेजक एवं तामसीय वस्तुओं को वर्जित माना गया था। क्योंकि भोगों में आसक्त मनुष्य का वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्याएँ सिद्ध नहीं होतीं।[54]

शिक्षण के विषय

तत्कालीन साहित्य से विदित है कि शिक्षा विविध विषयों की दी जाती थी। इनमें चार वेद, इतिहास[55], पुराण[56], कोष-रचना, छन्द-शास्त्र[57], ध्वनि-लेखन, पंक्ति, व्याकरण, निरुक्त[58], गणित, ज्योतिष[59], ज्योतिष-शास्त्र, छः वेदांग[60], शुभ लक्षणों की विद्या, शकुन, स्वप्न और लक्षणों की व्याख्या, पूर्वानुमान (भविष्यवाणी), पुच्छलतारा, मेघगर्जन, ग्रहों का संयोग, उल्कापात, भूकम्प, अग्निकाण्ड और स्वर्ग व पृथ्वी के लक्षण, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण का अध्ययन, अंकगणित, धर्माधर्म विचार (किंकर्तव्य मीमांसा), कुत्ते, मृग और चूहे के लक्षणों, तरल-पदार्थ का मिश्रण, चिड़ियों के स्वर एवं कलरव की व्याख्या। क्षत्रिय ब्रह्म-को हस्ति, अश्व, रथ, धनुष, नीमचा, युद्ध, प्रलेख और मुद्रा कलाओं की शिक्षा दी जाती थी जबकि वैश्य व शूद्र ब्रह्मचारी को कृषि-कर्म, सौदा और पशु-रक्षण की। इनके अतिरिक्त आत्म-विद्या[61], राज-शास्त्र[62], नय-विनय[63], काव्य-शास्त्र[64], शिल्प-शिक्षा, वस्त्र-विद्या[65], निघण्टू[66], व्यायाम[67] आदि विषयों का अध्ययन होता था। ललित-विस्तर[68] में शिल्पज्ञ, धर्मज्ञ, लोकज्ञ, लक्षणज्ञ, गणाचाय, इत्टवाचार्य आदि का वर्णन है। प्रस्तुत अनुच्छेद में प्रसंगवश अध्ययन के महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण करना उचित होगा।

व्याकरण शिक्षा का प्राण-तत्त्व था। व्याकरण का सम्बन्ध अक्षरों और पदों से था। वेदों की सुरक्षा-हेतु व्याकरण अत्यावश्यक मानी गई। इसके अतिरिक्त शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके स्वरूप, भ्रष्ट स्वरूप के संशोधन-हेतु भी व्याकरण का महत्त्व था।[69] इसके अध्ययन से विशुद्ध वाक्शक्ति प्राप्त होती थी।[70] एवं विशुद्ध उच्चारण से पूर्ण धार्मिक-फल की प्राप्ति अवश्यंभावी थी।[71] अतएव शिक्षा में व्याकरण का महत्त्व सर्वमान्य रहा। इसके प्रमुख विद्वान् वैयाकरण कहलाते थे।[72] अवदान-शतक में उल्लेख है कि शारिपुत्र ने व्याकरण का अध्ययन किया था।[73]

शिक्षा में वेदाध्ययन का सर्वाधिक महत्त्व रहा। यद्यपि ऋक्, साम, यजुः और अथर्व चारों वेदों का अध्ययन श्रेष्ठ माना गया था। परन्तु प्रथम तीन वेद विशेष आवश्यक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। प्रायः ब्राह्मण चारों वेदों में पारंगत होते थे। हालाँकि ऐसा सभी ब्राह्मणों के साथ न था। शिष्य वेद की ऋचाओं का अभ्यास स्मरण होने तक करता था। तत्पश्चात् उसका स्पष्ट उच्चारण एवं अर्थ जानना भी उतना ही आवश्यक था। महाभारत में चारों वर्णों को वेद सुनने की अनुमति थी।[74]

विज्ञान की दो शाखाओं चिकित्सा-शास्त्र एवं शल्य-चिकित्सा ने इस काल में विशेष महत्त्व प्राप्त किया था। चरक-संहिता एवं सुश्रुत-संहिता इस पर लिखे गए प्रख्यात ग्रन्थ हैं। एक चिकित्सक से अपेक्षित था कि वह सभी वायु-सम्बन्धी, पित्त-सम्बन्धी, कफ-सम्बन्धी और उक्त विकारों से उत्पन्न बीमारियों का ज्ञाता होवे। इसके अतिरिक्त उसे पृथ्वी पर विद्यमान सभी दवाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक था। चिकित्साशास्त्र के अन्तर्गत स्त्री-सम्बन्धी रोग भी सम्मिलित थे। अवदान-शतक में पेट काटकर शिशु को निकालने का उल्लेख हुआ है।[75] मथुरा-संग्रहालय में कुषाण-युग का गन्धार-शैली का एक फलक (ज्योतिष्कावदान) का चित्रण करता है जिसमें जीवक द्वारा शल्य-क्रिया से मृत-स्त्री के गर्भ से बच्चा उत्पन्न करने की घटना का संकेत है। एक अन्य वेदिका-स्तम्भ में पशु-चिकित्सालय का उपहास रूप में अंकन है। चरक ने शल्य-चिकित्सा व औषधि-चिकित्सा का व्यावहारिक-प्रशिक्षण और शिक्षक व शिष्य के गूढ़-विषयों के विश्लेषणों का विवरण दिया है।[76]

उक्त विषयों के अतिरिक्त गुरुकुलों में सदाचरण की भी शिक्षा दी जाती थी।[77] मिलिन्द-पन्हों में विहित विषयों में से कतिपय विषय विभिन्न-वर्णों के व्यवसाय विशेषों से सम्बन्धित थे। इनमें सैनिक-शिक्षा मात्र क्षत्रिय-वर्ण के लिए थी।[78] चूंकि क्षत्रियों पर सुरक्षा का भार था। अतः तदनुरूप ही उन्हें युद्ध-कला का प्रशिक्षण दिया जाता था।[79] इसी प्रकार व्यापारिक-कर्म से सम्बन्धित वैश्य की शिक्षा में संख्या, गणना, मुद्रा, न्याय, क्रय-विक्रय का होना अनिवार्य था।[80] मिलिन्दपह्लों में वस्तु-क्रय के पूर्व परीक्षा करने का उल्लेख है।[81] उक्त विषयों की शिक्षा देकर वैश्य को व्यापारिक लेन-देन में दक्ष बनाया जाता था।

धर्मग्रन्थों में स्त्रियों के उपनयन के उल्लेख से विदित होता है कि समाज में स्त्री-शिक्षा विद्यमान रही। बौद्ध-ग्रन्थों में थेरी-भिक्षुणी शब्द का तात्पर्य शिक्षित-स्त्रियों से था। बौद्ध-भिक्षुणी अविवाहित रहकर शिक्षा ग्रहण करती थी। दिव्यावदान में कपिला नामक कन्या की शिक्षा का उल्लेख मिलता है।[82] महावस्तु से भी स्त्रियों की साहित्यिक रुचि परिलक्षित होती है।[83] ब्रह्मचारी कन्याएँ साधारणतया श्रद्धाचारी से शिक्षा लेती थी हालाँकि पुरुष शिक्षकों से शिक्षण वर्जित न था। स्त्री उपाध्यायिकाएँ भी थीं। अवदाक-शतक में पद्मावती नाम की उपाध्यापिका का उल्लेख हुआ है।[84] महाभारत में भी उपाध्याय, उपाध्यायी और उपाध्यायिनी शब्द वर्णित हुए हैं।[85] प्रथम दोनों शिक्षिका एवं अन्तिम गुरु-पत्नी स्वीकार की गई हैं।[86] स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त शक्तिकी और यस्तिकी शब्द सैनिक-वृत्ति के द्योतक हैं।[87] कामसूत्र में स्त्रियों को प्रारम्भिक-काल में 64 कलाओं की शिक्षा देने का उल्लेख है।[88] वनपर्व में द्रौपदी सुन्दर, विदुषी, पवित्र तथा सभी गृह-कार्यों में निपुण वर्णित है।[89] एक इतिहासकार के विचार से इससे अधिक क्या होगा कि स्वयं

 CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा की अधिष्ठात्री-देवी स्त्री थी। तथा वाचू शब्द जिससे शिक्षा अथवा ज्ञान की उत्पत्ति हुई वह भी स्त्री-वाचक है।[90]

हालाँकि स्त्रियों की शिक्षा के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त विवरण चन्द विदुषी स्त्रियों के विषय में थे वस्तुतः समाज की अधिकांश स्त्रियाँ अपनी प्रारम्भिक-शिक्षा ही ग्रहण कर पाती थी। इसका कारण समकालिक परिस्थितियाँ थीं। निरन्तर विदेशियों के आक्रमण एवं आगमन के फलस्वरूप कन्याओं के विवाह अल्पावस्था में कर देना सुरक्षा की दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया। उनसे सम्बन्धित सभी वैदिक-संस्कार समाप्त-प्राय हो गए थे। विहित है कि स्त्रियों का विवाह-संस्कार ही यज्ञोपवीत है, पति-सेवा ही गुरु-सेवा गृह-कार्य ही अग्निहोत्र-कार्य हैं। अतएव अशिक्षित वह समाज में नीची मानी जाने लगी थी। असंस्कृत कुषाण-स्त्रियों के भारतीय-समाज में मिश्रण के फलस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक-दशा में ह्रास आया था।[91] इसी कारण स्मृतियों में स्त्री-सम्बन्धी संस्कारों में मन्त्रोच्चारण निषिद्ध रहा तथा शूद्रों की भाँति सभी स्त्री-संस्कारों को मन्त्रहीन करने का विधान वर्णित हुआ।[92] स्मृतियों में स्त्री-शिक्षा पूर्णतः पारिवारिक वर्णित हुई है। स्त्री को सदैव प्रसन्न, गृह-कार्यों में दक्ष, घर के बर्तन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली और अधिक व्यय नहीं करने वाली होना चाहिए।[93]

ब्राह्मण-शिक्षा का आरम्भ ऊँ, इसी प्रकार जैन व बौद्ध शिक्षा का आरम्भ क्रमशः णमो एवं सिद्धम् शब्द से होता था। बौद्ध-ब्रह्मचारी विहारों या मठों में रहते थे। यहाँ शिक्षकों द्वारा इनकी सामान्य-शिक्षा होती थी। इसे संघविहारिका कहा गया है। बौद्ध-ऋचाओं के ज्ञान हेतु ब्रह्मचर्य आवश्यक था।[94] शिष्यों को शिक्षा प्रवचन द्वारा इनमें गहन-विश्वास उत्पन्न कर दी जाती थी। इसी को अभिधम्म कहा गया। अवदानशतक में तीन पिटकों के अध्ययन का उल्लेख है।[95] विहारों में शिष्य परस्पर भ्रातृवत सामूहिक रूप से रहते थे। यह शिष्य दान में दी गई भूमि में कृषि-कर्म व डेरी-उद्योग करते थे। कुषाण-काल में शिक्षा के प्रचार का मुख्य-श्रेय निःसन्देह बौद्ध व जैनों को है। जैन-स्रोतों के अनुसार सरस्वती-आन्दोलन कुषाण-युग में मथुरा से आरम्भ हुआ। जैन-आगमों को व्यवस्थित व लिपिबद्ध करने के लिए माथुरी-वाचना मथुरा में हुई। सरस्वती की प्रथम मूर्ति सं० 54 कंकाली-टीले से ही मिली।[98]

शिक्षण का तरीका, स्थान व काल

शिक्षण-कार्य प्रायः याद करके एवं लिखकर किया जाता था। महाभाष्य में वर्णित है कि शिक्षण-हेतु उच्च-स्वर में मन्त्रोच्चारण करने का विशेष महत्त्व था।[97] व्याकरण का अध्ययन कर उच्च-स्वर में मन्त्रोच्चारण द्वारा अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता था अन्यथा भी शिक्षक व शिष्य के मध्य परस्पर इतने निकट सम्बन्ध थे कि शिष्य के संशयों के समाधान-हेतु शिक्षक सदैव तत्पर थे। गणना उँगलियों पर की जाती थी।[98] लेखन-कार्य उग्रसर-चन्दन के लिपि-फलक पर पैन-स्याही द्वारा होता था।[99] पेन्सिल का भी प्रयोग होता था।[100] ललित-विस्तर में लेख एवं सुन्दर लेख-सम्बन्धी विवरण हैं। इसमें 64 प्रकार की लिपियों का वर्णन है।[101] जबकि अन्य ग्रन्थों में 10 प्रकार की।[102]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा ग्रहण करने का स्थान सामान्यतया गृह था। शिष्य के घर भी शिक्षा दी जा सकती थी। गुरु-गृह में रहने वाले गुरु अन्तेगुरु तथा शिष्य अन्तेवासी कहलाते थे। गुरु-गृह को गुरु-कुल व आश्रम भी कहा जाता था। महाभाष्य में वर्णित है कि शिक्षा मुनियों की कुटियों में दी जाती थी। सम्भवतः इसी को भाष्यकार ने ब्राह्मण-कुल कहा है।[103] शिष्य यहाँ गुरु के निरीक्षण में रहते थे।[104] गुरुकुलों के कक्ष लेखशाला कहलाते थे। मनु-स्मृति में नैष्ठिक-ब्रह्मचारियों का उल्लेख है जो समस्त जीवन गुरुकुलों में रहते थे।

शिक्षण का समय शिष्य की कक्षा व आयु पर आधारित था।[106] सामान्यतया तो शिक्षा प्रातः एवं दिन में दी जाती थी। सम्भवतः उच्च-शिक्षा प्राप्त करने वाले शिष्य रात्रि अध्ययन भी करते थे। रात्रि में प्रकाश-हेतु लैम्प का प्रयोग किया जाता था।[107] तेल के अभाव में वह लैम्प के स्थान पर कण्डे की रोशनी में पढ़ते थे।[108] इसकी व्याख्या में इतिहासकार पुरी का विश्वास है कि तेल-हेतु पैसे न होने पर ही कण्डों का प्रयोग होता होगा।[109]

शिक्षा ग्रहण करने की कोई निश्चित अवधि न थी। एक वेद के लिए 12 अथवा 5 वर्ष उपयुक्त माने गए थे।[110] मनु ने भी विधिपूर्वक एक वेद पढ़ना पर्याप्त माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित उच्च-शिक्षा प्राप्त करने पर समय अवश्य अधिक लगता था। परन्तु सभी लोग तो उच्च-शिक्षा नहीं ग्रहण करते थे। सामान्य-शिक्षा के उपरान्त अपने वर्ण एवं रुचि-अनुरूप ही व्यवसायों की शिक्षा ली जाती थी जिनकी अवधि पृथक्-पृथक् थी।

शिक्षक की वृत्ति

शिक्षक की कोई निश्चित-वृत्ति न थी। स्मृतियों में शिक्षण-काल में वृत्ति-ग्रहण करने का स्पष्ट निषेध था। तथा ऐसा करने पर शिक्षक को उपपातक माना गया।[111] पतंजलि भी इसका समर्थन करते हैं।[112] अनुशासनपर्व में वृत्ति-हेतु अध्यापन करने की भर्त्सना की गई है तथा इसे शूद्रवत कहा गया।[113] परन्तु शिक्षण-काल समाप्त होने पर दक्षिणा-स्वरूप सामर्थ्यानुसार गुरु को भूमि, गौ, सोना, धन, अश्व, छाता, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ अवश्य देने का विधान था। अपने घर पर रहने वाले शिष्यों से अपेक्षित था कि वह उपाध्याय को जीविकोपार्जन हेतु वृत्ति दें।[114] दिव्यावदान में भी शिष्य द्वारा उपाध्याय को पाँच सौ कार्षापण देने का उल्लेख है।[115] पुरोहितों को धार्मिक उत्सवों पर उपहार प्राप्त होते थे। भूमिदान श्रेष्ठतम दान था। अग्रहात ग्राम के दान का कुषाण-काल में विशेष प्रचलन हुआ। इसका प्रयोग शिक्षा के प्रचार व प्रसार हेतु किया गया था। इन ग्रामों में रहते हुए ब्राह्मण अध्ययन व अध्यापन करते थे। राजा द्वारा इन भूमि पर कर भी लगाया जाता था।

शिक्षण-संस्थाएँ

प्रख्यात शिक्षण-संस्थाएँ काश्मीर, तक्षशिला, वल्लभी, काशी, वैशाली आदि थी। ये संस्थाएँ सांस्कृतिक केन्द्र थे जहाँ शिक्षा, कला और उद्योग संरक्षित व सुविकसित होते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं।[116] बौद्ध व जैन शिक्षण-संस्थाएँ विहार, मठ, सेघाराम कहलाती थी। इनमें भिक्षु, अर्हत और आचार्य शिक्षा देते थे।[117] शिष्यों का ब्रह्मचारी होना आवश्यक था। प्रसिद्ध इतिहास विज्ञ मुकर्जी के अनुसार मैसूर के अभिलेखों में तीन प्रकार की सांस्कृतिक-संस्थाएँ कार्यरत वर्णित हैं—घटिका, अग्रहार और ब्रह्मपुरी। इनमें घटिका एक छोटी संस्था थी जबकि अग्रहार विद्वान् ब्राह्मणों की विस्तृत संस्था थी। अग्रहार संस्था का संचालन निजी सभा द्वारा होता था।[118] एक अन्य अध्ययन इस प्रकार है कि तीन प्रकार की शिक्षण संस्थाएँ थी। प्रथम में शिष्य सामान्य शिक्षा हेतु गृहस्थ शिक्षक के घर रहता था। दूसरी में शिष्य उच्च शिक्षा के लिए दूरस्थ विद्वान् गुरु के पास रहता तथा तीसरा ब्राह्मण संघ था। इसमें राजा द्वारा आमन्त्रित विद्वत्जनों में प्रतियोगिता होती थी तथा विजितम विद्वान् को उपहार भेंट किया जाता था।

शिक्षा व समाज

शिक्षा समाज का दर्पण है। बिना शिक्षा के विकास के सामाजिक विकास की परिकल्पना दुर्लभ है। अतएव शिक्षा के प्रसार-हेतु पूर्ण प्रयास किये गये थे। स्मृतियों में इस ओर विशेष कदम उठाये गये। याज्ञवल्क्य के राजाओं को आदेश थे कि शहरों में ब्राह्मणों के लिए निवास स्थान बनाये जाये।[119] यह स्थान ब्रह्मपुरी कहे जाते थे। ब्राह्मण यहाँ रहते हुए वेदाध्ययन एवं वेदाध्यापन करते थे। अनुशासनपर्व में राजा का कर्तव्य क्षेत्रिय-ब्राह्मण का आदर करना विहित है।[120] मनु भी इसका समर्थन कर लिखते हैं कि राजा श्रोत्रियों की पूजा धन, मान आदि द्वारा करता था। यह भी उल्लेख है कि राजा को ब्राह्मणों के लिए यज्ञ विधानार्थ मोती-माणिक्य आदि सब प्रकार के रत्न दक्षिणा हेतु देने चाहिए।[121] भूमिदान भट्टवृत्ति कहलाते थे। इन पर भूमिकर नहीं लगता था। शिष्य शिक्षक के घर से बौद्धिक-ज्ञान प्राप्त कर लौटते समय पूर्ण सामाजिक और शैक्षिक योग्यता युक्त समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने योग्य हो जाता था।[122]

निष्कर्ष

सामाजिक परिवेश में शिक्षा का महत्व सर्वमान्य रहा। शरीर में मेरुदण्ड के समान समाज में शिक्षा की उपयोगिता थी। जो व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों, अधिकारों, निषिद्ध-कर्त्तव्यों से अवगत कराती थी। इन कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन करता हुआ व्यक्ति समाज में पर्याप्त समादर पाता था। शिक्षा का श्रीगणेश विद्यारम्भ संस्कार द्वारा होता था जिसमें बालक अक्षर आदि का सामान्य ज्ञान प्राप्त करता था तदुपरान्त एक निश्चित अवस्था में (जो वर्णानुसार भिन्न-भिन्न थी) उपनयन संस्कार सम्पादित किया जाता था। इसमें बालक ब्रह्मचारी के जीवन में एक नवीन परिवर्तन आता था एवं वह ब्रह्मज्ञान प्राप्ति हेतु अग्रसर होता था। यह उसका दूसरा जन्म माना जाता था।

ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर शिष्य घर-परिवार का त्याग कर गुरु समीप रहता था। इस समय वह सम्पूर्ण रूप से गुरु के आधीन था। स्वयं के क्रिया-कलापों में भी वह स्वतन्त्र न था। इस अत्यन्त दुरुह जीवनवृत्ति से अभिप्राय शिष्य को जितेन्द्रय एवं सुदृढ़ ऐसा व्यक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाने से था जो आगामी आश्रमों का सरलतापूर्वक अनुपालन कर जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति योग्य हो सके।

सामान्यतया समकालिक ब्राह्मण, बौद्ध व जैन व्यवस्थाओं में शिक्षक एवं शिष्य का स्वरूप समान था। यद्यपि उनकी शिक्षण संस्थाओं की संचालन-प्रणाली में भिन्नता थी। काश्मीर, तक्षशिला, काशी, वल्लभी, वैशाली आदि शिक्षण संस्थाओंने विशेष-ख्याति प्राप्त की थी। यहाँ पर देश एवं विदेश के विभिन्न अंचलों से शिक्षार्थी शिक्षा-लाभ हेतु आते थे।

कुषाण-कालीन शिक्षा पर ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि तत्कालीन राजनैतिक-सामाजिक परिस्थितिवश शिक्षा में पूर्वकाल की अपेक्षा पर्याप्त ह्रास आया था। स्त्रियों के सन्दर्भ में अल्पावस्था में विवाह कर दिए जाने पर उनका अशिक्षित रहना नितान्त स्वाभाविक हो गया था। ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों, निम्न वर्णों व शूद्रों के प्रति शिक्षा में उदासीनता तथा कुछ संकीर्ण धारणाओं का परिचय उनके मन्त्रहीन-संस्कारों से परलक्षित होता है। इस वर्ण को समाज में तुच्छ एवं शिक्षा के अयोग्य माना गया था। अतएव शिक्षा में पतन अत्यावश्यक था क्योंकि जब तक समाज की प्रत्येक इकाई को शिक्षा का अवसर एवं प्रोत्साहन नहीं मिलेगा इसका विकास एकांकी ही रहेगा।

निःसन्देह इस युग में बौद्ध व जैनों का शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में श्लाघनीय योगदान रहा। बौद्ध और जैन धर्मों में प्रत्येक मानव समान रूप से शिक्षा का अधिकारी माना गया था। स्त्रियों को भी मठों में रहने की अनुमति मिल गई थी जहाँ ये भिक्षु-भिक्षुणी समस्त जीवन ज्ञानार्जन में व्यतीत कर देती थीं। इन मठों व विहारों में रहने वाली स्त्रियों का शिक्षा के प्रसार में दिया गया योगदान अवलोकनीय है। अग्रहार दान-पद्धति शिक्षा के उन्नयन हेतु एक शक्तिशाली प्रयास था जिसे राजदरबार से पूर्ण सहयोग मिला। चूँकि कुषाण-साम्राज्य प्रधानतया उत्तर-पश्चिम भारत में व्यवस्थित रहा। अतएव अग्रहार दान के अनेकानेक उल्लेख भी काश्मीर आदि क्षेत्रों से प्राप्त होते हैं। यह व्यवस्था एक बहु-प्रचलित व्यवस्था थी जो शनैः-शनैः सम्पूर्ण भारत में विस्तृत हो गई थी। यद्यपि विदेशी कुषाण-शासकों ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण कर शिक्षा की उन्नति हेतु यथा-सम्भव प्रयत्न किये परन्तु परस्पर सामंजस्य न होने के कारण समकालीन ब्राह्मण-सम्प्रदाय के अनुयायिओं द्वारा उनको पर्याप्त सहयोग न मिला। सम्भवतः इन्हीं कारणों से कुषाण-युग में शिक्षा रूपी सुमन को पूर्णतः प्रफुल्लित होने का अवसर न मिला।

सन्दर्भ

1. अल्टेकर, ए० एस०, स्टडीज इन दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इन्डिया, पृ० 94
2. शर्मा, आर० एन०, ब्रह्मिन्स थ्रू दि एजेज, पृ 182
3. सुश्रुत०, 215
4. मनु०, 2।146,48
5. याज्ञ०, 1।14,37,38
6. मनु०, 2।50, 183-4

 Digitized by Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

7. याज्ञ०, 1।108; 2।27
8. सुश्रुत०, 2।3
9. याज्ञ०, 1।28
10. मनु०, 2।112-3
11. सुश्रुत०, 2।5
12. मनु०, 2।114-5
13. पिलई, पी० के० एन०, एजुकेशन प्रैक्टिसेज इन मनु, पाणिनि एण्ड कौटिल्य, पृ० 8-9
14. महाव०, 2।203
15. मिलिन्द०, 315
16. मनु०, 2।93-4
17. महाव०, 3।382
18. दिव्या०, 35।14
19. अवदान०, 16।8918,9,12
20. दिव्या०, 18।18
21. याज्ञ०, 1।26
22. मनु०, 2।194-7, 2।200-1
23. मनु०, 2।70-1
24. महाव०, 2।209
25. मनु०, 2।278; 8।299-300
26. याज्ञ०, 1।25-9
27. अवदान०, 4।193-7
28. दिव्या०, 12।29,205-13
29. महाव०, 2।80, 2।225
30. याज्ञ०, 1।15; 1।34
31. मनु०, 2।145; 2।141, 48
32. मजूमदार एज० इम० यू०, पृ० 590
33. मनु०, 2।141-2; 2।225-238
34. म० मा०, 12।165।31
35. शर्मा, एस० आर० एंशियंट इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 124-5
36. मनु०, 3।241
37. मिलिन्द०, 94
38. मनु०, 2।110-1
39. ललित०, 10।89
40. अवदान०, 1।108।3-4
41. महाभा०, 1,1, 391

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

42. सौ०, 18।2
43. मिलिन्द०, 142
44. मित्रा, वी०, वही, पृ० ण4
45. पुरी इन० अन०, कुषा०, पृ० 124
46. महाभा०, 3, 1, 26, 26
47. पुरी इन० अन० कुषा०,पृ० 124
48. दिव्या०, 428।14-20
49. अवदान०, 56।32।5, 47।26।7
50. महाभा०, 8, 1, 12, 368।1; 2, 32, 209
51. मनु०, 2।154, 6
52. महाभा०, 1, 1, 1, 6
53. पुरी इन० टा० पन्त, पृ० 145
54. मनु०, 2।97
55. दिव्या०, 329।9; 329।19; 332।20
56. ललित०, 12।156
57. दिव्या०, 332।20
58. सद्धर्म०, 2।34
59. अवदान०, 4।17।7
60. वही, 2। 10।5
61. मनु०, 7।43
62. महाव०, 3।210
63. ललित०, 13।169
64. सद्धर्म०, 13।180
65. दिव्या०, 42।14; 328।11
66. महाव०, 2।77
67. अवदान०, 18।104।5
68. ललित०, 3।26
69. महाव०, 1, 1, 1, 1
70. महाव, 2।261, 2
71. महाभा०, 1, 1, 1, 10
72. दिव्या०, 318।31
73. अवदान०, 2।187
74. म० भा०, 12।327।49
75. अवदान०, 6।13।5
76. चरक०, 8।5
77. महाव०, 3।405

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

78. मिलिन्द०, 134-5
79. ललित०, 12।156
80. दिव्या०, 2।16
81. मिलिन्द०, 194
82. दिव्या०, 422।6
83. महाव०, 2।83
84. अवदान०, 2।23।2, 4
85. महाभा०, 3, 3, 21, 147;4, 1, 49, 220
86. विलियम, एम० एम०, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 213
87. महाभा, 4, 1, 93।247
88. काम०, 1।3।13
89. म० भा, 3।232
90. सेनगुप्ता, पी०, वोमेन एजुकेशन इन इन्डिया, पृ० 1
91. शर्मा, एस० आर०, वही, पृ० 125
92. मनु, 9।18; 2।66
93. वही, 5।150
94. मिलिन्द०, 12
95. अवदान०, 2।80
96. रा० स० ल० मू०, सं०, जे० 24
97. महाभा०, 2, 1, 2, 376
98. मिलिन्द०, 59
99. ललित०, 10।125
100. दिव्या०, 532।10
101. ललित०, 10।125
102. महाव०, 1।135
103. महाभा, 4, 3, 104, 315;6, 3, 10, 145;1, 1, 4, 7
104. वही, 1, 3, 21, 280
105. दिव्या०, 171।12
106. महाभा०, 5, 1, 75, 308
107. मिलिन्द०, 25-42
108. महाभा०, 2, 4, 32, 481
109. पुरी इन० टा० पतं०, पृ० 150
110. याज्ञ०, 1।36
111. मनु०, 3।156; 2।245
112. महाभा०, 1, 4, 32, 330
113. म० भा०, 13।135।15

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

114. मनु०, 2।46
115. दिव्या०, 153।6
116. शर्मा, एस० आर०, वही, पृ० 123-5
117. अवदान०, 5।269
118. मुकर्जी, आर० के०, 372
119. याज्ञ०, 2।188
120. म० भा०, 13।33।3
121. मनु०, 8।395; 11।4
122. पुरी, इन० अन० कुषा०, पृ० 125

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

9

भोजन एवं पेय

कुषाण-कालीन भोजन एवं पेय-विषयक विवरण समकालिक प्राथमिक-स्रोतों यथा—ब्राह्मण, बौद्ध व जैन ग्रन्थों, प्राप्त उत्खनन-सामग्री पर आधारित समाज की वास्तविक छवि प्रस्तुत करता है। निःसन्देह समाज में भोजन व पेय की उपादेयता सृष्टि के उद्भव-काल से ही विद्यमान रही। भोजन एवं पेय जीवन का आधार था।[1] भोजन सम्बन्धी सत्य था कि यदि आवश्यक पौष्टिक-भोजन किया जाय तो जीवन में तेजस्विता, अंगों में सजीवता, जीवन-शक्ति, स्मरण-शक्ति, बौद्धिक-शक्ति व शारीरिक-शक्ति का विकास एवं वर्ण उज्जवल होता है। परन्तु इसके विपरीत तत्वहीन भोजन करने पर परिणाम भी विपरीत ही होगा।[2] मनुष्य-शरीर पंचतत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) की भाँति विभिन्न भोज्य-पदार्थों द्वारा निर्मित था। यह भोज्य-पदार्थ मीठे, अम्लीय, तीक्ष्ण, नमकीन, कठोर एवं कड़वे स्वादयुक्त होते थे।[3] शारीरिक-सौष्ठव हेतु इन तत्वों को सीमित रूप में ग्रहण करना नितान्त आवश्यक था। तभी शरीर में निहित पित्त, कफ, वायु विकारों को सुनियंत्रित किया जा सकता था।[4] पुनः समस्त भोज्य-पदार्थ निम्न चार उपविभागों में विभक्त किए गये थे—खाद्य-पदार्थ, पेय-पदार्थ, लेह्य-पदार्थ एवं चोष्य-पदार्थ।

प्रचलित भोज्य-पदार्थ

तत्कालीन समाज में आज की भाँति अन्न, शाक, दूध-निर्मित-वस्तुएं और माँस भोजन के अपरिहार्य-अंग थे। इन्हें शाकाहारी एवं मांसाहारी दो प्रकार के भोजनों में विभक्त किया गया था। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत है—

शाकाहारी भोजन को महाभाष्य में 'शाकुभोजिन' कहा गया।[5] शाकाहारी लोगों का प्रधान-भोजन अन्न, शाक, फल तथा दूध निर्मित भोज्य थे। विभिन्न अन्नों में चावल, गेहूँ व जौ का विशेष प्रचलन था। इनमें भी सर्वाधिक प्रिय अन्न चावल स्वीकार किया गया है। बौद्ध-ग्रन्थों में चावल के अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं यथा— शाली अथवा सालि[6] नीवार[7], ब्रीहि[8], तन्दुल[9], हयान एवं सस्तिका।[10] चरक-संहिता में ब्रीहि-चावल को शालि एवं सस्तिका की अपेक्षा निम्न कोटि का माना गया। शालि-चावल के 15 प्रकार थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें रक्तशालि, महाशालि व कलाम विशेष अच्छे थे।[11] काले व्रीहि-चावल को कृष्ण-व्रीहि कहा जाता था।[12] सस्तिका-चावल अत्यधिक पौष्टिक होता था।[13] चावल प्रायः उबाल-कर ओदन या भात रूप में खाया जाता था। उसके अतिरिक्त पायस प्रकार से भी चावल बनता था। जो मधु-मिश्रित करने पर मधुपायस कहलाता था।[14] यह ब्राह्मण योग्य चावल था। चावल को सुगन्धित करने हेतु पुष्प व सुगन्धित जल मिलाया जाता था। दही-चावल, दूध-चावल भी स्वादिष्ट माना जाता था।[15] मांसाहारी व्यक्ति चावल को मांस-युक्त बनाते थे। चरक-सहिता में विहित है कि चावल धोने के उपरान्त पानी अथवा दूध में वसा, मांस, फल, कन्द, दाल आदि मिश्रित कर बनाया जाता था।[16] गेहूँ दो प्रकार के उपलब्ध थे—मधूलिका एवं नन्दीमुख।[17] यह निम्न कोटि के थे। अतएव अनुमान है कि गेहूँ का अधिक प्रचलन न था। पुरावेत्ता संकालिया के अनुसार ईसवी सदी के पूर्व गेहूँ भारत की अपेक्षा भारत के बाहर अधिक प्रचलित रहा।[18] ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में अवश्य ही गेहूँ भारत में अधिक प्रयुक्त हुआ।[19] यद्यपि कुछ स्मृतियों के अति-रिक्त धर्मग्रन्थों में गेहूँ को धार्मिक-उत्सवों में काफी बाद तक शुद्धता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं माना गया था।[20] गेहूँ के समान जौ भी अत्यावश्यक अन्न था। उक्त खाद्यानों के साथ-साथ विविध दालें भोजन का प्रमुख अंग थीं। उनमें मूँग (मुद्गा), उरद (माष), मसूर तथा कुल्थी (कुल्माष) विशेष प्रचलित रही।[20A] चरक ने मुद्ग, आढकी और मसूर की दालों के अलावा राजमाष, कुलख, मकुष्ठका, चणक, खण्डिका, हरेनु, शिम्बी, अवल्गुज, निष्पाव, काकान्डोमा और आत्मगुप्तानाम आदि दालों का भी उल्लेख किया था।[21] माष को अपथ्य-दाल माना गया था। साहित्य द्वारा अन्नों के तत्कालीन प्रचलित नामों का भी ज्ञान हो जाता है। इनमें, आटा-शक्तु, चावल-ओदन, साधारण चावल, सक्त यादां धान्य, तला व भुना चना-लाजा, जौ यवसक्त[22], सरसों के बीज सरशपा, दाल-कलच, जड़-मूल, आटे से निर्मित केक-पिष्त और मण्डालिका कहलाते थे।[23]

शाक भोजन का महत्वपूर्ण-तत्व था। चरक ने अनगिनत शाकों की सूची दी है।[24] यह फल, पत्ती, डंडी, कन्द प्रकार के होते थे जो क्रमशः अधिक अपथ्य थे। इनमें सतीन, वास्तुक, चुच्चू, चिल्ली, मूलक, मण्डूकपर्णी और जीवन्ती नामक शाकों को श्रेष्ठ माना गया।[25] बेगुन अच्छा शाक था। मूली अवश्य अधिक प्रयुक्त रही। मूली व लौकी सिरके में डालकर भी खाई जाती थी। सब्जी का उल्लेख हुविष्क के मथुरा-अभिलेख में हुआ है जिसमें वर्णित हरित-कलापक का अभिप्राय निःसन्देह हरी सब्जी से था।[26] स्पष्ट है हरी सब्जी आज की भाँति लाभप्रद मानी गई थी। प्याज (पलाण्डु), लहसुन (लशुन) आदि का भी प्रचलन था।[27] संस्कृत शब्द-कोश में प्याज के लिए 'नीचभोज्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[28] स्पष्ट है प्याज को भारत में अशुद्ध ही माना गया था।[29] पंजाब में प्याज का अधिक उपयोग विदेशी-प्रभाव का संकेत करता है। इतिहासकार सांकृतायन के अनुसार प्याज शकों का प्रिय शाक था। यह भी उल्लेख है कि शक-स्त्रियाँ प्याज के अधिक प्रयोग द्वारा ही अत्यधिक लावण्यमयी होती थीं।[30] चरक व सुश्रुत ने भी प्याज के लाभों का वर्णन किया था। प्याज की भाँति लहसुन भी धर्मग्रन्थों में अशुद्ध होने के कारण त्याज्य माना गया था। भारत में लहसुन संभवतः मध्य-एशिया से शक-ईरानी लोगों द्वारा लाया गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। स्मिथ के विचार से लहसुन की विदेशी उत्पत्ति होने के कारण ही भारत में निषिद्ध रहा।[31] महावस्तु में फलों के विवरण में कटहल का वर्णन आया है।[32] जो संभवतः कटहल को पकाकर फल के रूप में खाया जाता था।

लवण भोजन का प्राण-तत्व था।[33] चरक ने लवण को पाचक माना था। लवण पाँच प्रकार के थे सैन्धव, सौवर्चल, बिड, औद्भिद और समुद्री लवण। इनमें सैन्धव-लवण सर्वोत्तम था। दाल अथवा सब्जी को छोंकने हेतु विभिन्न मसाले प्रयुक्त होते थे। इनमें काली-मिर्च. साबुत-मिर्च, सौंठ, हींग, जीरा, इलायची आदि प्रमुख थे। संहिताओं में हींग की स्वास्थ्य हेतु उपयोगिता का विवरण है। जीरा संभवतः ईरानी उत्पादन था जो भारत में शकों द्वारा लाया गया था।[34] सुगन्धित-मसालों में साबुत-मिर्च और सौंठ अवश्य होती थी। भोजन में प्रयुक्त चिकनाई में शुद्ध-मक्खन शरद ऋतु में, तेल वर्षा-ऋतु में तथा जानवरों के दूध से प्राप्त वसा वसन्त-ऋतु में उत्तम माना जाता था। अनेक प्रकार के तेलों का उपयोग होता था। अवलोकनीय है चरक ने तेल को शक्तिप्रद स्वीकार किया था जबकि सुश्रुत ने उसे अपथ्य माना था।[35]

दिव्यावदान में शट्रस-व्यंजनों का उल्लेख हुआ है।[36] यह व्यंजन अन्न व शाक द्वारा निर्मित किए जाते थे जो नाश्ते आदि के समय भी प्रयुक्त होते थे। इनके नाम साहित्य में दलिया, भुना जौ एवं चावल, कुलमाष, सस्कुली, पृथुका, अपूप, विष्यन्दन, स्वास्तिक, कृसर, संयाव, पललोदन, सामित, उलुम्बा आदि विहित हुए हैं।[37] दलिए में पानी की मात्रा के अनुरूप ही उसे पीया अथवा चाटा जाता था। सत्तु भी लोग रुचिपूर्वक खाते थे। सत्तु का दलिया दही अथवा चाशनी मिश्रित कर बनाया जाता था।[38] प्रायः दालों को सूप के अलावा भूनकर भी खाया जाता था। कामसूत्र में सामाजिक उत्सवों में दिए गए भोज्य-पदार्थों में विविध नमकीन-पदार्थ, फल, हरे शाक चटपटे स्वाद युक्त बनाने का वर्णन है।[39] पालि-बौद्ध-साहित्य के आधार पर एक विद्वान् ने यक्षों के प्रिय भोजन में दही, मक्खन, मधु, चावल, लावा, अपूप एवं मादक-पेय का उल्लेख किया है। इसके लिए करोतपाणि शब्द प्रयुक्त है।[40]

पौष्टिक-पदार्थों में दूध, दही, घी, क्षीर, मधु, नवनीत, सर्पिष का विशेष महत्व था। इनमें अधिकांश लेह्य-पदार्थ थे।[41] दही, घी, मिठाई आदि में अनेकानेक प्रकार से प्रयुक्त होने के कारण दूध सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं स्वास्थ्यप्रद स्वीकार किया गया। दही के महान् लाभ से भी लोग परिचित थे। सुश्रुत-संहिता में शरद, ग्रीष्म व बसन्त ऋतुओं में दही निषिद्ध मानी गई। दही बिना पानी डाले मथकर खाने की प्रथा थी। दूध व दही को मथकर मक्खन निकाला जाता था। पुराना शुद्ध-मक्खन तो समस्त रोगों को दूर करने वाला रामबाण के समान था। दही में चाशनी मिलाकर भी खाई जाती थी।[42] मधु वर्षा-काल का सर्वोत्तम पौष्टिक-तत्व था। सुश्रुत-संहिता में मधु के 8 प्रकारों का उल्लेख हुआ है। इनके नाम हैं—पौत्तिक, भ्रामर, क्षौत्र, माक्षिक, छात्र, आर्घ्य, औद्यालिक एवं दाल। जिसमें माक्षिक छोटी मधुमक्खियों का मधु सर्वश्रेष्ठ एवं भ्रामर काली बड़ी मधुमक्खियों का मधु अपथ्य स्वीकृत रहा।[43]

मिठाई तो शाकाहारी-भोजन का मुख्य आकर्षण थी। मिठाई में राब, गुड़, शर्कर,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मधु तथा खाण्ड का प्रयोग होता था।[44] विविध मिठाइयाँ गेहूँ के आटे, दूध, मधु, चीनी द्वारा बनती थीं।[45] शर्करा-निर्मित मोदक विशेष पसन्द किए जाते थे।[46] मिष्ठान-पकवानों में घी के बने युतों का प्रचलन था।[47] आटे का केक पिष्टपिण्डी कहा जाता था।[48] तथा आटे में मूंग की दाल पीसकर भरने पर इस मिठाई को समिताह कहते थे। इसके अतिरिक्त भी दही द्वारा रसाल या सिखारिनी एवं सट्टक नामक मिठाई निर्मित होती थी। संयाव-मिठाई गेहूँ के आटे, दूध, मक्खन, चीनी, इलायची, मिर्च, सौंठ द्वारा बनती थी। एक अन्य मिठाई क्रस्तपुर गरी डालकर तैयार की जाती थी।[49] उतकारिका-मिठाई चावल के आटे, चीनी, चाशनी, शुद्ध-मक्खन आदि द्वारा बनती थी। तथा रोल की भाँति निर्मित मिठाई वर्तिका कही जाती थी। मनु ने इन मिठाइयों को पुरानी होने पर भी भक्षण योग्य माना था।[50]

चिकित्सा-शास्त्र में फल भोजन के साथ आवश्यक माने गए थे। निःसंदेह स्वास्थ्य को दृष्टिगत करके ही ऐसा विधान बनाया गया था। फल अनेक रूपों में ग्रहण किए जाते रहे यथा—भोजन के समय, भोजन के अतिरिक्त भी एवं रस रूप में। साहित्य में वर्णित फलों में आम के विविध प्रकार, जामुन (जम्बुफल), गूलर (उदुम्बर या फल्गु), खजूर (खर्जुर), अनार, अंगूर, बिजौरा, नीबू (मातुलंगानि), (पिप्पली) पीपल का फल, कैथा, नारियल, कटहल तथा पिण्ड-खजूर इत्यादि फलों का विवेचन हुआ है।[51] चरक-संहिता द्वारा भी उक्त फलों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[52] यही नहीं चरक ने अनेक प्राचीन फलों के अतिरिक्त कतिपय नवीन फलों से भी परिचय कराया है। इनमें सौवीर-बेर का नवीन प्रकार था। इसी तरह सन्तरा नागरंग एवं परवत आदि नवीन फल थे। मीठा संतरा चीन और कोचीन का फल था।[53] इनमें अंगूर, अनार आदि फलों के दो प्रकार मीठे व खट्टे का उल्लेख है।[54] खुबानी फल मूलतः चीन का फल था। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में यह पश्चिम-एशिया और उत्तर-पश्चिम-भारत में प्रचलित हुआ था।[55]

सुश्रुत-संहिता में अनार, आमलक, अंगूर, खजूर, परुसक, राजदान और मातुलुंग-फल श्रेष्ठ माने गए।[56] अनार पर्शिया, कुर्दिस्तान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में बहुतायत में पैदा होता था।[57] भारत में यह संभवतः प्रवासी-शकों द्वारा लाया गया था। अनार ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में प्रचलित हुआ था। इतिहासकार के अनुसार सर्व-प्रथम अनार का उल्लेख बौद्ध व जैन-साहित्य में उपलब्ध होता है।[58] इतिहासकार यॉनचांग के अनुसार आड़ू एवं नाशपाती फल तो भारत धरा में सर्वप्रथम प्रथम श० में कुषाण-साम्राज्य में चीनी-बन्धकों द्वारा परिचित कराए गए थे।[59] आड़ू मूलतः चीन का फल था। आज भी उत्तर-पश्चिम-भारत में आड़ू इसी नाम से प्रसिद्ध है।[60] सांची व भरहुत कला में इण्डो-ग्रीक-शासक द्वारा अंगूर की बेल पकड़ने का दृश्य है।[61] संभवतः अंगूर उत्तर-पश्चिम-भारत में होते थे।[62] फल अधिक पके अथवा कच्चे अथवा गले हुए नहीं खाए जाते थे। कन्द-मूल-फल ऋषियों का प्रमुख आहार था। फलों को प्राप्त करने हेतु लोग पर्वतों पर भी चढ़ जाते थे।[63] इसके अतिरिक्त बादाम, अखरोट, पिस्ते आदि सूखे फलों का भी प्रचलन था।[64]

माँस अतिपौष्टिक भोज्य-तत्व था। चरक ने तो माँस को सर्वाधिक पौष्टिक-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भोजन माना था। माँस का उपयोग कमजोर, अस्वस्थ, मदिरा-पान एवं शारीरिक-परिश्रम वालों के लिए सर्वोत्तम था।[65] मांस को प्रायः लोग स्वादपूर्वक खाते थे। माँसाहारी व्यक्ति दोनों प्रकार के भोजनों का रसास्वादन करते थे। सभी माँस भक्ष्य नहीं माने गए। पंतजलि ने मात्र 5-5 नाखूनों वाले पशुओं के माँस-भक्षण की अनुमति दी थी। याज्ञवल्क्य एव मनु ने भी इसका अनुमोदन करते हुए साही, खरगोश, सकूर, गोघा या गोह, गेंडा, कछुए के माँस को भक्षण योग्य स्वीकार किया। मनु ने घोड़े, ऊंट और गधे का माँस वर्जित माना था।[66] चूंकि संभवतः यह पशु भारतीय न थे। विदेशी-शासक अवश्य इन पशुओं से परिचित रहे। इनका आयात भारत में होता था।[67] महाभारत में उल्लेख आया है कि राजसूय-यज्ञ में विदेशियों द्वारा युधिष्ठिर को बड़े आकार के ऊँट दिए गए थे।[68] चरक ने बकरी, रोहित मछली, कछुआ, मृग, तोते, बटेर, तीतर, खरगोश, मोर, साही-मछली, कबूतर, गाय, सियार, चिड़ियों का माँस खाने योग्य माना था।[69] एक इतिहास-कार के मतानुसार गाय की दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी पवित्रता की मान्यता अधिक प्राचीन न थी वरन् यह धारणा विदेशी बर्बर-जातियों के आगमन के फलस्वरूप हिन्दू-समाज के पुनर्गठन के समय की होगी।[70] इसीलिए संहिताओं में गाय के माँस को लाभकारी माना था तथा खाने की सलाह दी थी। परन्तु वेदों में गाय को अहन्या कहा गया है। महाकाव्य युग में भी गाय को सर्वश्रेष्ठ व पूज्य माना गया। अतएव उपरोक्त कथन को बल नहीं मिलता है। ऐसे पशु-पक्षी जो शीघ्र शिकार हो जाते हैं, जो पृथ्वी में बिल बनाकर रहते हैं, जो दलदल में रहते हैं उनका माँस खाना उपयुक्त था।[71] माँस-भक्षण पशु-पक्षी एवं जलचरों का किया जाता था। पशुओं में मृग का माँस विशेष प्रचलित रहा।[72] इसके अलावा भेड़, बैल, सूअर आदि का माँस खाया जाता था। बैलों का वध गाँव के बाहर किया जाता था।[73] निश्चय ही यह बैल के माँस के सामाजिक-बहिष्कार का द्योतक था। जंगली सूअर और मुर्गे भक्ष्य माने गए थे जबकि गाँव के नहीं। अतएव शहर के सूअर व मुर्गे वध से बच जाते थे।[74] पक्षियों के माँस हेतु उन्हें जाल में फँसाया जाता था।[75] चरक ने भी इसका उल्लेख किया है।[76] पशु-पक्षियों के अतिरिक्त जल-जीवों में मछलियों का माँस-भक्ष्य माना गया। माँस खाने के पूर्व हड्डी आदि निकाल दी जाती थी।[77] मछली के साथ-साथ कछुए का माँस भी भक्ष्य था।[78] मनु ने मछली को निकृष्ट माना था एवं माँस भक्षक को सर्वमांसाद कहा। मात्र देव-यज्ञ व श्राद्धों में पाठीन, राजीव, रोहित, सिंह मुखा-कृति वाली मछलियों के माँस ग्रहण करने की अनुमति थी।[79]

महाभाष्य में अत्यधिक माँस-भक्षक को मापससिलाह कहा गया। एवं सारंग का माँस खाने वाले को सारंगजग्धी।[80] कच्चा माँस क्रव्य तथा भेड़ का माँस अवेरमामसाक वर्णित हुआ है। मोटी तह का माँस विशेष पसन्द किया जाता था।[81] माँसाहारी भोजन में प्याज का प्रचुर प्रयोग था। प्रतिदिन का माँस तो सामान्यतया चावल, शाक मिश्रित कर बनाया जाता था।[82] यद्यपि पका माँस, कीमा बनाया माँस, सीक पर भुना माँस, तेल व मक्खन में तला माँस स्वादिष्ट माना जाता था।[83] माँस अपथ्य होने के कारण शीतकाल में खाने की परामर्श थी चूंकि शीतकाल में पाचन भी अच्छा रहता है।[84] सुश्रुत में माँस के सन्दर्भ में कनिष्क-माँस का उल्लेख आता है। यह निश्चित रूप से माँस की विशिष्ट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खाद्य-वस्तु थी। जिसका प्रयोग कुषाण शासकीय वर्ग द्वारा किया जाता होगा।[85] तभी उसका नाम प्रमुख शासक कनिष्क के नाम पर कनिष्क-माँस रखा गया था।

State Museum Lucknow 7128

प्रचलित पेय-पदार्थ एवं तत्सम्बन्धी विचार

तत्कालीन समाज में भोज्य-पदार्थों की भाँति पेय-पदार्थ भी पर्याप्त महत्वपूर्ण माने गए थे। इनमें जल, दूध, फल-रस, दाल व सब्जियों के सूप तथा मादक-पेय आदि थे। सर्वप्रथम जल से सम्बन्धित वर्णन संहिताओं में विहित हैं।[86] निःसन्देह पौष्टिक पेय होने के कारण दूध की शाश्वत महत्ता रही। दूध स्वयं में पूर्ण भोजन था। चरक ने स्त्री, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हथिनी, मुर्गी, ऊँटनी आदि के दूध का उल्लेख किया है। इनमें से भैंस का दूध अच्छी पाचन शक्ति वालों के लिए उपयुक्त था।[87] याज्ञवल्क्य ने उपरोक्त सभी दूध पीने योग्य नहीं माने।[88] एवं गाय का दूध सर्वोत्तम तथा भेड़ का तत्वहीन स्वीकार किया। सुश्रुत-संहिता में कच्चे दूध को गरिष्ठ परन्तु पके दूध को लाभकारी माना था।[89] इसी प्रकार अत्यधिक पका दूध भी गरिष्ठ होता था।

प्रायः विभिन्न फलों के रस प्रचलित रहे। इनमें गन्ने का रस (इक्षुरस) प्रिय पेय था।[90] गन्ने अनेक प्रकार के होते थे। जिनमें वंशक नामक पतले गन्ने सर्वोत्तम थे। इसके अलावा पौण्ड्रक भी अच्छे माने जाते थे। आज की भाँति मशीन से निकाला रस स्वास्थ्य-प्रद नहीं माना जाता था। गन्ने द्वारा निर्मित फनित, गुड़, गुड़ शर्कर, शर्कर, खाण्ड आदि सभी का प्रचुर-प्रयोग था।[91] गर्मी में अनेक शीत-पेय प्रयुक्त होते थे जैसे गुड़ोदक। यह पानी व चाशनी द्वारा निर्मित था। पायस दूध और जौ (मथितम्) मथितिका नामक दुकानदार से प्राप्त होती थी।[92] पत्तों वाले शाक के सूप को खण्ड कहा गया था। यह सूप शक्तिदायक होता था। चावल का माढ़ (तण्डुलोदक) एवं शर्करासव[93] पान किया जाता था। चरक ने एक अन्य पेय का उल्लेख किया था। इसमें हरे आम को उबालने के बाद छिलका हटाकर चाशनी में आमरस मिला दिया जाता था एवं तेल में सौंठ, नमक और मिर्च डालकर पीने योग्य हो जाता था। हींग, जीरा एवं बिड-लवण द्वारा निर्मित माँस का सूप अति स्वादिष्ट पौष्टिक पेय था। इन पेयों के अतिरिक्त कतिपय चाशनी पाचन हेतु बनाई जाती थी। यह मीठी और खट्टी अंगूर, बेर, खजूर, मधु, गन्ने आदि के रस से बनती थी। कभी-कभी इसमें स्वाद के लिए मसाले भी मिश्रित किए आते थे। पेयों में सोमरस जितना अधिक प्रशंसनीय था सुरा उतनी दुर्गणी।[94] दिव्यावदान[95] में मादक-पेयों में सुरा, ताड़ी, (मैरेय) और मद्य विहित हुए हैं। पंतजलि ने सुरा, सुन्द एवं असूति मदिराओं का उल्लेख किया है। जो रीड़ के पाइप द्वारा पी जाती थी। अन्यत्र भी साहित्य व कला में मीठा (मधुर) एवं कठोर (तीक्ष्ण) दो पेयों का वर्णन मिलता है। सोमरस के अतिरिक्त मझदानम-पेय को अति तीक्ष्ण-पेय माना गया था।[96] मीठी मदिरा ससरकराम पनरसाम कहलाती थी।[97] तत्कालीन कला में पति-पत्नी द्वारा मनोरंजन हेतु मदिरा-पान के चित्रण प्राप्त होते हैं।[98]

प्रायः मादक-पेय जौ, चावल, चीनी, गन्ने के उबले एवं बिना उबले रस, गुड़ आदि द्वारा बनाया जाता था। यह पेय मधूक-पुष्प और मधु द्वारा भी निर्मित किए जाते

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे।[99] खजूर द्वारा निर्मित इन पेयों का उल्लेख सुश्रुत-संहिता में मिलता है।[100] यू-ची लोग अंगूर, फूल व पत्ते की मदिरा बनाने की कला में प्रवीण थे। धर्मग्रन्थ में वर्णित है कि मधूक-पुष्प, गन्ने के रस, कैथा, बैर, खजूर, अंगूर, मधु, नारियल आदि द्वारा निर्मित मदिरा ब्राह्मणों के लिए वर्जित थी।[101] इस पर इतिहासकार का मत है कि ये सभी मदिरा ब्राह्मणों के अतिरिक्त वर्णों में प्रचलित रही होगी।[102]

चिकित्सा-शास्त्रों में अतिअल्प निश्चित मात्रा में ली गई मदिरा शरीर में शक्ति-वर्धन हेतु आवश्यक मानी गई थी विशेषकर शीतकाल में। चरक का विश्वास था कि निर्धारित नियमित रूप से ली गई मदिरा व्यक्ति को प्रसन्नचित रखने, भोजन आदि पचाने, शारीरिक शक्ति तथा बौद्धिक-स्तर को विकसित करने में सहायक थी।[103] परन्तु मदिरा का अधिक प्रयोग ग्रीष्मकाल में सर्वथा वर्जित था।

वास्तव में कुषाण-शासक बर्बर जाति के थे। एवं ठंडे स्थान से आए थे अतएव उनमें मदिरा-पान का विशेष प्रचलन रहा। साहित्य में उल्लेख है कि हूण-शासक ने यू ची जाति के सरदार को मारकर उसके सिर का पान-पात्र बनाया।[104] जो उन बर्बर जातियों में निहित मदिरा-पान की प्रवृत्ति का द्योतक था। माधविका नामक मदिरा शक-भोजन का अत्यावश्यक अंग मानी जाती थी।[105] संहिताओं में वर्णित मदिरा-पान विषयक विवरणों से स्पष्ट है कि चरक व सुश्रुत कुषाण-शासकों से सम्बन्धित रहे थे। इसीलिए इन्होंने मदिरा को अत्यावश्यक माना एवं मदिरा की मात्रा व अनेक प्रकारों का भी उल्लेख किया।[106]

धर्मग्रन्थों में मदिरा-पान विषयक निम्न विचार व्यक्त किए गए थे। द्विज मोहवश मदिरा पीकर अग्नि के समान गर्म मदिरा को पीवे, उससे मुख के जलने पर मृत्यूपरान्त वह पापमुक्त हो जाता है। अथवा अग्नि के समान वर्ण वाले गोमूत्र, पानी, दूध, घी या गोबर के रस को मरने तक पीवे। अथवा बाल से बने वस्त्र को पहनकर जटाधारण कर, सुरापात्र के चिह्न को धारण मदिरा पीने वाला मनुष्य मदिरा पीने के दोष से छूटने के लिए एक वर्ष तक कण या खली को रात में एक बार खावे।[107] स्मृतियों में सुरापान करने वाली स्त्री को त्याज्य माना था। याज्ञवल्क्य का मत था कि सुरापान करने वाली स्त्री अगले जन्मों में कुत्ते, चील या सूअर की योनी पाती है।[108] ऐसा प्रतीत होता है कि ईसवी प्रारंभिक शताब्दियों में विदेशियों के बहुत संख्या में भारत-प्रवासी होने के परिणाम स्वरूप स्त्रियों में भी मदिरा-पान का प्रचार हो गया था जिसका दुष्प्रभाव परिवारों पर पड़ा। अतएव परिवारों की सुव्यवस्था को बनाए रखने के लिए धर्मग्रन्थकारों ने स्त्री मदिरा-पान सम्बन्धी उपरोक्त कठोर सिद्धान्त बनाए थे। राजाओं के दोषों में निकृष्टतम दोष मदिरा-पान था।[109] सुरा अन्नों का मल थी और पापी भी मल कहा गया था इस कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को सुरापान-निषेध था। सुरा गौड़, पेष्टी और माध्वी क्रमशः गुड़, आटे और मधूक-पुष्प से बनती थी। द्विजोत्तमों को सुरापान वर्जित था। मद्य, माँस, सुरा और आसव ये चारों यक्ष, राक्षस तथा पिशाचों के अन्न थे। अतएव देवताओं के हविष्य खाने वाले ब्राह्मणों को उनका पान मना था। ब्राह्मण के वर्जित व्यवसायों में सुरा-व्यवसाय भी था। मनु के कथनानुसार ब्राह्मण का शरीरस्थ-ब्रह्म एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बार भी मद्य से आप्लवित हो ब्राह्मणत्व नष्ट कर शूद्रत्व प्राप्त करता है।[110] कलाकृतियों में भी सुरा-पान के अनेक चित्रण हैं। यक्ष नशीले पेय-पदार्थ के विशेष शौकीन थे।

भोजन-सम्बन्धी नियम एवं शिष्टाचार

साधारणतया व्यक्तिमात्र से अपेक्षित था कि वह भोजन सम्बन्धी निर्धारित नियमों का पालन करेगा। अवदान-शतक में आहार-काल का उल्लेख है।[111] जिससे विदित होता है कि भिक्षु समय विशेष पर ही भोजन करते थे। दिव्यावदान में प्रातः के भोजन को पूर्वभक्षिका कहा गया था।[112] वात्स्यायन ने दिन के आठ प्रहर में दो प्रहर भोजन करना उपयुक्त माना था। सायंकाल का भोजन अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद होता था।[113] क्षुधा न लगने पर भोजन नहीं करना उत्तम था। भोजन अति प्रातः, सन्ध्याकाल एवं अर्धरात्रि में निषिद्ध था।

मनुस्मृति में विहित है कि हितकर भोजन आयु-हेतु पूर्व की ओर, यश-हेतु दक्षिण की ओर, धन-हेतु पश्चिम की ओर और सत्य-हेतु उत्तर की ओर मुखकर ग्रहण करना चाहिए। द्विज के भोजन में आचमन का विशेष महत्व था। भोजन के पूर्व एवं पश्चात् 3-3 बार आचमन का विधान था। भोजन के पूर्व किए गए आचमन में ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कण्ठ तक, वैश्य मुख तक तथा शूद्र ओठ-स्पर्श किए जल से शुद्ध होता था।[114] याज्ञवल्क्य ने आचमन हेतु 'आपोशन' शब्द प्रयुक्त किया था[115] भोजन के पूर्व हाथ-पैर धो लिए जाते थे। भोजन को प्रसन्नतापूर्वक गुणगान करते हुए ग्रहण करना आवश्यक था। क्योंकि ऐसा भोजन सामर्थ्य और वीर्य को देता है। तथा अपूजित-अन्न इन दोनों को नष्ट करता है।[116] पति-पत्नी एक साथ भोजन कर सकते थे अथवा नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न है? मनु इसकी अनुमति नहीं देते हैं जबकि याज्ञवल्क्य ने विवाह में सहभोज का समर्थन किया है।[117] भोजन करते समय जूता आदि पहनना वर्जित था। दूसरे का उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करना एवं अपना उच्छिष्ट-भोजन दूसरे को देना उचित नहीं माना जाता था। गर्म-भोजन शान्तिचित्त हो भोग किया जाता था। अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य के लिए अहितकर तथा लोक-निन्दित था[118] जल दोनों हाथ जोड़कर पीना निषिद्ध था।[119] भोजनोपरान्त सामान्यता पाचन-पेय लिया जाता था।[120] सुश्रुत-संहिता में पान के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। चरक भी ई० की प्रथम शताब्दी में पान के प्रयोग का समर्थन करते हैं।[121] एक विद्वान् के अनुसार भारतीयों को पान की इतनी अधिक आदत पड़ गई थी कि लोग पान की विदेशी-उत्पत्ति को भी विस्मृत कर चुके थे।[122] सामान्यतया इतिहासकार दक्षिण पूर्व-एशिया को इसका उत्पत्ति-स्थान मानते हैं[123] जब भारत के सांस्कृतिक-सम्बन्ध इस स्थान से हो गए तब पान का विशेष प्रचलन हुआ था।[124] चरक-संहिता में सिगरेट का विवरण भी मिला है। भोजन के तुरन्त बाद अधिक चलना, लम्बी वार्ता करना, गाना, सोना, पढ़ना और स्नान करना वर्जित था।[125]

पूर्वकाल में धारणा रही है कि देवता, पितर, अतिथि, कुत्ते, कौए आदि को संतुष्ट कर गृहस्थ जिस शेष अन्न को ग्रहण करता है वह सज्जनों का अन्न है परन्तु कुषाण-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाज में नवविवाहित-वधू अथवा पुत्री, अविवाहित-कन्या, रोगी, गर्भधारिणी-स्त्री इन्हें अतिथि से भी पूर्व भोजन कराना आवश्यक माना गया। घर आया अतिथि विशेष पूजनीय था। क्योंकि सम्यक रूप से धर्म-कृत्य करने वाला गृहस्थ के घर अपूजित-अतिथि समस्त पुण्यों का हरण कर लेता था। अतः अतिथि को आसन, पैर धोने-हेतु जल, सामर्थ्यानुसार-व्यंजनादि दिया जाता था। अतिथि समय अथवा असमय पर भी आने पर भोजनादि सत्कार का पात्र था। अन्न के अभाव में तृण, भूमि, जल और मधुर-वचन से उसे सन्तुष्ट करना श्रेष्ठ था क्योंकि उक्त वस्तुएं सज्जनों के घर में सदैव रहती थीं। अतिथि को नहीं खिलाया गया घी, दूध, मिठाई आदि स्वयं के लिए भी अभक्ष्य था। अतिथि-सत्कार में धन, आयु, यश तथा स्वर्ग प्राप्ति सम्भव थी। प्रायः ब्राह्मण के घर ब्राह्मण ही वास्तविक अतिथि था परन्तु अतिथि-धर्म से आने पर क्षत्रिय, वैश्य शूद्र भी ब्राह्मण-भोज के उपरान्त भोज के अधिकारी माने गए।[126]

ऋतुनुकूल भोज्य-पदार्थों को परिवर्तित करना आवश्यक था यथा-शीतकाल में पाचन-शक्ति अच्छी होने के कारण विविध जानवरों के मांस, चाशनी द्वारा निर्मित मादक-पेय, दूध की वस्तुएं, पशुओं का वसा और नया चावल आदि अपथ्य-पदार्थ लिए जा सकते थे परन्तु ग्रीष्म-काल में सरलता से पचने वाले पदार्थ मीठा दलिया, जंगली पशुओं के माँस, शुद्ध-मक्खन और चावल उपयुक्त माने गए। मदिरा में कम मादकता वाली मदिरा पी जाती थी। चरक संहिता में प्रस्तुत विषय का विस्तृत उल्लेख हुआ है। साथ ही यह भी निर्देश था कि जिसके शरीर को जो खाद्य-पदार्थ हितकर प्रतीत हों, उसी का सेवन करना चाहिए।[127] सामान्य नियम था कि मांसयुक्त भोजन के साथ दूध वाले पदार्थ न लिए जाए। सभी अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् भोजन आज्ञापित रहे जिनमें ब्रह्मचारी को एक ही भोज्य-पदार्थ सर्वदा देना वर्जित था अन्यथा ऐसी आदत हो जाने पर वह अन्य वस्तुओं को स्पर्श भी न करेगा। उसे मांस मदिरा से भी दूर रखा जाता था।[128] तत्कालीन समाज में ब्राह्मण आदि उच्च-वर्णों की पवित्रता को दृष्टिगत कर कतिपय भोज्यान्नों को अभक्ष्य माना गया था जिनका सम्पूर्ण विवरण स्मृतियों में विहित है।[129]

भोजन के कुछ शिष्टाचार भी थे जो प्रतिष्ठित-समाज में सामाजिक-सम्बन्धों को व्यवस्थित रखते थे।[130] इनमें निमन्त्रण देना एवं स्वीकार करना मुख्य था। व्यक्ति की महानता इसी में थी कि वह यथासम्भव दूसरे का भोजन न करे परन्तु आमन्त्रित करने पर तो जाना ही उचित था।[131] प्रायः अपने ही वर्णों में निमन्त्रण दिये जाते थे। कुछ श्राद्ध भोजनी-ब्राह्मण इन अन्तिम संस्कार आदि के भोजन को स्वीकार करते थे जबकि अन्य नहीं भी। हव्य-कव्य में निमन्त्रित ब्राह्मणी को न जाने पर पाप पड़ता था।[132] आमन्त्रण मित्रतावश बुलाने को कहते थे। सामान्य भोजन समास था। पृथक्-पृथक् अवसरों पर किसी विशेष खाद्य वस्तु का महत्व था यथा—वातकिनी पौर्णमासी के दिन वातक केक बनता था।

प्रसंगवश प्रतिदिन भोजन व पेय हेतु प्रयुक्त पात्रों का वर्णन करना उचित होगा। इनमें कटोरे नुमा पात्र कुण्डा[133], थाली स्थालिक, साधारण पात्र भोजनम्[134], धातु पात्र मंजूष लोही थे। घटा-कुम्भ पानी अथवा खाद्यान्न एकत्र करने के काम आते थे। कच्ची

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिट्टी के जार-आमकुम्भ[135] का भी कुम्भ जैसा प्रयोग था। चपटे पेंदे के पानपात्र और बड़े मुँह के चौड़े पर्त वाले जार जैसे प्रमुख कुषाण-पात्रों का प्रचलन रहा। मथुरा में भी इसी प्रकार के कटोरे का प्रयोग होता था।[136] मथुरा के एक उत्खनन में कुषाण-पर्त में सुन्दर एवं साधारण प्रकार के छींट वाले लाल पात्र, टोटी वाले कलश, हत्थे वाले प्याले आदि उपलब्ध हुए थे।[137] मथुरा की मूर्तियों में प्रदर्शित कुषाण-पात्रों में जल-जार, हल्की टोकरी, थाली, हण्डिया, पत्थर के पात्र, प्याले, मदिरा के प्याले आदि थे।[138] मथुरा के ही अन्य उत्खनन में एक प्रस्तर-निर्मित कटोरा 53 से० मी० बड़ा प्राप्त हुआ था ऊपरी सतह पर इसके कमल की पत्तियाँ बनी हैं। यह मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है।[139] इसके अतिरिक्त चित्रित पात्र चित्रपट तथा अन्य धातुओं स्वर्ण, रजत के भी पात्र थे।[140] घी पात्र धृतकुण्ड कहलाता था।[141] पात्र बनाने वालों का एक गण था। गन्धार कला में पीने हेतु तुरही, मदिरापात्र और जलपात्र के साथ-साथ कतिपय ग्रीक पात्र कन्थारोस (मदिरापात्र, दोनों ओर हत्थे थे)[142], क्रेटर (इसमें मदिरा सुरक्षित रखी जाती थी) थे जो सामान्यतया प्रयोग में नहीं लाये जाते थे अतः केवल उच्च-घरानों तक ही सीमित रहे।[143] भिक्षु मृणपात्र व लौह पात्र में भोजन करते थे। स्वर्ण एवं रजत पात्र उनके लिए न थे।[144] पात्र स्वच्छ रखे जाते थे। भग्न-पात्र भोजन हेतु प्रयुक्त नहीं थे।[145] सुश्रुत-संहिता में वर्णित है कि लोहे के पात्र में शुद्ध मक्खन, चाँदी के पात्र में मांस का सूप आदि पेय, पत्तों में फल व मिठाई, स्वर्ण-पात्र में भुना व तला मांस, पत्थर के पात्र में फलों के भोज्य-पदार्थ, ताम्बे के पात्र में गरम-दूध, मिट्टी के पात्र में जल, चाशनी व मादक-पेय तथा राग, सट्टक और सदाव काँच अथवा महंगे पत्थर के पात्र में दिये जाते थे।[146] कुछ वर्ष पूर्व चण्डीगढ़ से गुप्तकालीन-सामग्री के साथ कुषाण पतले मृद्-भाण्ड एवं लाल मिट्टी के कटोरे प्राप्त हुए थे। मथुरा-संग्राहलय के एक शीर्णपट्ट पर बिहार की भोजन-शाला का दृश्य है जिसमें बड़े पात्रों से कोई खाद्य-पदार्थ बड़े चमचे से निकाला जा रहा है तथा अन्य बड़े पात्र में दूध ठण्डा किया जा रहा है। कुछ भिक्षु भोजन ले जा रहे हैं और अन्य पात्र लिए भोजन के लिए पंक्ति में हैं। यह प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व का है।[147]

मिलिन्द पन्हों में भोजन बनाने वाले को सुदान्तेवासी लिखा है।[148] भोजन सम्बन्धी क्रियाएँ भल क्रिया कहलाती थी। भोजन बनाते समय आग को धीमी रखने पर खाद्य-पदार्थ स्वादिष्ट बनता था। भोजन में प्रत्येक वस्तु का मिश्रण स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर किया जाता था। प्रायः मसाले युक्त पदार्थ से बिना मसाले का भोजन अधिक सरलता से पच जाता था। भुनी वस्तुएँ अधिक स्वास्थ्यप्रद एवं पथ्य थीं अपितु तली हुई।[149]

ऊपर वर्णित भोज्य-पदार्थ तथा तत्सम्बन्धी नियम सामान्य गृहस्थों के लिए थे परन्तु जैन मांस, मदिरा, मधु, सौंठ, मक्खन, दही, फल आदि नहीं खाते थे क्योंकि इनमें अनेक जीव होते हैं और इसीलिए वह भोजन भी दिन छिपने के पूर्व ही कर लेते थे। समाज में स्वास्थ्य-हेतु व्रत[150], उपोस्थ[151] की आवश्यकता स्वीकार की गयी थी। यद्यपि व्रत का धार्मिक महत्व भी कम न था। सूर्य का व्रत आदित्यव्रत किया जाता था।[152] व्रत में लोग जल पीकर (अवभक्ष) अथवा बिना जल पीए ही (वायुभक्ष) दिन व्यतीत करते थे।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निष्कर्ष

तत्कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जैसा कि सर्वविदित है कुषाण-शासक भ्रमणशील असभ्य जाति एवं ठण्डी जल-वायु वाले देश के मूल-प्रवासी थे। अतएव उनका मुख्याहार माँस-मदिरा व प्राप्त जंगली कन्द, मूल, फल रहा। परन्तु भारत में स्थाई निवास एवं प्रचलित अहिंसात्मक बौद्ध व जैन धर्मों से सामंजस्य स्थापित हो जाने का उनका भक्षाभक्ष्य प्रवृत्ति पर निःसन्देह प्रभाव पड़ा। वैदिक और शुंग काल में माँस-मदिरा को कतिपय अवसरों पर उचित एवं आवश्यक स्वीकार किया गया था परन्तु बौद्ध व जैन धर्म के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप माँस-भक्षण का धार्मिक महत्व समाप्त प्राय हो गया था। अतएव भोजन में अन्न, शाक, दूध निर्मित खाद्य, फलादि वस्तुओं का अधिकाधिक प्रचलन हुआ तथा भोजन में स्वास्थ्य एवं स्वच्छता को बल मिला। इस प्रसंग में कुषाण शासकों की प्रशंसा करनी होगी। उन्होंने पूर्णतः भिन्न भारतीय संस्कृति में स्वयं को आत्मसात् कर लिया था एवं प्रचलित बौद्ध व जैन धर्म द्वारा मान्य अहिंसा के महत्व को हृदयंगम किया था। फलतः समाज के उच्च वर्णों में माँस मदिरा लगभग समाप्त हो गयी थी केवल निम्न वर्णों में कतिपय उत्सवों पर ही इसका प्रचलन शेष रह गया था।

वस्तुतः भोजन का अभिप्राय मात्र क्षुधा-शान्त करना न था अपितु इसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति के शरीर एवं मन पर पड़ता था। प्रायः धारणा थी कि नियमानुसार ग्रहण किया गया सात्विक भोजन सात्विक विचारों को उत्पन्न करता है राजसिक एवं तामसिक विचारों को नहीं। उपवासों की सार्थकता भी इसी सन्दर्भ में मान्य रही। सात्विक विचारों की अभिव्यक्ति व्यक्ति के सुन्दर, सरल शान्त, सुव्यवस्थित व्यक्तित्व द्वारा स्वतः हो जाती थी। स्पष्ट है कि भोजन का शरीर हेतु वैज्ञानिक महत्व तो था ही साथ ही आध्यात्मिक महत्व भी कम न था। अतएव कुषाण काल में स्वास्थ्य व शुद्धता को दृष्टिगत कर कतिपय योग्य पदार्थों एवं माँस मदिरा को द्विजों हेतु ग्राह्य नहीं स्वीकार किया गया था। यह निःसन्देह इस युग की विशेषता थी।

सन्दर्भ

1. सौ०, 14।9, 12, 15
2. चरक०, 5।8, 25।31
3. वही, 1।65
4. सुश्रुत०, 46।426-7
5. महाभा०, 2, 1, 69, 406
6. चरक०, 27।8, 11
7. सौ०, 1।10
8. मंजुश्री०, 1।47।22
9. दिव्या, 74।24, 435।1
10. महाभा०, 4, 1, 27, 223;5, 1, 93, 360

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

11. चरक०, 27।8
12. सुश्रुत०, 46।12
13. चरक०, 27।13
14. मंजुश्री०, 2।31।5।3, 5
15. दिव्या०, 233।22
16. चरक०, 27।256
17. सुश्रुत०, 46।21
18. संकालिया, एच० डी०, प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० 200
19. मार्शल, जे०, मोहनजोदाड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन्स, 1, पृ० 27
20. रे, जे० सी०, मैन इन इण्डिया, 13, पृ० 220
20A. दिव्या० 184।10-11
21. सुश्रुत०, 46।27; 332
22. सौ०, 13।15; 1।12
23. दिव्या, 436।25-6; 184।10; 297।14
24. चरक०, 27।88-124
25. सुश्रुत०, 46।297
26. एपि० इन०, 21, 10, 55-61
27. दिव्या०, 264।9-10
28. विलियम, एम० एम०, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 551
29. म० भा०, 13।91।38
30. सांकृतायन, आर०, मध्य-भारत का इतिहास, पृ० 66।68
31. स्मिथ अ० हिस० इन०, पृ० 297, पाद-टिप्पणी 1
32. महाव०, 2।475
33. सद्रधर्म०, 4।78
34 चरक०, 27।164-75; 27।294-7, 299
35. सुश्रुत०, 46।130
36. दिव्या०, 1।25-6, 62।26
37. चरक०, 27।260-67
38. महाभा०, 1, 1, 57, 149
39. काम०, 4।1।37-8
40. मिश्रा, आर० एन०, यक्षकल्ट एण्ड आइकोनोग्रेफी, पृ० 97-103
41. दिव्या०, 2।14
42. सुश्रुत०, 45।67, 80, 93, 107
43. चरक०, 27।242-4
44. दिव्या०, 368।27, 31; 18।2-6
45. सुश्रुत०, 46।392

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

46. ललित०, 5।40
47. मंजुश्री०, 1।48
48. महाभा०, 1, 1, 1, 38
49. सुश्रुत०, 46।401, 4; 46।384,92; 27।233
50. मनु०, 5।25
51. महाव०, 2।451-75
52. चरक०, 27।125-65
53. वाट डि० इको० प्रो० इन०, 2, पृ० 336
54. चरक०, 27।125-65
55. वाट डि० इको० प्रो० एन०, 6, पृ० 345
56. सुश्रुत०, 46।336
57. वाट डि० इको० प्रो० इन०, 6 पृ० 369
58. प्रकाश, ओ०, फूड एन्ड ड्रिंक्स इन एंशियन्ट इन्डिया, पृ० 73
59. वाटर्स, टी०, आन यानचाग ट्रेवेल्स इन इन्डिया, 1, पृ० 179 और 292-3
60. आर० स० इन० एनु० रि०, 14 पृ० 54
61. कनिंघम, ए०, दि स्तूप ऑफ भरहुत, पृ० 32-3
62. प्रकाश, ओ०, वही, पृ० 149
63. अवदान०, 2।176।6
64. सुश्रुत०, 46।187
65. चरक०, 27।86-87
66. मनु०, 5।11, 18
67. पिगट, एस०, प्रीहिस्टारिक इन्डिया, पृ० 156-7
68. म० भा०, 2।47।4
69. चरक०, 25।38
70. थपलियाल, एग्री एन० इन०, पृ० 136
71. जरक०, 27।35-87
72. सद्धर्म०, 13।180
73. दिव्या, 6।11-2; 85।8-10
74. महाभा०, 7, 3, 14, 320
75. सौ०, 8।16
76. चरक०, 27।72-82
77. महाभा०, 1, 2, 39, 912
78. दिव्या०, 380।11
79. मनु०, 5।15-6
80. महाभा०, 3, 2, 1, 95;2, 2, 36, 437
81. वही, 3, 2, 69, 108;8, 4, 16, 458

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

82. चरक०, 27।266
83. सुश्रुत०, 46।356-7
84. चरक०, 6।11-2
85. ज० एशि० सो०, 1969, पृ० 121
86. चरक०, 27।213-4
87. सुश्रुत०, 45।47-55
88. याज्ञ०, 1।170
89. सुश्रुत०, 45।50,4; 45।61-3
90. अवदान०, 42।244।8, 11
91. सुश्रुत०, 45।149-50; 45।158
92. महाभा०, 1, 4, 3, 310
93. दिव्या०, 387।25
94. अग्निहोत्री, एस० प्राचीन भारतीयों के खानपान-संबंधी आचार-विचार पृ० 185
95. दिव्या०, 387।25
96. मिलिन्द०, 278
97. ललित०, 15।214
98. मार्शल तक्ष० गा०, चि० 49-51
99. चरक०, 27।183-88
100. सुश्रुत०, 45।174
101. विष्णुधर्म सूत्र, 22।83-4
102. प्रकाश, ओ०, वही, पृ० 152-3
103. चरक०, 27।191-3
104. मजूमदार ए० इम० यू०, पृ० 136
105. चरक०, 27।316
106. सुश्रुत०, 45।170-216
107, मनु०, 11।90
108. याज्ञ०, 3।256
109. मनु०, 7।47-52
110. मनु० 11।93-7
111. अवदान०, 37।209।9
112. दिव्या०, 185।22
113. काम०, 4।1।19-20
114. मनु०, 2।52-3; 2।62
115. याज्ञ०, 1।106
116. मनु०, 2।54-5
117. याज्ञ०, 1।131

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

118. मनु०, 2।57
119. याज्ञ०, 1।138
120. सुश्रुत०, 46।279-80
121. चरक०, 5।279; 5।76-7
122. थपलियाल, फा० एली० एन० इन० सो०, पृ० 99
123. गौडे, पी० के०, स्टडीज़ इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, 1 पृ० 130
124. काणे, पी० वी०, वही, 734
125. सुश्रुत०, 46।493-6
126. मनु०, 3।99-101, 105-6, 110-3, 237
127. चरक०, 6।10, 2-3, 17, 49; 5।6-7
128 याज्ञ०, 1।32-3
129. वही, 1।167-80
130. पुरी, इन० टा० पंत०, पृ० 99
131. याज्ञ०, 1।113
132. महाभा०, 8,1,14,370; 3,1,161,165
133. दिव्या०, 76।22
134. सद्धर्म०, 23।43; 18।37
135. ललित०, 8।118; 12।175; 12।158-9
136. ज० यू० पी० हि० सो०, 15, पृ० 1
137. ज० इन० सो० ओरि० आ०, 8, पृ० 25
138. स्मिथ, जे० स्तू० म०, प्लेट 33, नं० 1-2
139. दि पाय०, 1980,21 अप्रैल, पृ० 4
140. ललित०, 15।207; 5।41
141. महाव०, 3।442
142. मार्शल, बु० आ० ग०, चि० 29,41,49-50
143. पुरी, इन० अन० कुषाण, पृ० 99
144. दिव्या०, 23।13; 28।12-3
145. मनु०, 4।65
146. सुश्रुत०, 46।455
147. रा० स० म० स०, एम० 1
148. मिलिन्द०, 63
149. चरक०, 27।257; 272
150. ललित०, 12।151
151. मिलिन्द०, 204-6
152. महाभा०, 1,2,54; 246

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

10

वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास

वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास सामान्यतया सभ्यता व संस्कृति के विकास के परिचायक हैं। असभ्य प्राचीन-मानव निर्वस्त्र, आभूषण एवं केश-सज्जा विहीन ही रहते थे। सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्ति को वस्त्रादि की आवश्यकता ज्ञात हुई। अतएव उसने इनका उपयोग मात्र आवश्यकता की दृष्टि से आरम्भ किया परन्तु शनैः-शनैः आवश्यकता के अतिरिक्त अलंकरण हेतु भी इनका उपयोग होने लगा।

कुषाण-कालीन वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास विषय का अध्ययन विशेष आकर्षक है। चूंकि सर्वप्रथम इसी युग में भारतीय-वेशभूषा पर विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कुषाण वस्त्राभूषण एवं केश-सज्जा से व्यक्ति का सामाजिक स्तर, आर्थिक-दशा, रुचि एवं कलात्मकता का स्वतः दिग्दर्शन हो जाता है। इस सम्बन्ध में तत्कालीन पुरातात्त्विक-स्रोतों द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कुषाण-कालीन गन्धार एवं मथुरा कलाकृतियों व मुद्राओं में इनका स्पष्ट अंकन हुआ है जिसका समर्थन साहित्य द्वारा भी हो जाता है। प्रसंगवश वस्त्र, आभूषण एवं केश-सज्जा का पृथक्-पृथक् विश्लेषण प्रस्तुत है।

वस्त्र

आज की भाँति कुषाण-समाज में वस्त्र सूती, ऊनी, रेशमी आदि प्रयुक्त होते थे। इनमें सर्वाधिक प्रचलन सूती-वस्त्र का था। मनुस्मृति में सूती-वस्त्र के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि उस समय तक सूती-वस्त्र का आविष्कार हो चुका था।[1] दिव्यावदान में कपास के लहलहाते खेतों का विवरण है। कपास की बहुलता के कारण यह कहा जाता था कि देवता कपास की वर्षा करते हैं।[2] कपास का पतला स्वच्छ सूत कात लिया जाता था।[3] इससे वस्त्र बनते थे। वस्त्र बनाने वाले बुनकरों की अपनी श्रेणियाँ होती थीं।[4] यह अत्यधिक समृद्धशाली हो गई थी जिससे निःसन्देह वस्त्रोद्योग का उच्च स्वरूप स्पष्ट होता है।[5] उल्लेख है कि कपास का क्रय-विक्रय गलियों में भी होता था।

सूती-वस्त्र के साथ-साथ रेशमी-वस्त्र भी धारण किए जाते रहे। पट्टाशुंक, चीन, कौशेय और धौत-पट्ट शब्द दिव्यावदान में रेशमी-वस्त्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[6] सम्भवतः यह बनावट एवं नक्काशियों के आधार पर परस्पर पृथक् किए जाते होंगे यथा—श्वेत सादा रेशमी-वस्त्र पट्टाशुंक, चीन में निर्मित रेशमी-वस्त्र चीन, शहतूत की पत्ती खाकर कोश बनाने वाले कीड़ों के रेशम से निर्मित वस्त्र कौशेय तथा धौतपट्ट खारे हुए रेशम से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बने वस्त्र को कहते थे। इतिहासकार मोतीचन्द के विचार से कौशेय-वस्त्र चीन से भी आता था।[7] महावस्तु से कौशाविक श्रेणियों द्वारा रेशमी-वस्त्रों के उद्योग का परिचय मिलता है। इन कौशाविक श्रेणियों द्वारा निर्मित नक्काशीदार रेशमी-वस्त्र कोशिकारक कहलाते थे।[8] काशी वस्त्रोद्योग का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ के रेशमी-वस्त्र अधिक प्रसिद्ध थे। ललित-विस्तर में विचित्र पटोलक[9] अथवा नक्काशीदार रेशमी-वस्त्र का उल्लेख है। वार्मिंग्टन जी ने रेशमी-वस्त्रों के निर्यात पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि बारबरिकौन-बन्दरगाह से सिन्ध नदी पर रेशम का निर्यात होता था और भड़ौच में रेशम तथा कीमती रेशमी वस्त्र सिन्ध से बल्ख के रास्ते होते हुए भेजे जाते थे।[10] चीन से भारत रेशम का आयात ब्रह्मपुत्र की घाटी, असम और पूर्वी-बंगाल के मार्ग से ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में होता था।[11] चीनपट्ट के अतिरिक्त भारत के बने रेशमी वस्त्र भी शायद ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में रोम पहुँच चुके थे।

सामान्यतया ऊनी वस्त्र का तात्पर्य कम्बल से था। दिव्यावदान में ऊनी वस्त्र का नाम दूश्य विहित है। यह भी वर्णित है कि उर्ण व दुकूल के रेशों से उत्तम वस्त्र निर्मित किए जाते थे।[12] ऊनी वस्त्र कभी-कभी अत्यधिक पतला होता था। साधारण बाल और ऊँट के बाल से निर्मित कम्बलों का भी व्यापार होता था। ऊनी वस्त्र निर्माताओं की निजी श्रेणियाँ थीं।[13] एशिया में काश्मीर, भूटान, तिब्बत और उत्तरी हिमालय के ऊनों में बकरे के रोएँ का ऊन अधिक प्रिय रहा। इसे पश्म कहा गया। इतिहास में विवरण आता है कि रोम के बादशाह ने एक लाल रंग का पश्मीने का रुमाल भेजा था। वार्मिंग्टन जी का विश्वास है कि वह भारत में निर्मित हुआ था।[14] इसी ग्रन्थ में वर्णित है कि मारोको-कोरम भारत के उत्तरी-पश्चिमी बन्दरगाहों से लाया गया पश्म था जो मिश्र देश में निर्मित होता था। यदि मारोकोकोरम को काराकोरम मान लिया जाए जहाँ से अद्यवधि सबसे अच्छा पश्म आता है तो स्पष्ट हो जाएगा कि (पामीर) काराकोरम प्रारम्भ से ही पश्म के लिए प्रख्यात रहा है।[15] वर्णनीय है भारतीय रंगीन-पश्म का निर्यात नहीं होता था इसीलिए आरोलियन एवं उसके पर्वतीय राजाओं को लाल पश्म देखकर महान् आश्चर्य हुआ था।

जैसा कि सर्वविदित है काशी वस्त्र निर्माण का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ निर्मित वस्त्र दिव्यावदान में काशिक वस्त्र, काशी, काशिकांसु नाम से अभिहित हुए हैं।[16] चूंकि काशी आजकल रेशम वस्त्र के लिए प्रसिद्ध है अतएव काशिक वस्त्र का तात्पर्य भी रेशमी वस्त्र से लिया जाता है। वास्तव में प्राचीनकाल में काशी के आसपास कपास बहुतायत में होती थी। अतएव काशिक वस्त्र को सूती वस्त्र मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

भारतीय मलमल का विदेश में विशेष आकर्षण रहा। काशी कीमती मलमल का भी केन्द्र था। मलमल रोम में अधिक पसन्द की जाती थी। उन्होंने भारतीय मलमल का नाम 'विन्ड्स टेक्स्टाइल्स' अर्थात् हवा की तरह का वस्त्र रखा था। अन्यथा भी भारतीय सादे व रंगीन वस्त्रों का रोम में सर्वाधिक महत्त्व रहा। इतिहासकार वार्मिंगटन के अनु-सार कुषाणकालीन भारतीय वस्त्र अन्य देशों की अपेक्षाकृत अधिक मुलायम, हल्के, श्वेत एवं चमकीले होते थे।[17] सबसे अच्छी मलमल को 'सगमतोगेने' कहा जाता था। त्रिचना-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पल्ली और तंजौर में आर्गरितिक नामक मलमल बनती थी। मसालिया (आधुनिक मसुलिपतन) भी मलमल का केन्द्र था। सर्वश्रेष्ठ मलमल ढाका में निर्मित होती थी जो गैंजेटिक नाम से विख्यात रही।[18]

संस्कृत बौद्ध साहित्य में सूती, रेशमी, ऊनी एवं पश्मीने के अतिरिक्त निम्न वस्त्रों का भी उल्लेख हुआ है—

पुष्पपट्ट—जैसा कि शब्द से स्पष्ट है अर्थात् फूलदार वस्त्र। यह फूल बिने हुए, छपे हुए एवं कसीदा किए हुए होते थे।[19]

फुट्टक—यदि फुट्टक को छींट का कपड़ा मान लिया जाए तो दिव्यावदान में विहित है कि सोपारा में मात्र इसी प्रकार के कपड़ों का विक्रय होता था।[20]

फलक—ललित विस्तर में फलक को किसी फल के रेशों से निर्मित वस्त्र माना था।[21]

उपरान्तक—वस्त्र का दिव्यावदान में उल्लेख हुआ है। यह सम्भवतः कोंकण में निर्मित सूती अथवा रेशमी वस्त्र था।[22]

शण—दिव्यावदान में सन द्वारा निर्मित (शण-शाटिका) लम्बी साड़ियों का वर्णन है। सम्भवतः गरीब किसान इनका प्रयोग करते थे।

पांडुदुकूल का अभिप्राय ललित-विस्तर में दुकूल के रेशों से निर्मित श्वेत वस्त्र से था।[23] एक विद्वान् ने अपने विस्तृत विवरण में दुकूल को कीमती एवं संभ्रान्त वस्त्र स्वीकार किया है।[24]

दिव्यावदान में क्षौम अथवा तीसी के छाल के रेशों से निर्मित वस्त्रों का विशेष प्रचलन वर्णित है।[25]

हिरि वस्त्र—सुनहरे वस्त्र के लिए हर्यणी अथवा हिरिवस्त्र[26] का उल्लेख मिलता है।

सर्वसाधारण से भिन्न साधु-संन्यासी फलक, वल्कल, मूंज, दर्भ, वल्वज के बने वस्त्र तथा ऊँट, बकरे और मनुष्य के बालों से निर्मित कम्बल धारण करते थे।[27] श्याम मृग-चर्म (अजिन) तथा वल्कल ही उनके पवित्र वस्त्र थे।[28] अतएव उन्हें अजिनवल्कलवासी तथा दाखचीरवासा कहा गया।[29] चमड़े और समूरों का उद्योग भारत एवं रोम में उन्नत रहा। वैसे तो वैदिककाल से ही चर्म वस्त्र-हेतु उपयोगी था। सर्वप्रथम कुषाणों के आगमन के पश्चात् चर्म का विविध रूपों में प्रयोग किया जाने लगा था। भारतीय आरम्भिक आलेखी-कला में जूते और कमरबन्ध में चर्म का प्रयोग पूर्णतः विदेशियों के सन्दर्भ में वर्णित है। प्लीनी के अनुसार रोम में चीनी; लोहा, सूत और चमड़ा बाहर से आता था। पेरिप्लूस का मत है कि चीनी, चमड़े और समूरों का निर्यात सिन्ध-नदी पर स्थित बारबरिकोन-बन्दरगाह से होता था।[30]

प्रायः श्वेत-वस्त्र (शुक्ल-वस्त्र) अधिक प्रचलित था। वैसे लाल, नीले, पीले, हरे, लोह काले तथा मजीठिया आदि रंग भी प्रमुख रहे।[31] संन्यासी केवल काषाय वस्त्र धारण करते थे।[32] जबकि समाज के शौकीनजन शासकों के वेश में रहते थे। महावस्तु में विहित है कि उच्च-कुलों की स्त्रियाँ लाल-चादर ओढ़ती थीं।[33] इसका समर्थन सौन्दरनन्द में भी हुआ है। उल्लेख है समृद्धशाली कुलों की स्त्रियाँ कमल के समान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाल-वस्त्र धारण करती थीं।[34] वस्त्रों का प्रयोग संगति व साम्यता अनुरूप होता था।[35]

जनसाधारण वस्त्र रंगने की कला से अनभिज्ञ न था। महावस्तु में रंगने वाले रजकों का उल्लेख हुआ है।[36] शाकल नामक काला चिपचिपा रंग-द्रव्य वस्त्र रंगने के काम लाया जाता था। अधिकांशतः पगड़ी लाल रंगी जाती थी।[37] दिव्यावदान में वस्त्र-विषयक विस्तृत चर्चा मिलती है। नवीन वस्त्र 'अहत,' पुरातन वस्त्र 'अनाहत' तथा साधारण वस्त्र 'सुस्तवस्त्र' कहा जाता था।[38] मनु ने किसी दूसरे का पहना वस्त्र त्याज्य माना था।

इतिहासकार पुरी के विचार से भारतीय कलात्मक-भूमिका में विदेशी सांस्कृतिक और सौन्दर्य-विषयक सिद्धान्तों के प्रवेश से परस्पर कतिपय प्रभावित होना आवश्यक था।[39] कुषाण-युग गन्धार एवं मथुरा कलाओं के लिए विशेष प्रसिद्ध है। मथुरा और गन्धार कुषाण-शासन के प्रमुख-केन्द्र भी थे। अतः यहाँ विकसित कलाएँ स्थान-विशेष के नाम से अभिहित रही। जैसा कि नाम से विदित होता है कि मथुरा-कला भारतीय-प्रभाव एवं गन्धार-कला विदेशी प्रभाव को सूचित करती हैं। कुषाण-वेशभूषा के सन्दर्भ में सम-कालिक दोनों कलाओं का अद्वितीय-योगदान रहा जो कि तत्कालीन मूर्ति-कला एवं मुद्राओं में प्रदर्शित है। प्रायः वस्त्र शारीरिक व सामाजिक आवश्यकता तथा जलवायु-अनुरूप धारण किए जाते थे।

कुषाण-जाति के अधिक संख्या में भारत-आगमन, राजनैतिक-प्रभुत्व एवं आकर्षक देश-परिधान से भारत का वेश-परिधान सम्बन्धी सामान्य स्वरूप प्रभावित हुआ था।[40] और यह विदेशी-वेश दक्षिण भारत तक पहुँच गया था।[41] सम्भवतः प्रतिकूल जलवायु के कारण वहाँ प्रचलित न हो सका। इतिहासकार थपलियाल[42] ने भारतीय-वेश के कुषाण-वेश से प्रभावित होने के निम्न तीन कारण बताए हैं—

(क) कुषाण-वस्त्र सिले, शरीर से कसे एवं आकर्षक प्रतीत होते थे।

(ख) कुषाण-प्रभुता भारत में स्थापित हो जाने पर कुषाण-शासकों का विश्वास प्राप्त करने हेतु उनके रहन-सहन से आकृष्ट हो वेश-परिधान के अनुकरण करने के कारण।

(ग) कुषाण-कालीन भारत विश्व-विख्यात था अतः कोट-पैन्ट का प्रचलन विशेष हुआ था। साथ ही यह सुविधा आदि की दृष्टि से भी उपयुक्त माना गया।

वस्तुतः कुषाण-शासक एक ठण्डे स्थान के प्रवासी एवं सैनिक-वर्ग के होने के कारण ट्यूनिक, कंचुक, पतलून एवं बूट आदि धारण करते रहे।[43] गन्धार-कला में हमें इस कुषाण-वेश का अंकन मिलता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में अधिकांशतः स्कर्ट, ट्यूनिक, मैक्सी, ब्लाउज या जैकेट, लहंगा आदि वस्त्रों के दर्शन होते हैं। चूंकि कुषाण-शासन में मथुरा का गन्धार से सीधा सम्पर्क स्थापित रहा अतएव गन्धार-कला में हमें भारतीय-वेश भी दृष्टि-गोचर होता है। अर्थात् गन्धार-कला पर मथुरा-कला की स्पष्ट छाप है। ठीक इसी प्रकार मथुरा-कला में विशुद्ध-भारतीय-वेश, जिसमें स्त्रियाँ धोती-दुपट्टा आदि धारण करती थीं एवं पुरुष धोती, दुपट्टा व कमरबन्द, के साथ-साथ कुषाण-वेश का भी चित्रण है। कुषाण-वेशभूषा का भारतीय-वेशभूषा पर जो प्रभाव पड़ा उससे स्पष्ट है कि कुषाण-शासकों ने न केवल भारतीय-संस्कृति का अनुकरण किया वरन् बहुत कुछ भारतीय-संस्कृति को योग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दान भी दिया।[44]

भारतीय एवं कुषाण वेशभूषा में एक मूल भिन्नता वस्त्रों के स्वरूप में यह थी कि भारतीय ढीले, बिना सिले एवं कम वस्त्र पहनते थे।[45] जो यहाँ की गर्म-जलवायु अनुरूप थे। जबकि कुषाण ठंडी जलवायु के होने के कारण शरीर को वस्त्रों से पूर्णतः आवृत रखते थे। इनके वस्त्र शरीर से चिपटे होते थे। वह कटे व सिले वस्त्र पहनते थे।[46] निःसन्देह यह वस्त्र युद्ध आदि की दृष्टि से भी सुविधाजनक थे। वैसे भारत में वस्त्र सिलने की कला वैदिक-काल से विद्यमान रही है। पतंजलि भी अति महीन सूई का उल्लेख करते हैं।[47] बाशम महोदय इसका अनुमोदन कर लिखते हैं कि भारतीय स्त्रियाँ जैकेट व कंचुक भी पहनती थीं।[48] प्रथम शताब्दी के बाद कुषाण-सभ्यता से पूर्णतः प्रभावित भारत में कटे व सिले वस्त्रों का विशेष-प्रचलन हुआ जो गुप्तकाल के आरम्भ तक रहा।[49]

मथुरा में सामान्यतया पुरुष सकच्छ धोती, कन्धों पर पड़ा दुपट्टा व ढीला कमर-बन्द धारण करते थे। समाज का श्रमिक-वर्ग धोती एवं कमरबन्द अथवा कसी आधी-पेन्ट पहनता था।[50] स्त्रियाँ कमर से नीचे तक लटकती धोती पहनती थीं जिस पर दुपट्टा दोनों कन्धों को ढकता हुआ आगे गिरता था। कभी-कभी यह दुपट्टा इस प्रकार कन्धे पर न डालकर उसे बटकर कमर पर बाँध लिया जाता था। यह अधिक सुन्दर प्रतीत होता था।

अब प्रत्येक वस्त्र के विविध स्वरूपों का संक्षिप्त विवरण देना उचित होगा।

मथुरा-कला में प्रदर्शित पुरुष-वस्त्र

धोती—धोती नीचे का वस्त्र होने के कारण अधोवस्त्र कहा गया। यह भारतीय स्त्री-पुरुषों का सर्वाधिक प्रचलित वस्त्र था जिसे पहनने का तरीका अवश्य पृथक्-पृथक् था। पुरुष प्रायः धोती को बीच से कमर के चारों ओर कसकर बाँधते थे। अथवा लूप बनाते हुए बाएँ ओर अटका देते थे।[51] धोती पहनने का यह प्रकार सकच्छ कहलाया।[52] चूँकि धोती का एक छोर पैरों के मध्य से जाता हुआ धोती को कच्छे का रूप देता था। धोती की चौड़ाई कम होने पर तो वास्तव मे धोती केवल घुटने के ऊपर तक सीमित कच्छा प्रतीत होती थी। धोती पहनने का अन्य प्रकार भी था जिसमें स्त्रियों की भाँति एक किनारे से धोती को कमर में बाँध लिया जाता था। धोती का दूसरा लम्बा छोर कमर बन्ध में से होता हुआ बाएँ कन्धे पर से लटकता था यह देखने में विशेष कलात्मक लगता था।[53] कभी-कभी धोती का दूसरा छोर उर्ध्वभाग को ढकता हुआ प्रदर्शित है।[54]

दुपट्टा—दुपट्टा ऊपर के वस्त्र रूप में प्रयुक्त उत्तरीय कहलाया।[55] दिव्यावदान में उत्तरीय-वस्त्र के लिए 'उपरिप्रावरण' शब्द आया है।[56] प्रायः दुपट्टा श्वेत वर्ण का होता था।[57] कुषाण-कालीन दुपट्टा पूर्व-काल की अपेक्षा अधिक लम्बा एवं चौड़ा होता था जिसमें बड़ी-बड़ी गाँठ पड़ती थी। उसे कई बार बट कर तथा बड़े लूप देकर पहना जाता था। दुपट्टा पहनने के विविध प्रकार थे यथा—दुपट्टा बाएँ कन्धे को ढकता हुआ पीछे एक बड़ा लूप बनाकर दाएँ घुटने के नीचे से होता हुआ बाएँ हाथ में आकर शेष-भाग लटकता रहता था। इस विधि में सामने का सम्पूर्ण भाग खुला रहता था।[58] यह हाथी की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूँडवत प्रतिभासित होता था। अथवा दुपट्टा कमर पर बाँध लिया जाता था। जिसमें दाएँ अथवा बाएँ ओर एक झब्बेदार गाँठ या लटकता हुआ बड़ा लूप बनाकर शेष-वस्त्र को लटकने दिया जाता था।[59] अथवा दुपट्टा कमर के चारों ओर बाँधा जाता था जिसमें दाएँ तरफ दो लूप तथा बाएँ ओर एक झब्बेदार गाँठ होती थी। अथवा दुपट्टे के दोनों किनारे सामने लाकर घुटने के ऊपर ढीली गाँठ बाँधी जाती थी। अथवा दुपट्टे को खोल कर शरीर के ऊपरी भाग पर ओढ़ा जाता था ताकि केवल कन्धे व हाथ के आगे का भाग ही दिखता था।[60] अवदान-शतक में ऊर्ध्ववस्त्र रूप में शटक-वस्त्र (ढीला कुर्ता) वर्णित है।[61] यद्यपि इसका अधिक प्रचलन न था।

कमर-बन्ध—कमरबन्ध को काया-बन्धन अथवा मेखला भी कहा गया था। यह कमर में बाँधने वाले पट्ट थे जो विभिन्न सुन्दर प्रकार के होते थे।[62] कमर-बन्ध ट्यूनिक एवं कंचुक के ऊपर बाँधा जाता था।

स्त्री-वेश-धोती—धोती स्त्री-वेश का आवश्यक अधोवस्त्र था। धोती कुछ सामान्य होती थी जबकि अन्य बहुमूल्य भी।[63] उल्लेखनीय है स्त्रियों की धोती पुरुषों की धोती से अधिक बड़ी तथा नीची होती थी। स्त्रियाँ धोती विविध रूपों में पहनती थी। मथुरा की एक प्रतिमा में स्त्री स्नानागार से निकल कर धोती को दोनों हाथों से पकड़े प्रदर्शित है जिसे वह सम्भवतः लूँगी की भाँति बाँध रही है।[64] दोनों कन्धे ढकते हुए पूरे शरीर पर धोती पहनने के कम ही उदाहरण हैं[65] जो उत्तर भारत में प्रयुक्त रहे। अधिकांशतः धोती पुरुषों की भाँति कमर के नीचे ही धारण की जाती थी। धोती को कमर में लपेट कर दाएँ अथवा बाएँ किनारे पर बड़ा लूप बनाते हुए नीचे तक लटकने दिया जाता था अथवा बीचोबीच मेखला में से निकालकर बाएँ हाथ से पकड़ा जाता था। धोती पहनने का यह प्रकार विकच्छ कहलाया।[66] इसके अतिरिक्त बीच में लूप बनाकर शेष धोती को लटकने दिया जाता था।[67] अथवा शेष भाग को बाएँ हाथ में पकड़ा अथवा बिन लूप के धोती के दोनों किनारों को बीच में बाँध दिया जाता था। ईसा पूर्व की स्त्रियों में अधोवस्त्र (शाटिका) को दोनों पैरों के मध्य से पीछे ले जाकर लपेटने की परम्परा थी। परन्तु ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में इसमें परिवर्तन परिलक्षित होता है। यह परिवर्तन उत्तर-पश्चिम का अनुकरण था।[68] गन्धार में इसका अनुकरण निःसन्देह विदेशी प्रेरणा का प्रतिफल था विदेशी स्त्रियाँ पीछे बिना प्लेट के परिधान धारण करती थी।[69] दिव्यावदान में वर्णित है कि स्त्रियाँ अपने वस्त्रों में कार्षापण रखती थीं जो आजकल स्त्रियों द्वारा धोती के पल्ले के किनारे पर पैसे बाँधने के समान प्रतीत होता है।[70] अधोवस्त्र के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि यह वस्त्र पारदर्शी होता था इसीलिए शरीर नग्न प्रतीत होता था।

स्तनपट्ट—मथुरा की मूर्तियों में स्त्रियों द्वारा स्तनपट्ट धारण करने के कम ही उल्लेख हैं। साधारणतया वह उर्ध्व-भाग में कुछ भी नहीं पहनती थीं। इतिहासकार अल्टेकर के अनुसार यह इतिहासकारों के विवाद का विषय रहा है।[71] रिचार्ड सोलोमन महोदय ने सन्देह व्यक्त करते हुए लिखा है कि क्या वास्तव में स्त्रियाँ ऊपर कोई वस्त्र नहीं पहनती थीं अथवा कलात्मकता की दृष्टि से ऐसा अंकित किया गया था।[72] कनिंघम

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विचार से संभवत: स्त्रियों के उर्ध्वभाग की चुन्नटों आदि का प्रदर्शन गले के आभूषण, कालर तथा मेखलाओं की सुन्दरता को दर्शाने हेतु नहीं किया गया हो।[73] परन्तु फर्गुसन का अनुमान है कि मुस्लिम-आक्रमण के पूर्व भारतीय-स्त्रियाँ सामान्यतया उर्ध्व-वस्त्र नहीं धारण करती थीं।[74] एक अन्य इतिवृत है कि पट्ट का प्रयोग ऊपर के वस्त्र रूप में ही होता था। इस सन्दर्भ में मोतीचन्द जी का कथन उल्लेखनीय है जिसमें वह लिखते हैं कि स्त्रियाँ धोती के ऊपर कमर का खाली स्थान ढकने के उद्देश्य से कमरधनी पहनती थी।[75] इससे तो स्पष्ट है कि उसके ऊपर ब्लाउज आदि अवश्य पहना जाता होगा एवं धोती व ब्लाउज के मध्य खाली स्थान में कमरधनी।

दुपट्टा—दुपट्टा स्त्री-वेश का आवश्यक-अंग था। वह पुरुषों की भाँति विविध रूपों में धारण किया जाता रहा। एक या दोनों कन्धों को ढकता हुआ दुपट्टा कभी-कभी पीछे डाला जाता था। अथवा पीछे से आगे आता था। अवलोकनीय है कि दुपट्टा गले से चिपका न होकर पीछे लूप बनाकर दोनों कन्धों से होता हुआ आगे लटकता था।[76] कभी-कभी केवल लूप देकर कमर पर गाँठ दे दी जाती थी।[77] कंकाली-टीला मथुरा से प्राप्त एक प्रसाधिका कमर पर खूब बटा हुआ ढीला सा दुपट्टा बाँधे हैं।[78] (चि० 1)। दुपट्टे का यह प्रकार आकर्षक लगता है। महोली से प्राप्त एक यक्ष की मूर्ति के पेट पर लिपटा दुपट्टा दर्शनीय है।[79]

मथुरा की एक शिल्पाकृति में स्त्री स्नान के पश्चात् गीले केशों को निचोड़ते हुए दिखाई गई है।[80] यह वस्त्र रूप में घुटनों तक लम्बा आधुनिक मिनी स्कर्ट जैसा अधोवस्त्र धारण किए है। इस वस्त्र की पहचान चलनिका-वस्त्र से की गई है।

गन्धार-कला में प्रदर्शित वेश-भूषा

कुषाण-वेश का प्रदर्शन हमें गन्धार-कला में मिलता है। गन्धार-वेश में यूनानी-वेश का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह यूनानियों के साथ-साथ इस देश में पश्चिम-एशिया से आया होगा। कुषाण-वेश के प्रमुख अंग ट्यूनिक के नुकीले किनारे एवं सामने पंक्तिबद्ध बटनों की पैन्ट पार्थियन प्रभाव था।[81] कुषाण-वेश उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में प्रचलित उदीच्यवेश कहलाया। पुरुषों के सन्दर्भ में बड़े-बड़े जूते, पैन्ट, सलवार, कंचुक, ट्यूनिक प्रयुक्त रहे।[82] तथा स्त्रियाँ ब्लाउज, जैकेट, ट्यूनिक, स्कर्ट, मैक्सी जैसा वस्त्र, पेटिकोट आदि पहनती थीं। यद्यपि कुषाणों के भारतीय समाज में मिश्रण के फलस्वरूप दोनों के द्वारा परस्पर वस्त्रों का आदान-प्रदान हुआ था। अतएव गन्धार की मूर्तिकला में राजा, सामन्त एवं सेठ वर्ग प्रायः एड़ी तक पहुँचती सलवटदार धोती एवं कन्धों को ढकती चादर ओढ़े भी प्रदर्शित हैं। यह उत्तरीय संघाटी था। एक धारणा के अनुसार संघाटी धारण करने की प्रथा गन्धार आदि ठंड प्रधान प्रदेशों से प्रारम्भ हुई होगी जो उपरान्त-काल में अन्य स्थानों पर प्रचलित रही।[83] इतिहासकार कोहलर के अनुसार कुषाण स्त्री व पुरुषों के वेश में प्रमुख भिन्नता यह थी कि स्त्रियों के वस्त्र अधिक लम्बे, ढीले, बहुमूल्य, कलात्मक एवं सुन्दर होते थे।[84] अवलोकनीय है कि कुषाणों के ऊन और चमड़े से निर्मित मोटे परिधान भारतीय गर्म जलवायु के कारण परिवर्तित हो गए थे। अतः उपरान्त काल

Digitized by Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में अत्यधिक गर्मी को दृष्टिगत कर पतले वस्त्र उचित माने गए थे।[85] यहाँ प्रत्येक वस्त्र का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

पुरुष-वेश

कंचुक—कंचुक कुषाण-शासकों का विशेष परिधान था। यह मुख्यतया राजाओं, राजदरबार के विशिष्ट पुरुषों, सैनिकों आदि द्वारा धारण किया जाता था। उदीच्य-वेश धारी सूर्य को कंचुक पहने दिखाया गया है। इतिहासकार थपलियाल के विचार से कंचुक चीनी-चोलक और वारबाण के समान वस्त्र था।[86] यह वस्त्र मूलतः मध्य-एशिया का शक परिधान था। मोतीचन्द के अनुसार तिकोना कालर और पूरी बाँह का कंचुक कला में भारतीय वेश में शक योगदान था।[87] कंचुक दो रूपों में प्रयुक्त रहा—(क) ट्यूनिक को ढकता हुआ ओवरकोट की भाँति कंचुक, (ख) ट्यूनिक से काफी छोटा कंचुक[88] (चि० 32 और 33)। मथुरा के माट स्थान से प्राप्त कनिष्क की सिर विहीन मूर्ति में कंचुक का भव्य-प्रदर्शन हुआ है। यह कंचुक देखने में राजकीय प्रभाव को सूचित करता है। कंचुक का कपड़ा खड़ी लकीर वाला है जिसके दोनों किनारे तिरछे चौड़े मुड़े हुए हैं एवं किनारों पर पतली लेस लगी है। कंचुक की बनावट आदि से स्पष्ट है कि उसमें सौन्दर्यता का पूर्ण ध्यान रखा गया था[89] (चि० 2)। इसी प्रकार के कंचुक का उल्लेख हमें कुषाण चाँदी की मुद्राओं में मिलता है। सूर्य की एक मूर्ति में कंचुक का स्पष्ट प्रदर्शन हुआ है। यह कंचुक आधी आधी बाँह का शरीर से चिपटा है जिसका गला गोल है। सामने बीचोंबीच स्थित एक गोल-पट्टी पर काम किया गया है। इसी प्रकार की पट्टी बाँह पर भी लगी है (चि० 3)। कंचुक का एक अन्य प्रकार वर्णनीय है। यह बिना कालर का कंचुक कोट की भाँति है। इसके सामने के दोनों किनारों पर एक चौड़ी फूलपत्तीयुक्त किनारी है। यही अलंकृत किनारी कलाई पर भी है तथा समस्त कोट में फूल-फूल बने हैं। इस कालर रहित कंचुक का गला वी प्रकार का है जिसमें से नीचे पहनी गई ट्यूनिक दिखाई पड़ती है।[90] इतिहासकार शर्मा का विश्वास है कि कुषाण पुरुष-वेश में चीनी-चोलक चीनी ढंग से निर्मित कोट के समान वस्त्र था। यह दो प्रकार का होता था एक कनिष्क की मूर्ति में अंकित आगे बीच से खुला चोलक था।[91] तथा दूसरा चष्टन की मूर्ति में दर्शित ओवरकोट था इसमें दाएँ ओर का भाग बाएँ कोट के ऊपर जाकर बाएँ किनारे पर बटन लगते थे।[92]

ट्यूनिक—ट्यूनिक स्त्री-पुरुषों का बहु-प्रचलित पहनावा था। प्रायः पुरुष इसे कंचुक के अन्दर एवं पृथक् रूप से भी पहनते थे। ट्यूनिक सामान्यजन, राजा सभी पहनते थे। मात्र भिन्नता यह थी कि राजाओं की ट्यूनिक नक्काशीयुक्त अलंकृत बहुमूल्य होती थी। जबकि साधारणजन इसे बिना अलंकृत किए ही पहनते थे। मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति में शिवलिंग की पूजा करते हुए दो पुरुषों को ट्यूनिक पहने दिखाया गया है। यह ट्यूनिक विविध अलंकरण युक्त है[93] (चि० 4)। यद्यपि अधिकांशतः ट्यूनिक पूरी बाँह वाली घुटने से नीची होती थी। परन्तु आधी बाँह की घुटने तक ट्यूनिक भी प्रयुक्त रही।[94] एक कुषाण उपासक की मूर्ति में प्रदर्शित ट्यूनिक कलाकार की उत्कृष्ट कला की परिचायक है।[95] इसके गले पर किया गया सुन्दर अलंकरण एवं कमरबन्द के नीचे की चुन्नटें सहज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही आकृष्ट कर लेती हैं। कुछ ही समय पूर्व सोवियत-मध्य-एशियाई उत्खनन सामग्री में एक गोलाकार फलक में दो सिंहों से युक्त सिंहासन पर दाढ़ी युक्त व्यक्ति का चित्रण है। यह सुन्दर वेल्ट युक्त ट्यूनिक, ऊँची टोपी एवं ऊँचे जूते पहने हैं।[96] प्रसिद्ध विद्वान् फ्लमकिन, बेलेनिस्की और रॉलैण्ड ने इसकी समानता माट (मथुरा) से प्राप्त विम कैड-फाइसेस की बैठी मूर्ति से की है।[97]

पैन्ट और सलवार—कुषाण-पुरुष अधोवस्त्र में पैन्ट अथवा सलवार पहनते थे। वृन्दावन से प्राप्त एक पुरुष की मूर्ति में अलंकृत पैन्ट का प्रदर्शन है (चि०4)। तथा प्रसिद्ध कनिष्क की मूर्ति चुन्नटदार सलवार पहने है[98] (चि० 2)। सैनिक एवं साधारणजन सलवार धारण करते थे। सुर्खकोटल से प्राप्त एक मूर्ति में अत्यधिक चुन्नटयुक्त सलवार विशेष आकर्षक लग रही है।[99] सलवार का ऐसा सुन्दर रूप अन्यत्र दुर्लभ है। एक अन्य मूर्ति में शक-उपासक द्वारा विचित्र प्रकार का अधोवस्त्र धारण किया गया है। यह घुटने को ढकता हुआ कतिपय चुन्नटयुक्त वस्त्र पहने हैं।

जूते—जूते प्रायः भारतीय व कुषाण दोनों ही पहनते थे परन्तु जूते उदीच्य-वेश के आवश्यक एवं आकर्षक अंग थे।[100] भारतीयों से भिन्न कुषाणों के जूते अत्यधिक भारी, घुटने तक ऊँचे, किनारे एवं पैताने में फीतेयुक्त होते थे। इतिहासकार स्टेन के अनुसार खोतान की प्राप्त पुरातात्विक-उपलब्धियों में कुषाण प्रकार के ऊँचे भारी जूते थे।[101] इनके लिए 'खपुसा' शब्द प्रयुक्त है।[102] ऋग्वेद में वर्णित 'वटूरिणापाद'[103] को मोतीचन्द पैर में धारण करने वाला आवरण मानते हैं।[104] यह युद्ध के समय सुरक्षा की दृष्टि से उपयोगी था। सरकार ने इस सन्दर्भ में 'पत्संगिनी' को पैरों में बाँधने वाली चट्टी वर्णित किया है।[105] यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ-ब्राह्मण एवं पंचविश-ब्राह्मण आदि में जूते के लिए 'उपानह' शब्द प्रयुक्त रहा। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के अवसर पर सूअर के चमड़े से निर्मित जूते का उल्लेख स्पष्ट करता है कि जूते एवं चमड़े से सम्बन्धित अपवित्रता की भावना पूर्वकाल में विद्यमान न थी। पतंजलि चर्म-उपानह एवं दारु-उपानह अर्थात् चमड़े एवं लकड़ी के जूते का उल्लेख करते हैं।[106] प्रायः राजा रत्न जटित जूते पहनते थे एवं गन्धार के उच्च घराने के लोग चट्टियाँ-खड़ाऊं पहनते थे। इसका स्पष्ट अंकन कनिष्क की मूर्ति (चि०) एवं चांदी की कुषाण-मुद्राओं में मिलता है। सर्वप्रथम जूते का उल्लेख सूर्य-प्रतिमा में हुआ था। जूते-चप्पलों के अनेक प्रकार प्रचलित रहे यथा—बिना डोरी वाले चप्पल अथवा खड़ी एवं पड़ी डोरी से बंधे हुए जूते आदि।[107] दिव्यावदान में विवरण है कि बुद्ध भगवान् ने कर्मापनय करने के लिए पन्थक से भिक्षुओं के जूते साफ करने को कहा था।[108] स्पष्ट है यद्यपि भारतीयों की भाँति बौद्ध भी पूजा-अर्चना के समय जूते नहीं धारण करते थे अन्यथा तो पहनते ही थे।[109] मथुरा-संग्रहालय में संग्रहीत बोधिसत्व की एक प्रतिमा के पैर में सुन्दर चप्पल परिलक्षित है।[110] एक अन्य शिलापट्ट पर एक व्यक्ति जो बुद्ध के चरणों के पास बैठा है उसके पैरों में संभवतः सैन्डिल हैं यह घुटनों तक ऊँची हैं।[111] भारतीय व कुषाणों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि भारतीय अधिकांशतः नंगे पैर रहते थे परन्तु कुषाण अधिकांश भारी जूते पहनते थे।[112] मूर्तिकला में स्त्रियाँ जूता पहने कम ही दर्शित हैं। मात्र एक स्त्री जूते पहने प्रदर्शित हुई है वह है कुबेर की सुरापान के दृश्य

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में सेविका की मूर्ति (चि० 6)।

स्त्री-वेश

कुषाण स्त्रियों का सामान्य वेश पूरी बाँह की जैकेट एवं लम्बी स्कर्ट थी।[113]

मैक्सी जैसा वस्त्र—इस पूरी बाँह के परिधान का सुन्दरतम चित्रण एक लैम्प लिए स्त्री-मूर्ति में हुआ है। इस पर अत्यन्त आकर्षक नक्काशी है (चि० 37)। यह तत्कालीन उत्कृष्ट कला की परिचायक है। इतिहासकार मोतीचन्द इसे कंचुक मानते हैं।[114] मुकर्जी भारतीय-वेश में विदेशी प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि मैक्सी जैसा परिधान साधारणतया विदेशी स्त्रियाँ पहनती थीं। उपरान्त-काल में भारत में भी इसका अनुकरण किया जाने लगा था।[115]

स्कर्ट—स्कर्ट घुटने से ऊँची एवं नीची दो प्रकार से पहनी जाती थी। स्कर्ट के ऊपर संभवतः जैकेट पहनी जाती होगी। इतिहासकार सोलोमन ने मथुरा की मूर्तियों में प्रदर्शित मध्यम लम्बाई की स्कर्ट को किसान एवं गरीब स्त्रियों का वेश माना था।[116] एक मूर्ति में स्कर्ट दोनों पैरों के मध्य से जुड़ी दो पैरों वाली स्कर्ट प्रतीत होती है। (चि० 36)। एक अन्य मूर्ति में सिर पर घड़ा रखे ग्वालिन संभवतः दो पर्तों वाली स्कर्ट पहने प्रदर्शित है जिसकी एक पर्त घुटने तक लम्बी एवं दूसरी आठ उंगल और नीची है। इसके बीचोबीच एवं किनारों पर कुछ अलंकरण है।[117] (चि० 7)। इतिहासकार उसे लंहगा मानते हैं। यद्यपि इसमें लहंगे जैसा विशेष घेर नहीं है फिर भी यदि इसे लहंगा माना जाए तो निःसन्देह सर्वप्रथम इसी युग में लहंगा धारण किया गया था। आज भी उत्तर-पश्चिम क्षेत्र (राजस्थान) में लहंगा सर्वाधिक प्रचलित है।

कूर्पासक—यह मूलतः मध्य-एशियाई वेश था जो आधुनिक कसे ब्लाउज की भाँति होता था।[118]

अधोवस्त्र—पालीखेरा (मथुरा) से प्राप्त मूर्ति में कुबेर द्वारा सुरापान का दृश्य है जिसमें सेविका कुषाण-वस्त्र धारण किए है वह अधोवस्त्र रूप में एक काफी ढीली सलवार ऊपर एवं नीचे पूरी चौड़ी तथा घुटने पर कतिपय कसी है।[119] इसके ऊपर पूरी बाँह का कंचुक पहने है।

ट्यूनिक—ट्यूनिक पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी दो प्रकार से धारण करती थीं। एक तो स्वतन्त्र रूप से ट्यूनिक पहनकर एवं दूसरा धोती के साथ पूरी बांह की ट्यूनिक पहनकर (चि० 8)। मध्य-एशियाई शक-सीथियन जातियों के सम्पर्क में आने के उपरान्त उत्तर-भारत में स्त्री-वेश में जैकेट, ब्लाउज, फ्राक आदि का प्रचलन अधिक हो गया था।[120]

कंचुक—इस शैली की वेशभूषा का कंचुक एक आवश्यक परिधान था। इसीलिए प्रायः प्रतिमाओं में कंचुक का अंकन मिलता है। मथुरा-संग्रहालय की आसवपायी कुबेर की प्रतिमा में स्त्रियों का कंचुक भिन्न प्रकार का है। यह कंचुक पूरी बांह का एवं घुटनों के ऊपर तक फ्राकनुमा है। सम्भवतः आजकल के कुर्ते की भांति कंचुक को सलवार अथवा पजामे के साथ पहना जाता था।[121]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बच्चों की वेशभूषा

बच्चों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। बच्चों की मूर्तियों का कम मिलना स्पष्ट करता है शिल्पकारों के लिए छोटी मूर्तियों में सभी सूक्ष्म अवयवों को अंकित करना कदाचित् कठिन रहा होगा। अतएव उनकी मूर्तियां शिल्पकारों को आकृष्ट न कर सकीं परन्तु साहित्य में उनसे सम्बन्धित विवरण न मिलने का कारण क्या हो सकता है? भारतीय-वेश में बालक सम्भवतः अधोवस्त्र (धोती) को लांघदार पहनकर पटके से बाँधते थे।[122] इसके अतिरिक्त मथुरा की मूर्ति में पटके से बंधी लंगोटी का अंकन हुआ है।[123] मूर्तियों में बच्चों से सम्बन्धित यही दो वस्त्र परिलक्षित होते हैं।

विदेशी-प्रभाव वाले वेश में बच्चे पूरी अथवा आधी बांह का कंचुक पहनते थे।[124] लखनऊ की एक मूर्ति में बच्चों द्वारा सामने से पूरे खुले सम्भवतः बटन-युक्त कंचुक का अंकन है।[125] पैरों में बच्चे पजामा पहनते थे अथवा नहीं साक्ष्य के अभावमें स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। ग्रीक-परम्परा में तो प्रायः बालक नग्न ही प्रदर्शित हैं (चि० 6)।

विभिन्न धार्मिक देवी-देवताओं एवं अनुयायियों के वस्त्र

मूर्तिकला एवं मुद्राओं में अंकित वस्त्रों के सम्यक् अध्ययन से विदित होता है कि प्रायः सभी देवी-देवता पृथक्-पृथक् वस्त्र धारण करते थे। मथुरा के कंकाली-टीला कुआं से प्राप्त कार्तिकेय की मूर्ति धोती में प्रदर्शित हुई है। यह धोती घुटने तक नीची है। दुपट्टे को खूब बटकर मोटी रस्सी की भांति कमर पर लपेटकर ढीली बांई ओर बड़ी गांठ बंधी है। (चि० 9)। लखनऊ से भी कार्तिकेय की धोती धारी खड़ी मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके सिर पर पगड़ी बंधी है।[126] शरीर पर सामान्यतया उत्तरीय पटका एवं अधोवस्त्र का अंकन होता था।[127] मथुरा से प्राप्त बलराम की प्रतिमाओं में पटके से बँधा सामान्य अधोवस्त्र दिखाया गया है।[128] अन्य प्रतिमाओं में कमर में बड़ी गाँध वाला ढीला बँधा उत्तरीय दृष्टव्य है।[129] सिर युक्त प्रतिमा की भारी पगड़ी भी आकर्षक है।[130] कंकाली-टीला (मथुरा) से प्राप्त सूर्य-मूर्ति (उदीच्य-वेश) शरीर से चिपटा पूरी बांह का कंचुक, पैन्ट, जूते, सिर पर ऊँची गोल टोपी लगाए है। इस मूर्ति में सूर्य पूर्णतः कुषाण-वेश में प्रदर्शित हैं (चि० 3)। वासुदेवशरण अग्रवाल ने सूर्य द्वारा धारण किए गए कोट को 'वारवाण' एवं पजामे को 'स्वस्थान' माना था।[131] देव-प्रतिमाओं में एकमात्र सूर्य-प्रतिमाओं में ही हमें जूतों का चित्रण मिलता है। शिव की प्रतिमाओं पर प्रायः उत्तरीय एवं पटके से बँधे हुए अधोवस्त्र का ही अंकन मिलता है पगड़ी का नहीं। मथुरा-संग्रहालय की एक शिव-प्रतिमा में केवल अधोवस्त्र प्रदर्शित है यह कमर पर पटके के द्वारा बाँधा गया है[132] जो पिंडलियों तक लम्बा आधुनिक पुरुषों की लूँगी की भाँति है। साहित्यिक-ग्रन्थों में, वल्कलाजिन, कृत्तिवासस, व्याघ्रचर्म, कृष्णाजिन एवं उष्णीष आदि शिव के वस्त्र वर्णित हैं।[133] एक अन्य मथुरा से प्राप्त मूर्ति में उदीच्य-वेशधारी दो पुरुषों द्वारा शिवलिंग-पूजा का अंकन है। यह प्रथम शताब्दी की है। स्पष्ट है कुषाणों द्वारा शिव-पूजा प्रथम शताब्दी में आरम्भ हो गई थी। वीम कैडफाइसेस की स्वर्ण-मुद्राओं एवं अभिलेख आदि द्वारा भी प्रथम श० में शिवोपासना की पुष्टि हो जाती है। (चि० 4) ब्रह्मा की एक प्रतिमा पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाएँ कन्धे से होकर नीचे आकर पीछे की ओर जाता हुआ उत्तरीय एवं लांगदार-धोती का चित्रण हुआ है। एक अन्य मूर्ति में केवल लूँगीनुमा अधोवस्त्र ही है।[134] उपरोक्त देवताओं के अतिरिक्त कुबेर, नाग-देवता, गरुड़-देवता, किन्नर तथा पगड़ी का चित्रण कतिपय विविधता लिए दिखता है।

जहाँ तक हिन्दू-साधुओं के वस्त्रों का प्रश्न है वह अधोवस्त्र में कौपीन तथा पटके पहनते थे। मोतीचन्द ने उसे वल्कल नाम दिया था।[135] ललित-विस्तर में तपस्वियों के वस्त्र कौपीन अथवा लंगोटी का स्पष्ट उल्लेख है।[136] अश्वघोष इनके वल्कल एवं चर्म-निर्मित-वस्त्रों का वर्णन करता है।[137]

मथुरा एवं लखनऊ संग्रहालय की कुषाण-जैन मुनियों, तीर्थंकरों एवं देवताओं की पाषाण-प्रतिमाएं पूर्णतया दिगम्बर प्रदर्शित हैं।[138] इसीलिए इनकी खड़ी मूर्तियों की अपेक्षा बैठी मूर्ति अधिक प्रचलित रही। सम्भवतः तत्कालीन राजा एवं उच्च वर्गीय पुरुष दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुयायी रहे होंगे। इसीलिए उनके द्वारा संरक्षित कलाकारों ने दिगम्बर-सम्प्रदाय की प्रतिमाओं का निर्माण किया होगा। कभी-कभी वह कमर में मेखला पहन लेते थे।[139] एक मूर्ति में जैन उपासक व उपासिका दिखाई गई है। इनमें पुरुष बाएँ हाथ में एक तौलिये के समान वस्त्र को दोहरा किये पेट से घुटने के कतिपय ऊपर के भाग को ढके प्रदर्शित है। इस वेश को 'अर्ध-फालक' कहा गया (चि० 11)। स्त्री ट्यूनिक के समान वस्त्र पहने हैं तथा सम्भवत ऊपर दुपट्टा भी है[140] (चि० 10)। एक अन्य जैन उपासिकाओं के दृश्य में स्त्रियाँ पंक्तिबद्ध खड़ी हैं। यह सभी धोती द्वारा पूरा शरीर ढके हैं।[141] (चि० 11)। जैन भिक्षु रंगे एवं किनारीदार वस्त्र नहीं धारण करते थे। जूता (चमड़ा) भी उन्हें वर्जित था परन्तु कतिपय अवस्थाओं में अपवाद स्वरूप जूते पहनने की अनुमति थी। इतिहासकार जैन ने विभिन्न अवयवों द्वारा निर्मित कई प्रकार के जूतों की चर्चा जैन-साहित्य में की है।[142]

सिर-विहीन बोधिसत्व की मूर्ति में वस्त्र का अति स्पष्ट चित्रण है। यह धोती-दुपट्टा पहने है। दुपट्टा काफी लम्बा है। जो बायें कन्धे से पीछे घुटने के नीचे होता हुआ दाएँ ओर से ऊपर आता है एवं बाएँ हाथ में पकड़कर शेष भाग लटकता है। इस दुपट्टे का कपड़ा एवं उसपर की बनावट आकर्षक है (चि० 12)। मूर्तियों में चित्रित वस्त्रों से प्रतीत होता है कि बुद्ध व बोधिसत्व केवल धोती दुपट्टा पहनते थे।[143] (चित्र 13)। मथुरासंग्रहालय में सुरक्षित एक स्तूप-चौकी पर बुद्ध को केवल अधोवस्त्र पहने अंकित किया गया है।[144] जो सम्भवतः लखनऊ व मथुरा संग्रहालयों में बुद्ध की एकमात्र प्रतिमा है। दिव्यावदान में प्रव्रजितों और भिक्षुओं द्वारा प्रयुक्त निम्न चार वस्त्रों का उल्लेख है—चीवर, संघाटी, काशाय-वस्त्र, पाशुंकूल। ऋषि वल्कल और चीवर पहनते थे। यह चीवर दर्भ (कुशों) के बने होते थे। चीवर के अन्तर्गत तीन प्रकार के वस्त्र आते थे (क) अन्तर-वासक यह नीचे पहनने की लूंगी थी। (ख) उत्तरासंग, ओढ़ने की इकहरी चादर थी। (ग) संघाटी—यह शीत से बचने के लिए दुहरी चादर थी।[145]

प्रसंगवश देवताओं की भाँति देवियों की मूर्तियों के वस्त्रों का उल्लेख आवश्यक है। इस काल में हमें मातृदेवियों में दुर्गा, पार्वती, गजलक्ष्मी, वसुन्धरा, लक्ष्मी आदि की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूर्तियाँ मिलती हैं। यह मूर्तियाँ पूर्वकाल में पूर्ण रूप से नग्न थीं परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमें देवी-मूर्तियों में वस्त्रों का अंकन परिलक्षित होता है। सम्भवतः उनके वस्त्र तत्कालीन स्त्री-समाज में प्रचलित वेश के समान थे। मथुरा-संग्रहालय में स्थित मातृ-देवियों दुर्गा, पार्वती, सप्तमातृका, गजलक्ष्मी, वसुन्धरा, लक्ष्मी एवं भद्रा आदि की प्रतिमाओं में उर्ध्वभाग प्रायः निर्वस्त्र प्रदर्शित है।[146] केवल सप्तमातृका के उत्तरीय के अलावा सभी प्रतिमाओं के बाएँ हाथ में लिपटा हुआ अथवा कमर पर ढीला बँधा उत्तरीय स्पष्ट विदित हो रहा है।[147] अधोवस्त्र में देवियाँ आधुनिक पुरुषों की भाँति धोती पहने हैं। यह धोती पूरे पैर को ढके है तथा पटके से बँधी है। हिन्दू-साध्वियों की प्रतिमा न मिल पाने के कारण अनुमान लगाया जा सकता है कि वह अन्य सामाजिक स्त्रियों की भाँति उत्तरीय एवं अधोवस्त्र द्वारा शरीर को आवृत्त रखती होंगी।

जैन-तीर्थंकरों की पादचौकी पर चित्रित प्रतिमाओं को जैन-भिक्षुणी कहा जा सकता है। लखनऊ-संग्रहालय में स्थित दो प्रतिमाओं पर अंकित भिक्षुणियों के शरीर पर घुटने से नीचा, सामने दोनों ओर गोलाकृति वाला कंचुक प्रदर्शित है।[148] एक अन्य मूर्ति में भिक्षुणी के शरीर पर सामान्य वस्त्रों के अतिरिक्त एक चादर भी है। यह आच्छादनक की भाँति वक्षस्थल पर बँधी है (चि० 10)। जैन-परम्परा के अनुसार स्त्रियाँ निर्वस्त्र नहीं रहती थीं। यह वस्त्र के अभाव में चर्मखण्ड शाक आदि के पत्र से अपने अंग आवृत्त रखती थीं। इतिहासकार जैन ने जैन-ग्रन्थों के आधार पर जैन-साध्वियों के निम्न वस्त्रों का उल्लेख किया है—उग्गहंगतिग, पट्ट, अद्धोरुग, चलनिका, अब्भितरनियंसिणी, बहिनियंसिणी, कंचुक, उवकच्छिय, वेगच्छिय, संघाटी, खंधकरणी।[149] जैन-तीर्थंकरों के साथ-साथ जैन-देवियों की भी उपासना आरम्भ हो गई थी फलस्वरूप हमें सरस्वती एवं नैगमेषी की प्रतिमाएँ मिलती हैं। इनकी प्रतिमा के उर्ध्वांश नग्न हैं नीचे अवश्य अधोवस्त्र धारण किया गया था।

बौद्ध-भिक्षुणियों एवं देवियों की वस्त्र-सम्बन्धी कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। बौद्ध-साहित्य में विहित है कि भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों की वेशभूषा प्रायः समान थी क्योंकि वह भी उत्तरासंग, अन्तरवासक एवं संघाटी धारण करती थी। मात्र एक भिन्नता कंचुक वस्त्र-सम्बन्धी यही थी कि कंचुक भिक्षुणियों का बहुप्रचलित परिधान था तथा बिना कंचुक पहने गाँव में प्रविष्ट होने पर प्रायश्चित का विधान था जबकि भिक्षुओं के लिए कंचुक वर्जित था।[150] मथुरा-संग्रहालय में स्थित हारीति की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं जिनमें देवी अधोवस्त्र में पटके से बँधी धोती ही धारण किए हैं।[151]

विदेशी नाना-देवी अधिकांश तो स्कर्ट पहने प्रदर्शित हैं जबकि अन्य स्थानों पर वही नाना-देवी भारतीय साड़ी पहने हैं (चि० 35)।

वस्त्र से सम्बन्धित सामान्य नियम यह था कि वस्त्र अवसर देखकर पहने जाते थे। शोक के समय के वस्त्र आमोद-प्रमोद के वस्त्रों से पृथक् होते थे। शुभ-अवसरों पर सुगन्धित वस्त्र धारण किए जाते थे।[152] याज्ञवल्क्य-स्मृति में विहित है कि गृहस्थ एवं स्नातक को श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए और इनके वस्त्र रंगीन, महंगे या कटे-फटे, गन्दे या अन्य किसी के द्वारा प्रयुक्त न हों।[153] इसका समर्थन मनु ने भी किया है। वस्त्र अवस्था,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धन, व्यवसाय, विद्या, कुल व देश के अनुसार धारण किए जाने चाहिए।[154] ब्रह्मचारी के लिए मनु गुरु की अपेक्षा कम अच्छे वस्त्र पहनने की सलाह देते हैं। दिव्यावदान में उद्धृत है कि वस्त्र अपने सामाजिक स्तर के अनुरूप हों। समाज का भृतक वर्ग फटे व मलिन वस्त्रों द्वारा पहचाना जाता था। उल्लेख है कि एक भृतक स्त्री अपने पुत्र के भृतक-वीथि में उपस्थित होने पर भी कार्य न मिलने पर पुत्र को परामर्श देती है कि यदि कार्य करना है तो भृतक का वेश धारण करो। स्पष्ट है वस्त्रों के आधार पर समाज का प्रत्येक वर्ग अपना परिचय स्वतः दे देता था।[155]

उपानह के सम्बन्ध में उल्लेख है कि लकड़ी की पादुकाएँ चलने पर आवाज करती थी अतः बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए काष्ठ-पादुकाएँ निषिद्ध कर दी थीं।[156] वह चमड़े की पादुकायें धारण करते थे।

आभूषण

आभूषण अलंकरण का साधन था। आभूषण के लिए 'आभरण' शब्द प्रयुक्त रहा। प्राचीन काल से ही भारत में स्त्री-पुरुष आभूषण प्रिय रहे हैं। आभूषण केश से लेकर पैर तक विविध रूपों में धारण किए जाते थे।[157] केशों में चिमटी, माथे पर बेन्दा, कानों में कुण्डल, गले में हार, बाजू में बाजूबन्द, कलाई में चूड़ी, कमर में कमरधनी, उँगली में अंगूठी तथा पैरों में पायल द्वारा अलंकरण होता था।[158] आज भी इन आभूषणों का उपयोग लगभग उसी रूप में विद्यमान है। मात्र भिन्नता यह है कि नाक में कील का प्रचलन कुषाण-युग में न था। यह भारतीय समाज को मुस्लिम शासन की देन है। उक्त आभूषणों में से कतिपय तो स्त्री-पुरुष समान रूप से धारण करते थे जबकि अन्य स्त्रियों के लिए ही थे। मथुरा की मूर्तिकला से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ आभूषणों से पूर्णतः आवृत्त रहती थी।[159] अन्यत्र भी मूर्तियों की आभूषण एवं गन्ध के प्रति रुचि प्रतीत होती है।[160]

आभूषणों का सम्बन्ध सौन्दर्यता के अतिरिक्त धर्म से भी था यथा—बेन्दा विवाहित होने का प्रतीक था। एवं ताबीज का भी धार्मिक महत्व था। आभूषण सोने, चाँदी, ताम्बे आदि धातुओं द्वारा निर्मित किये जाते थे। यह व्यक्ति विशेष की आर्थिक-दशा के बोधक भी थे जैसे—समाज का उच्च-वर्ग स्वर्ण निर्मित आभूषण धारण करता था। इसी प्रकार दासी आदि निम्न वर्ग की स्त्रियाँ साधारण प्रकार के कम आभूषण पहनती थी।[161] सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त अन्य अनेक पत्थर भी आभूषणों में मनके के रूप में प्रयुक्त रहे। यह थे—गोमेद, जम्बुमणि, स्फटिक, सेलखड़ी, सुलेमानी, हाथीदाँत, शीशा एवं सामान्य मिट्टी आदि। आभूषणों में प्रयुक्त मनके गोल, अंडाकार, चौकोर, लम्बाकार आदि अनेक प्रकार के होते थे। मनके निर्माण का कार्य तक्षशिला, कौशाम्बी पाटलिपुत्र और उज्जैनी में विस्तृत रूप से होता था।

उल्लेखनीय है कुषाण शासकों के उदीच्य-वेश धारण करने से सारा शरीर वस्त्रा-वृत्त होने के कारण उन्हें आभूषणों की कोई सार्थकता नहीं प्रतीत हुई होगी। परन्तु भारत में आने एवं मथुरा-कला से प्रभावित हो गन्धार-कला में भी हमें उदीच्य-वेश के साथ आभूषणों के विवरण मिलते हैं यद्यपि वह अपेक्षाकृत काफी कम आभूषण धारण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। अब प्रत्येक आभूषण के प्रकारों एवं स्वरूपों का विवरण प्रस्तुत है। यह विवरण मथुरा एवं गन्धार की मूर्तियों तथा साहित्य पर आधारित है। यद्यपि मुद्राओं के अति छोटे होने के कारण आभूषणों का स्वरूप एवं वास्तविक अलंकरण पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

केशों में प्रयुक्त आभूषण

केशों को प्रायः स्त्रियाँ ही अलंकृत करती थीं पुरुष नहीं। दिव्यावदान में सिर में धारण किए जाने वाले आभूषणों के लिए चूड़ामणि शब्द आया है।[162] सद्धर्मपुण्डरीक में शीर्षाभूषणों में मुकुट प्रमुख वर्णित हुआ है।[163] मुकुट मणि-निर्मित होते थे।[164] इसके अतिरिक्त मणि एवं रत्न-जड़ित चित्र-विचित्र मौलि तथा मुक्तामालाओं से भी सिर अलंकृत किया जाता था।[165] अलंकृत केशों को वह किसी ओढ़ने से ढकती न थी वरन् केश-सज्जा के प्रदर्शन हेतु सिर खुला रखती थी। स्त्रियाँ निम्न केश-आभूषणों को प्रयुक्त करती थीं—(क) सिर के मध्य माँग पर से एक जंजीर में एक बड़ा गोल बेन्दा लगा होता था।[166] यह चूँकि ठीक बिन्दी के स्थान माथे पर लटकता था अतएव इसे बेन्दा, टीका अथवा ललाटिका कहा गया। इसी प्रकार का आभूषण मथुरा के वैरागपुरा से प्राप्त हुआ है जिसमें दो गोल बेन्दे हैं। एक माथे पर तथा दूसरा ठीक सिर के मध्य। इस प्रकार वाले बेन्दे में से अनेक जंजीर दोनों कानों की ओर जाकर सम्भवतः चिमटी की भाँति लगा ली जाती होंगी। यह बेन्दे विविध प्रकार के अलंकरण युक्त हैं।[167]

(ख) इस मूर्ति में माथे पर एक अलंकृत चौड़ी पट्टी के बीच गोल टीका है जिसमें से पाँच जंजीर सिर में पीछे की ओर जाती हुई अंकित हैं। इनमें भी अनुमानतः चिमटी लगी होगी जो कि पीछे स्थित होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती।[168]

(ग) इतिहासकार स्मिथ ने एक अन्य सुन्दर प्रकार के केश-अलंकार का चित्रण किया है। इसमें केशों में अर्धचन्द्राकार धातु के दोनों किनारों पर एक-एक मनका है तथा इस मनके में से तीन-तीन जंजीर दोनों किनारों पर जा रही हैं। इस प्रकार के अन्य केश-आभूषणों की भाँति इनमें भी चिमटी लगी होगी जिस पर आधारित हो यह लटकता था।[169]

(घ) लखनऊ-संग्रहालय में स्थित इस अलंकार में सिर पर एक गोल लटकन में एक पुरुष एवं दोनों ओर दो दौड़ते घोड़ों को इतिहासकार रथारुढ़ सूर्य मानते हैं।[170]

(ङ) स्त्रियाँ लम्बे केशों की चोटी बना लेती थीं जिसमें चोटी के निचले हिस्से में वह बहुमूल्य धातुओं के मनके आदि लगाती थीं। लखनऊ-संग्रहालय (चि० 22) में इस प्रकार का अलंकरण किए हुए स्त्रियों को नृत्यगान करते प्रदर्शित किया गया है। मथुरा की अनेक प्रतिमाओं में हमें स्त्रियों द्वारा मुक्ता ग्रथित केशों का दर्शन होता है।[171] एक शिला-पट्ट पर राजा नन्द अपनी रानी की चोटी में वेणी गूँथते दिखाए गए हैं।[172]

(च) केशों में दोनों ओर कानों के ऊपर से लटकने वाले अलंकरण प्रयुक्त रहे। यह घण्टी के आकार एवं मनकों द्वारा निर्मित कन्धे तक लटकते थे।[173]

(छ) गन्धार-कला की राजमहिषी की मूर्ति के सिर पर अत्यन्त मोटी टोपी की भाँति गोलाकार वस्तु सुसज्जित है। सम्भवतः यह कपड़े की रही होगी। मोतीचन्द ने इसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गन्ध-मुकुट सम्बोधित किया था।[174]

(ज) आज की भाँति डिज़ायन युक्त चौड़ा पिन पीछे सारे केशों को दुहरा मोड़कर लगाया जाता था। इस प्रकार से व्यवस्थित केश अधिक सुन्दर लगते थे। यह मूर्ति वेदिका-स्तम्भ पर उत्कीर्ण पुष्प-प्रचारिका की लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है जो मथुरा के कोटा स्थान से प्राप्त हुई थी (चि० 14)। सम्भवतः इसी प्रकार से केशों में प्रयुक्त होने वाला स्वर्ण निर्मित डिज़ायन युक्त टुकड़ा मुनि की रेती (हरिद्वार) से प्राप्त हुआ था। इसके साथ अन्य आभूषण भी थे। यह ढाई इंच लम्बा एवं एक इंच चौड़ा है। यदि इसे लम्बवत खड़ा किया जाए तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे ड्रम एक के ऊपर एक खड़े कर दिए हैं परन्तु चौड़ाई से देखने पर यह डमरू लगते हैं (चि० 15)।

कर्ण आभूषण

कानों को स्त्री व पुरुष दोनों ही समान रूप से विभूषित करते थे। कानों के यह आभूषण अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कुण्डल, बाली एवं टॉप्स रूप से विभक्त किए गए हैं। दिव्यावदान में कर्ण-आभूषण के लिए कुण्डल एवं कर्णिका शब्द प्रयुक्त रहे। वर्णित है चन्द्रप्रभ देवकन्या ने चंचल एवं स्वच्छ कुण्डल धारण किया था। कर्णिका विविध धातुओं से निर्मित रत्नकर्णिका, दारुकर्णिका, त्रपुकर्णिका कहलाती थी। इसके अलावा आमुक्तिका आभूषण का भी उल्लेख है।[175] इनमें कुण्डल आधुनिक झुमके, कर्णिका, बाली तथा आमुक्तिका को टॉप्स माना जा सकता है। उल्टे कमल के सदृश कर्णोत्पल एवं अनेक धातु निर्मित बालियों का उल्लेख है।[176] कुण्डल कानों का आभूषण था। मणि-कुण्डल भी प्रचलित थे।[177] यह लटकने वाले होते थे। आधुनिक झुमके भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।[178] सर्वाधिक प्रिय कुण्डल विविध डिज़ायनों के भारी वजन के कन्धे तक लटकते हुए होते थे। मथुरा से प्राप्त आसवहायी कुबेर की परिचारिका (चि० 6), प्रसिद्ध लैम्प लिए स्त्री[179] तथा मथुरा से प्राप्त वेदिक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण पुष्प-प्रचारिका (च० 14) आदि की मूर्तियों में कुण्डलों का स्पष्ट चित्रण हुआ है। चक्र-कुण्डल भी विशेष प्रयुक्त रहे।[180] मथुरा से प्राप्त सम्भवतः दूध लिए स्त्री-मूर्ति में (चि० 7) तथा वेदिका-स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रसाधिका की मूर्ति में चक्रकुण्डल का स्पष्ट प्रदर्शन हुआ है (चि० 1)। उक्त वर्णित कुण्डलों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के कुण्डल प्रयुक्त रहे। यह भारी अथवा हल्के दोनों प्रकार के थे।[181] इनके अतिरिक्त डमरू की आकृति एवं घोंघे की खोल की आकृति के कर्णाभूषण स्त्री व पुरुषों द्वारा समान रूप से प्रयुक्त रहे।[182] कन्धों तक लटकते भारी अलंकरण युक्त कुण्डलों का प्रयोग प्रायः स्त्री व पुरुषों द्वारा विशेष रूप से किया गया था।[183]

कलाकृतियों में बाली पहने जाने के उल्लेख मिलते हैं परन्तु वह अति अल्प हैं जिससे स्पष्ट है कि बाली का प्रचलन अपेक्षाकृत कम था। मुनि की रेती (हरिद्वार) से प्राप्त आभूषणों में एक जोड़ा बाली भी मिली है। यह मोटी चेन की बाली है जिसमें चौकोर बड़ा मनका लगा है। यह बालियाँ अत्यधिक सुन्दर हैं तथा आज भी नई प्रतीत होती है (चि० 16)। मथुरा-संग्रहालय में स्थित कतिपय मूर्तियों में बालियों के अन्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकारों का चित्रण हुआ है।[184]

कुण्डल की भाँति कानों का बहुप्रचलित आभूषण टॉप्स था। निःसन्देह यह कला के विकसित स्वरूप को स्पष्ट करता है। एक स्वर्ण निर्मित टॉप्स में दो शंख उल्टे व सीधे एक दूसरे में जुड़े हुए अत्यधिक आकर्षक लगते हैं। इनमें एक टॉप्स अपने वास्तविक स्वरूप में है जबकि दूसरा विकृत हो गया है। (चि० 17) टॉप्स के अन्य अनेकानेक चित्रण पृथक्-पृथक् डिज़ायन युक्त हैं।[185] उपरोक्त कर्णाभूषणों के सम्यक् अध्ययन से एक बात यह विदित होती है कि उस समय दोनों कानों में भिन्न-भिन्न आभूषणों तथा कभी मात्र एक कान में आभूषण धारण करने की प्रथा थी।[186] यह सम्भवतः विविधता की दृष्टि से प्रचलित रहा होगा।

गले के आभूषण

समकालीन साहित्य में कण्ठ-आभूषणों के सुवर्णसूत्र, अर्धहार, हार, कण्ठसूत्र आदि नाम मिलते हैं। गले को विविध प्रकार के हारों एवं कण्ठहारों से विभूषित किया जाता था।[187] इनकी संख्या के विषय में साहित्य में विविधता मिलती है प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ रायपसेणीय-सूत्र में हारों के नौ प्रकारों का उल्लेख है।[188] बौद्ध-साहित्य में इन हारों का विस्तृत विवरण है। विहित है कि हार मुक्ताओं से बनते थे। इन मुक्ताहारों में नील-मुक्ताहार, लोहित-मुक्ताहार एवं श्वेत-मुक्ताहार मुख्य थे। यह सोने के तार में पिरोए जाते थे।[189] विभिन्न धातुओं से निर्मित हार धातु के नाम से अभिहित रहे यथा—रत्न-हार, रुचक हार, हिरण्य-हार, सुवर्ण-हार, दन्तहार तथा कार्षापण-हार।[190] यह भी वर्णित है कि वैडूर्य, शंखशिला, स्फटिक तथा मुसारगल्व आदि धातुओं से ही हार बनाए जाते थे।[191] मणिरत्न एवं निष्क गूँथकर गले में धारण किए जाते थे।[192] दिव्यावदान में गले के लिए हार, अर्धहार और मालाओं का उल्लेख है।[193] स्वर्णहार में मणियाँ भी जड़ी होती थी।[194] मूर्ति-कला के आधार पर कुछ हार प्रकारों का वर्णन प्रस्तुत है—

(क) रायपसेणीय-सूत्र में अट्ठारह जंजीरों द्वारा निर्मित लम्बे हार का वर्णन है। निःसन्देह यह अत्यधिक भारी होगा। लगभग इसी प्रकार के अनेक जंजीरों से युक्त हार का प्रदर्शन मथुरा की एक मूर्ति में हुआ है। यह हार नृत्य करती हुई स्त्री के दाहिने कन्धे पर फैला होने के कारण अधिक लम्बा नहीं प्रतीत हो रहा है।[195] एक बोधिसत्व की मूर्ति में भी अनेक जंजीरों से युक्त माला धारण की गई है। इसमें बीच में एक मनका है जिसमें यह जंजीर पिरोई गई है (चि० 13)।

(ख) हार रूप में मटरों की माला विशेष प्रिय रही। इसे स्त्री व पुरुष दोनों ही धारण करते थे। मथुरा से प्राप्त उदीच्य-वेशधारी पुरुष की मूर्ति में मटरों की कण्ठी का चित्रण है (चि० 5)। स्त्रियाँ मटरों की एक अथवा दो कण्ठी के साथ एक लम्बी मटरमाला भी पहनती थीं। सम्भवतः वह इन मालाओं को विशेष लम्बा करके दो अथवा तीन बार गले में लपेटती होंगी। मथुरा से प्राप्त प्रसाधिका की मूर्ति एवं भोज और नृत्योत्सव मनाती हुई गृहस्थ-स्त्रियों द्वारा ऐसी माला पहनने का दृश्य है (चि० 18 और चि० 1)।

(ग) प्रसिद्ध उदीच्य-वेशधारी सूर्य-मूर्ति के गले में हमें आधुनिक हसली के समान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काफी भारी धातु निर्मित कण्ठी दिखती है। इसके बीच में एक गोल बड़ा मनका पिरोया गया है (चित्र० 3)। मथुरा में इस प्रकार के गले के आभूषण के अनेक उल्लेख हैं।[196]

(घ) पुरुष प्रायः दो तीन अथवा चार उँगल चौड़ी चौपड़ का हार पहनते थे। इसमें विविध प्रकार के गोल, चौकोर, अण्डाकार आदि मनके होते थे अथवा हार के कुछ-कुछ दूर पर विशेष अलंकरण किया जाता था। मध्य में स्थित अलंकरण सबसे सुन्दर एवं बड़ा होता था। इसी प्रकार हार के मध्य में स्थित मनका अन्य मनकों की अपेक्षा बड़ा होता था। (चित्र 9)। गले के आभूषण रूप में कमल के फूलों की माला भी धारण की जाती थी।[197]

(च) कण्ठ-आभूषणों में वनमाला का वर्णन भी आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति के के गले में प्रायः वनमाला का अंकन मिलता है। मथुरा संग्रहालय में विष्णु, कृष्ण, इन्द्र बलराम आदि की मूर्तियों में इन वनमालाओं का प्रदर्शन है।[198]

(छ) इसके अतिरिक्त चार उंगल चौड़ी विभिन्न डिजाइनों से अलंकृत मणि-जटित चौपड़ जैसी कण्ठी अधिक प्रयुक्त रही। इन कण्ठियों का चित्रण मथुरा से प्राप्त मूर्तियों में हुआ है। (चि० 19)।

(ज) हरिद्वार से प्राप्त आभूषणों में स्वर्ण का एक हार भी प्राप्त हुआ है जो लखनऊ-संग्रहालय में है। यह हार विशेष लम्बा है। इसकी जंजीर मोटी गुथी हुई है। बीच में एक मृदंग आकार का ढाई इंच लम्बा मनका है जिसके दोनों ओर चौकोर मनके हैं। इन मनकों से हार की सुन्दरता बढ़ गई है। विशेष लम्बा यह हार संभवतः एक बार कण्ठी की तरह गले में लपेटकर दोहरा लटकाया जाता होगा अथवा जनेऊ रूप में पहना जाता रहा होगा। कुषाण काल में स्त्रियों द्वारा भी जनेऊ धारण करने के चित्रण मूर्तियों में मिलते हैं। (चि० 31)।

बाजूबन्द

बाजू में धारण करने वाले आभूषण वलय, केयूर एवं अंगद नामों से जाने गए। वलय हाथीदांत से युक्त होता था।[199] कैयूर वैडूर्य एवं स्वर्ण द्वारा निर्मित होते थे।[200] अगद चाँदी का बना एवं सोने के तारों से गढ़ा होता था। स्त्री व पुरुष दोनों इसे धारण करते थे। यद्यपि अन्य आभूषणों की अपेक्षा इनका प्रचलन कम था। बाजूबन्द अनेक डिजायनों के होते थे यथा—

(क) बाजू की पट्ट धातु निर्मित है जिसमें से मोती की पतली जंजीर निर्मित डिजाइन बाजू को अलंकृत करती हुई अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती है।[201]

(ख) लखनऊ-संग्रहालय में स्थित इस मूर्ति में अलंकृत बाजूबन्द में नीचे ताबीज बँधे हैं।[202]

(ग) मथुरा से प्राप्त एक प्रसाधिका की मूर्ति में एक चौड़ा धातु का बाजूबन्द है। इसके नीचे दोहरी डोरी लगी है एवं अलंकरण अस्पष्ट है (चि० 1)।

(घ) एक अन्य सिर पर घड़ा रखे स्त्री का बाजूबन्द स्पष्ट व सुन्दर है। इस प्रकार के बाजूबन्द विशेष प्रयुक्त रहे[203] (चि० 7)। संभवतः ऐसा बाजूबन्द कार्तिकेय भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धारण किए हैं (चि० 9)।

(च) बोधिसत्व की मूर्ति में एक दोहरी धातु निर्मित डोरी बाजू में बन्धी है जिसके बाहरी ओर संभवतः पान के आकार का अलंकरण है (चि० 13)। यद्यपि अलंकरण स्पष्ट नहीं है तथापि देखने में आकर्षक प्रतीत होता है।

(छ) इसमें मानो मगरमच्छ मुँह खोले हुए बाँह में लिपटा हो। इसकी पूँछ भी प्रदर्शित है।

(ज) बाजूबन्द की डिजाइन चिड़ी के प्रकार की चौकोर-दो खाने युक्त हैं। यह दोहरी डोरी द्वारा बाँह में बँधा है।

उक्त प्रकारों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक प्रकार के बाजूबन्द प्रचलित रहे।

चूड़ी

कलाई में पहनने वाले आभूषणों के लिए कंकण, कटक एवं वलय शब्द प्रयुक्त रहे।[204] महावस्तु में वर्णित है कि स्त्रियाँ हाथों में स्वर्ण कंकण धारण करती थीं।[205] कलाई से आरम्भ होकर चक्करदार चूड़ी कोहनी की ओर बढ़ती थी। इस डिजाइन का प्रयोग कुण्डल, चूड़ी एवं अंगूठी, पायल सभी में सामान्य रूप से होता था। इस प्रकार की चूड़ियों के आगे एक मोटा अलंकृत कड़ा भी पहना जाता था। मथुरा से प्राप्त स्त्री-मूर्तियों से इनका चित्रण हुआ है (चि० 1)। आज भी इस प्रकार की चूड़ी पहनी जाती हैं तथा चूड़ी के पूर्व कड़ा पहना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी चूड़ियाँ स्त्री ही धारण करती थीं।

मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति में सम्भवतः दूध वाली स्त्री द्वारा पहनी गयी यह चूड़ियाँ न होकर चपटे-चपटे कड़े थे जिसके आगे गोल डिजाइन युक्त कड़ा भी था। यह प्रकार कम प्रचलित रहा।[206] (चि० 7) मथुरा से ही प्राप्त एक अन्य मूर्ति में सूर्य उदीच्य वेश के साथ हाथों में एक-एक मोटा कड़ा पहने हैं। यह गले की हसली के समान भारी है।[207] (चि० 3)। एक अन्य उदीच्य वेश (चि० 5) में पुरुष की कलाई में मटर का कंकन एवं गले में मटर की माला है। सम्भवतः उदीच्य वेश के साथ हल्का एक-एक आभूषण गले व हाथ में धारण किया जाता था।

देव सेनानी-कार्तिकेय की मूर्ति में हम हाथ में चार पृथक्-पृथक् अलंकरण के कंकड़ों का चित्रण देखते हैं। इनमें प्रथम कंकड़ पतला है दूसरा उससे चौड़ा तत्पश्चात् मटर का कंकण एवं अन्तिम कंकण तो लगभग चार उंगल चौड़ा है (चि० 9) एक अन्य बोधिसत्व की सिरविहीन मूर्ति में अंकित कंकणों में उच्च कोटि की कला प्रदर्शित हैं। प्रथम कंकण पतला गोल है, दूसरा इससे चार गुना चौड़ा, तीसरा मटर का कंकण, चौथा अत्यधिक भारी, गोल अलंकृत कंकण एवं अन्तिम भी उसी के समान चौकोर खाने वाला अलंकरण युक्त आकर्षक है। (चि० 12)। यह आभूषण जहाँ एक ओर कुषाण युग की उच्च कला को इंगित करते हैं साथ ही तत्कालीन वैभव को भी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंगूठी

उँगलियों का आभूषण अँगूठी था। बौद्ध साहित्य में इसे अँगुलिमुद्रा तथा मुद्रिका कहा गया।[208] बुद्ध चरित्र में वर्णित है कि उँगलियों में बहुमूल्य अंगुलीयक धारण की जाती थी। मथुरा संग्रहालय की एक स्त्री मूर्ति में चार अंगलियों में उंगूठियाँ हैं। अन्य आभूषणों की तुलना में अंगूठी के कम ही उल्लेख मिलते हैं। अंगूठी का एक प्रचलित प्रकार चक्करदार अंगूठी थी जिसे स्त्री व पुरुष समान रूप से धारण करते थे। एक बोधिसत्व की मूर्ति में अंगूठे में पहनी गयी चौड़ी अंगूठी स्पष्ट प्रदर्शित है। यह सम्भवतः चक्करदार प्रकार की ही थी। इसी मूर्ति में बाएं हाथ की सबसे छोटी उंगली में भी एक अंगूठी अनुमानतः पहनी गयी है। अति धूमिल इस अंगूठी में सम्भवतः नग प्रयुक्त हुआ है।[209] (चि० 12)। हरिद्वार से प्राप्त आभूषणों में एक सोने का तार भी है। यह मोटा एवं दोहरा मुड़ा हुआ है जिससे इसके वास्तविक स्वरूप के विषय में अनुमान ही लगाया जा सकता है कि यह चक्करदार अंगूठी रही होगी। उस युग में इस प्रकार की डिजाइन का विशेष प्रचलन भी था।[210] (चि० 20)। इसी प्रकार की अंगूठी सम्भवतः दूध लिए ग्वालिन के दाहिने हाथ के अंगूठे में है (चि० 7)। एक नृत्य करती हुई स्त्री-मूर्ति के बाएं हाथ की छोटी उंगली में एक फूल के समान अंगूठी धारण की गयी प्रतीत हो रही है। अस्पष्ट इस अंगूठी का वास्तविक स्वरूप बता पाना कठिन है। मुनि की रेती से प्राप्त स्वर्ण-आभूषणों में एक नग की अंगूठी भी है (चि० 21)। यह आधा इंच चौड़ी, चपटी अंगूठी है तथा पीछे से खुली है ताकि उंगली के अनुरूप उसे ढीला व कसा जा सके। इसके ऊपर बीच में एक पतली पत्ती गोल लगी है। इसमें सम्भवतः पत्थर लगाया गया होगा जो इस समय विद्यमान नहीं है। इन पत्थरों का विशेष प्रचलन था। यह संदिग्ध है कि इस प्रकार के पत्थरों का प्रयोग सुन्दरता हेतु किया जाता था अथवा ग्रहों के बुरे प्रभाव से मुक्ति हेतु।

मेखला

मेखला स्त्रियों का कमर का आभूषण था।[211] यह रत्न युक्त तथा ताम्र युक्त होती थी। इसे करधनी, किंकिणी, कटक, सुवर्णसूत्र, रशना, काँची, मेखला भी कहा जाता था।[212] घुंघरू युक्त बजने वाली करधनी को काँचीगुण कहा गया था। दिव्यावदान में वर्णित है कि स्त्रियाँ कमर में काँची एवं मेखला धारण करती थी।[213] मेखला का प्रयोग एक तो अलंकरण की दृष्टि से किया जाता था तथा दूसरा अधोवस्त्र को कसने हेतु। यह मेखला मोती एवं मनकों की लड़ियों से निर्मित विविध रूपों में धारण की जाती रही। यह एक पंक्ति से लेकर दस पंक्तियों तक चौड़ी आर्थिक स्तर अनुरूप धारण की जाती थी। बीच में इसके बक्कल भी होता था। तीन व चार पंक्ति बद्ध मेखलाओं का स्पष्ट अंकन मथुरा में प्राप्त पुष्प प्रचारिका (चि० 14) एवं प्रसाधिका की मूर्ति में हुआ है (चि० 1)। मेखलाओं का यह प्रकार विशेष प्रसिद्ध रहा। बक्कल भी इन मेखलाओं का आकर्षक अंग था। इससे मेखला की सुन्दरता अधिक हो जाती थी (चि० 18 और 19)।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पायल

पैरों का आभूषण पायल मात्र स्त्रियों के लिए था। पायल को नूपुर कहा जाता था। यह स्वर्ण निर्मित भी होते थे।[214] पैर के अन्य अलंकारों में पादास्तरिका तथा पादा-गुंलि-वेदिका का उल्लेख है।[215] पायल अन्य आभूषणों की भाँति विविध प्रकार की होती थी। चक्करदार पायल जिसके नीचे मगरमच्छ का मुंह बना है विशेष प्रयुक्त रही। पायल के इस प्रकार को शिवरामा मूर्ति जी ने यंजीर नाम से उद्धृत किया था।[216] इन चक्करदार पायल के नीचे अथवा ऊपर एक अलंकृत, मोटी, गोल पसली भी पहनी जाती थी। (चि० 22)। मोटे, गोल, अलंकृत यह पायल संस्कृत-साहित्य में पाद कटक कहलाए। पाद कटक अकेला भी पहना जाता था। पाद कटक का अन्य प्रकार जो आकर्षक था पान के समान आकार का पाद कटक था।[217] पायल भारतीय स्त्रियों के अतिरिक्त स्कर्ट आदि पहनने वाली स्त्रियाँ भी पहनती थीं।[218] यह नूपुर मणि और घुंघरुओं से युक्त चलने से बजती एवं सुन्दर प्रतीत होती थी।[219]

बच्चों के आभूषण

बालकों के आभूषणों की विशेष जानकारी तत्कालीन प्रतिमाओं से नहीं मिलती हैं। कतिपय प्रतिमाओं में ही उनके कर्ण, कण्ठ, आभूषणों का अंकन मिलता है। लखनऊ संग्रहालय की जिन मूर्ति की चरण-चौकी पर बने दो बच्चों के कण्ठाभूषण तथा कंकण स्पष्ट प्रदर्शित हैं। इनके गले में ग्रेवेयक एवं कलाई में वलय भी है।[220] एक प्रतिमा में बच्चों के कान एवं गलों को जड़ाऊ आभूषणों से समलंकृत दिखाया गया है।[221] इस सन्दर्भ में जैन साहित्य में उल्लेख है कि बालकों के तिलक लगाया जाता था तथा उनके हाथ, पैर व गले में आभूषण पहनाए जाते थे।

केश-विन्यास

भारत में केश-विन्यास का इतिहास भी मानवसभ्यता के विकास के समान प्राचीन है। मानव प्राचीनकाल से ही केशों को विविध रूपों में सुसज्जित करता रहा है। अलंकरण हेतु की गई केश-सज्जा व्यक्ति विशेष के सामाजिक अस्तित्व की बोधक भी थी। प्रायः सभी समाजों में इसका प्रचलन मिलता है यद्यपि इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है यथा—भारत में केशों को सोने-चाँदी आदि धातुओं से अलंकृत करते थे एवं पुरुष सामान्यतया पगड़ी पहनते थे। शासकों के सम्बन्ध में किरीट-मुकुट भी प्रचलित रहे। जबकि साधु-संन्यासी सिर पर सामने गोल जटाओं का जूड़ा एवं मुण्डित-सिर रखते थे। ईरानी समाज में टोपी का विशेष प्रचलन था। यह सिर पर चिपकी टोपी से लेकर कुषाण-कुलाहनुमा टोपी के समान ऊँची विविध रूपों में प्रयुक्त रही। मूर्ति-कला द्वारा केश-विन्यास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[222] सोंख (मथुरा) से उपलब्ध एक मुद्रा पर हुविष्क का अंकन है जो छोटी ट्यूनिक, कसी पैन्ट और जूते पहने हैं। इसके केश कन्धों तक लम्बे खुले प्रदर्शित हैं।[223] वस्त्रों की भाँति केश-सज्जा में भी अवसर का ध्यान रखा जाता था। शुभ अवसरों पर केशों को विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित किया जाता था परन्तु दुःख के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय अथवा दरिद्र अवस्था में प्रकीर्ण-केशों का ही वर्णन आता है।[224]

भारतीय-शिरोवस्त्र

मथुरा की मूर्ति-कला से विदित होता है कि भारतीय मूल के पुरुष प्रायः दाढ़ी-मूँछ रहित, केशों को घुंघराले अथवा बीच से माँग निकालकर सीधे रखते थे[225] जबकि विशिष्ट पुरुष-वर्ग पगड़ी धारण करता था। शासक पगड़ी के अलावा मुकुट भी धारण करते थे। पगड़ी भारतीय पुरुषों की वेशभूषा का आवश्यक अंग था।[226] विभिन्न हिन्दू-देवताओं जैसे—नागदेवता, कार्तिकेय (चि० 9), अग्नि, इन्द्र, विष्णु एवं ब्रह्मा के अतिरिक्त बोधिसत्व-प्रतिमाओं को भी पगड़ी से सुशोभित किया गया है। यह शिरोवस्त्र साहित्य में उष्णीष कहा गया।[227] केशों में कंघा करके पगड़ी पहन ली जाती थी। जिसमें से पीछे के केश स्पष्ट दिखते थे (चि० 23)। पगड़ी को व्यवस्थित रूप देने के लिए धातु-पट्ट प्रयुक्त मिलता है। यह धातुपट्ट कभी बाईं ओर, कभी दाईं ओर तथा कभी सामने मध्य में स्थित रहता था।[228] यद्यपि पगड़ी के बिना खुले सिर में जूड़े को रत्न-मोतियों से सजाने के उल्लेख भी मिलते हैं।[229] एक मूर्ति में नखाकृति-केश का चित्रण हुआ है (चि० 24)। इसके अतिरिक्त पगड़ी के बिना भी घुँघराले केश अथवा सिर के मध्य में जूड़ा बना लिया जाता था।[230] कुषाण-समाज में पगड़ियों के अनेक प्रकार प्रयुक्त रहे।[231] सिर में टोपी की भाँति पगड़ी होती थी जिस पर मध्यस्थ शंखाकृति अथवा मोर के पर के समान विभिन्न प्रकार के अलंकरण होते थे। यह शंखाकृति पूर्वकाल की अपेक्षा कुषाण-युग में छोटी हो गई थी।[232] गन्धार मूर्तियों में तिरछे पीछे खोसे हुए अलंकृत पगड़ी आदि के उल्लेख हैं।[233] मथुरा के भूतेश्वर महादेव स्थान से प्राप्त मेष आकृति युक्त पगड़ी, पगड़ी के एक नए प्रकार को स्पष्ट करती है। (चि० 25)। इस पगड़ी पर सामने किनारी है एवं दोनों ओर गाँठ बधीं हैं जो इसे मेष की आकृति देती है।

असगरपुर (मथुरा) से एक सुन्दर साफा पहने पुरुष-मस्तक प्राप्त हुआ है (चि० 26)। यह साफा दाईं ओर एक गाँठ द्वारा बँधा है। साफे का शेष भाग गाँठ में से निकल-कर लटक रहा है। पगड़ी के उपरोक्त स्वरूप निश्चय ही पगड़ी के उच्च स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

भारतीय शिरोवस्त्र में पगड़ी एवं साफे के अतिरिक्त मुकुट के भी उल्लेख मिलते हैं। यह ऊँचा उठा मुकुट अथवा ऊँची टोपी पर कशीदा किया हुआ अथवा अलंकृत-शिरोवस्त्र अथवा कमल के पत्ते के समान अलंकरण युक्त आदि विविध रूपों में धारण किया जाता था।[234] देवसेनानी कार्तिकेय की जो मूर्ति मथुरा से मिली है उसमें मुकुट का अंकन हुआ है (चि० 9)। उपरोक्त सभी शिरोवस्त्रों से भिन्न साधु केशों का जूड़ा सिर के ठीक मध्य बनाते थे एवं शेष सिर पर घुँघराले केश रखते थे (चि० 13)। प्रायः मुण्डित सिर भी रहते थे। बोधिसत्व अवस्था में अवश्य ही वह मुकुट, पगड़ी आदि धारण करते थे। वीम कैडफाइसेस एवं कनिष्क की स्वर्ण-मुद्राओं में शिव के सिर के मध्य एक जूड़ा प्रदर्शित हुआ है।[235]

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण-शिरोवस्त्र

कुषाण-शासन के फलस्वरूप सर्वप्रथम भारत में टोपी का श्रीगणेश हुआ। मथुरा में लम्बे समय तक शक-शासन के कारण टोपी प्रचलित हुई और गुप्तकाल तक प्रयुक्त रही।[236] काश्मीर में तुर्कमान टोपी का प्रचलन मध्य-एशिया के शकों द्वारा किया गया था। भारतीयों की पगड़ी की भाँति कुषाणों का शिरोवस्त्र टोपी था। कुषाण केशों को खोलकर सीधा एवं मध्यम लम्बाई का रखते थे। इस पर टोपी पहनते थे। टोपियों का आकर्षक अंग इनका आकार एवं अलंकरण था। मूर्तियों एवं मुद्राओं में टोपियाँ अनेक प्रकार की दृष्टिगोचर हुई हैं (चि० 19 और 27)। जिनमें सर्वाधिक प्रचलित टोपी अधिक ऊँची ऊपर से पतली एवं आगे किंचित झुकी होती थी (चि० 27) इस पर चारों ओर आकर्षक-अलंकरण भी होता था। मथुरा से प्राप्त ऐसी टोपी पर दाहिनी ओर नायस अक्षर बने हैं। यह टोपी कुलाहनुमा प्रकार की टोपी कहलाई। ऐसी टोपियों पर विभिन्न सूर्य-चन्द्र के अंकन होते थे।[237] इसके अलावा सीधी ऊँची टोपी जिस पर दो पतली पड़ी लकीर एवं ऊपर से नीचे तक बीच में खड़ी अलंकृत लकीर है यह ईरानी प्रभाव की टोपी थी (चि० 28)। कुषाण-कालीन टोपियों में ईरानी प्रभाव तत्कालीन भारत व ईरान के सम्बन्धों का प्रतिफल था।[238] टोपियों के अन्य प्रकारों में सिर से चिपकी गोल टोपियाँ जिसका शेष भाग पीछे लटकता रहता था[239] अथवा सिर से काफी ऊँची गोल टोपी जिसकी दीवार पर फूल-पत्ती बनी होती थी (चि० 29) अथवा दन्तपंक्ति के अलंकरण युक्त ऊँची मुकुट के समान टोपी आदि प्रयुक्त रही।[240] मोतीचन्द ने इसके अतिरिक्त प्रकार की टोपियों का चित्रण किया है।[241] एक उदीच्यवेशधारी सूर्य आकृति में टोपी का प्रदर्शन स्पष्ट एवं अतिसुन्दर हुआ है। यह टोपी दिल्लीवाल पगड़ीनुमा है। इस टोपी की अर्धवृत्ताकार छत का भाग उल्टा होता था। टोपी पूर्णतः अलंकृत है। इसमें से निकलते घुँघराले केश माथे पर तथा पीछे कंधे तक लम्बे दृष्टिगत हैं।[242] कभी-कभी चपटी टोपी को दोनों ओर सींगों से सुसज्जित किया जाता था (चि० 25)। अग्रवाल जी ने सींग के अंकन को ईरानी सम्राटों की तापशालिनी मुद्रा का परिचय बताया है।[243]

जहाँ तक स्त्रियों के केश-विन्यास का प्रश्न है लम्बे केश कुषाण-कालीन भारतीय स्त्रियों की शोभा मानी गई थी। बौद्ध साहित्य में विहित है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही लम्बे केश रखते थे।[244] स्त्रियाँ यदा-कदा भारी काम के मुकुट धारण करती थीं। सामान्यतया वह शेखरक से ही केश सजाती थीं।[245] लम्बे केशों को स्त्रियाँ विविध रूपों में सुव्यवस्थित करती थीं। केशों को एक अथवा दो चोटी अथवा खुले पीछे किये हुए अथवा आगे घुँघराले आदि प्रकार से सँवारती थी।[246] आजकल प्रचलित केश-पिन में केशों को दोहरा करके लगाया जाता था जिससे केशों की शोभा बढ़ जाती थी। कानों के पास दोनों ओर एक-एक लटा लटका दी जाती थी। ताकि उड़ते केश अच्छे लगें। (चि० 14)। मथुरा से प्राप्त मूर्ति में भोज एवं नृत्योत्सव में संलग्न कुटुम्बिनी स्त्रियों की केश सज्जा का चित्रण हुआ है। केशों के अग्रभाग में एक लघुव्रत-सा बनाया जाता था (चित्र 22)। यह व्रत एक सीधी रेखा द्वारा विमल भी होता था (चि० 18)। पीछे की ओर एक चोटी बना ली जाती थी। कभी-कभी ऊँची उठी टोपी पर बाईं ओर पल्लवित शिरोवस्त्र अथवा गोल चिपकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टोपी धारण करने का भी उल्लेख है। शिरोवस्त्र का एक अन्य सुन्दर प्रकार मथुरा के वैरागपुरा से प्राप्त मूर्ति में प्रदर्शित है (चि० 30)। लालटेन लिए हुए मैक्सी जैसी वेश-वाली स्त्री-मूर्ति में केशों का भी चित्रण है। स्त्री गोल टोपी के समान शिरस्त्राण धारण किए है पीछे केश खुले हैं।[247] दिव्यावदान में विहित है कि स्त्रियाँ सिर पर एक वस्त्र डाले रहती थीं जिसे शिरोत्तरपट्टिका कहा जाता था।[248] ललित-विस्तर में नववधू द्वारा सास-ससुर तथा श्रेष्ठीजनों के सम्मुख सिर पर पल्ला करने का उल्लेख है।[249] मथुरा की कतिपय मूर्तियों में स्त्रियों द्वारा पगड़ी धारण करने के अंकन है[250] परन्तु वह अतिअल्प हैं। अधिकांशतः मूर्तियों में उनके सिर अनावृत्त ही मिलते हैं जिससे अनुमान है कि स्त्रियाँ शिरोवस्त्र अपवादस्वरूप ही धारण करती थीं। प्रायः तो वह केशों को विविध रूपों में सँवारती थी।[251] नि.सन्देह स्त्रियों द्वारा सिर न ढकने का अभिप्राय केश-सज्जा का प्रदर्शन था।

निष्कर्ष

साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाण-कालीन वस्त्राभूषण, केशसज्जा का इतिहास भारतीय-सामाजिक इतिहास का महत्वपूर्ण विषय है। यद्यपि ईसा पूर्व की शताब्दियों में अनेक विदेशी-शक्तियों का समागम हुआ। इनमें विभिन्न दृष्टिकोणों से सभी का पृथक्-पृथक् महत्व है। कुषाण विजाति ने वस्त्रा-भूषण, केश-सज्जा के क्षेत्र में योगदान देकर भारतीय-समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया। अद्यावधि भारतीय-समाज में प्रचलित कोट-पैन्ट-टोपी की प्राचीनता कुषाण-युग की है। इस दृष्टि से कुषाण-युग का महत्व और भी बढ़ जाता है।

आज की भाँति कुषाण-समाज में भी वस्त्र सूती, ऊनी, रेशमी, मलमल आदि अनेकानेक प्रकार के प्रयुक्त रहे जिनका निर्यात रोम में खूब हुआ। वस्त्रों के विषय में उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम इसी समय से भारतीय-समाज में हम कटे व सिले, नाप युक्त वस्त्रों का बोलबाला देखते हैं। यद्यपि वैदिक-युग में भी भारतीय सिलने की कला से तो परिचित रहे परन्तु सर्वप्रथम कुषाणों के सम्पर्क में आकर भारतीयों द्वारा इनका विशेष प्रचलन किया गया। अतएव तत्कालिक मथुरा-कला में जहाँ एक ओर विशुद्ध भारतीय-वेश दृष्टिगोचर होता है साथ ही कुषाण-वेश भी। ठीक इसी प्रकार गन्धार-कला में कुषाण-वेष के साथ भारतीय-वेश भी प्रयुक्त रहा। वस्त्रों में कुषाण प्रभाव गुप्तकाल के प्रारम्भ तक विद्यमान था। दोनों ही संस्कृतियों द्वारा परस्पर वस्त्रों का आदान-प्रदान सामञ्जस्य के उच्च-स्वरूप का द्योतक है। क्योंकि भारतीय एवं कुषाण-वेश जलवायु अनुरूप ही आवश्यक माना गया था परन्तु कष्टकारी होने पर भी भारतीयों द्वारा कुषाण-वेश का अनुकरण निःसन्देह दोनों के मध्य आत्मीयता का एक बेमिसाल नमूना है।

आभूषण के प्रति भारतीय स्त्री-पुरुषों की सदैव से रुचि रही है। कुषाण-युग में भी भारतीय स्त्रियाँ आभूषणों से आवृत्त रहती थीं। पुरुष भी आभूषण प्रिय थे हालाँकि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष कम आभूषण धारण करते थे। उदीच्य-वेश में शरीर के वस्त्रावृत होने के कारण आभूषण की कोई उपयोगिता नहीं थी। अतएव भारतीय-वेश से प्रभावित होने पर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी गन्धार-कला में उदीच्य-वेश के साथ गले व हाथ में मात्र एक आभूषण ही प्रयुक्त रहा। आभूषण सोने, चाँदी, ताम्बे आदि बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त मनकों व पत्थरों आदि का भी विशेष प्रचलन रहा। इन पत्थरों का प्रयोग सुन्दरता हेतु किया जाता था अथवा अशुभ-ग्रहों से मुक्ति हेतु कहना कठिन है। आभूषण प्रायः सामाजिक व आर्थिक क्षमतानुरूप धारण किए जाते थे।

भारतीय पगड़ी की भाँति कुषाण शासक एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण टोपी धारण करते थे। यह सिर पर चिपकी टोपी से लेकर कुलाहनुमा ऊँची आगे झुकी ईरानी-टोपी तक विविध रूपों में प्रयुक्त रही। कुषाणों के वस्त्रों के समान टोपी का भी अनुकरण भारतीय-समाज में किया गया था।

वस्तुतः कुषाण-कालीन सामाजिक-परिवेश में वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास का विशेष महत्त्व है क्योंकि यह कुषाण एवं भारतीय संस्कृतियों में समन्वय के साथ उत्कृष्ट कला एवं सुख-वैभव का भी द्योतक है।

सन्दर्भ

1. मनु० 8।326; 12।64
2. दिव्या०, 132।5; 131।32
3. वही, 131।32
4. महाव०, 3।113, 3।442
5. लाल, ए०, संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भारतीय-जीवन, पृ० 341
6. दिव्या०, 170।32; 196।12-3
7. चन्द्र प्रा० भा० वे०, पृ० 95
8. महाव०, 3।442; 1।149; 1।235-6
9. ललित०, 7।113
10. वार्मिग्टन, इ० एच०, दि कामर्स बिटविन दि रोमन अम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ० 176
11. वाट डि० इको० प्रो० इन० पृ० 998-1026
12. दिव्या०, 196।12-3
13. महाव०, 2।116; 3।113
14. वार्मिग्टन, इ० एच०, वही, पृ० 160
15. वही, 160
16. दिव्या०, 196।12-3
17. वार्मिग्टन, इ० एच०, वही, पृ० 212
18. स्काफ, डब्ल्यू० एच०, वही, पृ० 72-3; 47
19. ललित०, 10।124
20. दिव्या०, 17।30-1
21. ललित०, 15।214
22. दिव्या०, 196।13

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

23. ललित०, 18।266
24. बा० छो० जै० स्मृ० ग्र०, पृ० 62
25. दिव्या०, 196।12-3
26. ललित०, 12।158
27. वही, 12।141
28. अवदान०, 2।65।17; 17।249।2
29. कनिंघम, स्तू० भर०, प्लेट 33
30. स्काफ डब्ल्यू०, एच०, वही, पृ० 38
31. महाव०, 1।260
32. दिव्या०, 17।8; 317।31; 22।25; 21।13
33. महाव०, 2।203
34. सौ०, 6।26
35. बु० च०, 23।3-7
36. महाव०, 2।467
37. महाभा०, 1, 1, 28, 206
38. दिव्या०, 255।24; 316।7; 107।20
39. पुरी, बी० एन०, वेलोडिक्ट्री एड्रेस, इन० से० आ० कुषा० ए०, 1984, पृ० 6
40. हल्लाडे, एम०, दि गन्धार स्टाइल, पृ० 29
41. आर० स० इन० एनु० रि०, 28, पृ० 104
42. थपलियाल, फा० एल० एन० इन० सो०, पृ० 45
43. ज० इन० सो० ओरि० आ०, 1944, 12, पृ० 9
44. आर० स० इन० एनु० रि०, 1932-3, पृ० 288
45. चन्द, प्रा० भा० वे०, पृ० 19
46. घुर्ये, इन० को०, पृ० 79
47. महाभा०, 2, 1, 2, 372
48. बाशम, व० दै० इन०, पृ० 212-3
49. ज० इन० सो० ओरि० आ०, 1944, 12, पृ० 72
50. स्मिथ, जै० स्तू० म०, पृ० 11, 15, 19,
51. जोशी, ला० एन० उत०, चि० 338
52. आर० रि०, 1915-6, प्लेट 57 बी० और सी०
53. स्मिथ, जै० स्तू० म०, प्लेट 28 पृष्ठ
54. शर्मा, म० म्यु० आ०, चि० 57
55. बाशम, व० दै० इन०, पृ० 212
56. दिव्या०, 158।22
57. सौ०, 5।7
58. स्मिथ, जै० स्तू० म०, प्लेट 64

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

59. ज० यू० पी० हिस० सो०, 19, पृ० 60, चि० 10
60. वोगल, जे० एफ०, दि कैटेलाग ऑफ दि आरक्योलाजिकल म्युजियम एट मथुरा, प्लेट 16
61. अवदान०, 35।184।9
62. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, दि डाइनेस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणाज, चि० 12, 22, 57, 63
63. रा० सं० ल० मू० सं० 91 बी०, 93 बी०
64. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 4
65. स्मिथ, जै० स्तू० म०, प्लेट 6
66. वोगल, जे० एफ०, वही, प्लेट 18
67. वही, प्लेट 17 ए०
68. इन्घोल्ट, एच०, गन्धार आर्ट इन पाकिस्तान, चि० 3, 10, 14
69. घुर्ये, इन० को०, पृ० 83
70. दिव्या०, 18।28
71. अल्टेकर पो० वो० हि० सिवि०, पृ० 334 से
72. सोलोमन, आर०, डेली लाइफ इन एंशियंट मथुरा, पृ० 5
73. कनिंघम, स्तू० भर०, पृ० 33
74. फर्गुसन, जे०, ट्री एण्ड सर्पेन्ट वर्शिप, पृ० 102-3
75. चन्द, प्रा० भा० दे०, पृ० 122
76. वोगल, जे० एफ०, वही, प्लेट 7 बी०, 7 ए०
77. स्मिथ, जे० स्तू० म०, चि० जे० 57
78. रा० सं० म० मू० सं०, 14, 369
79. मिश्रा, आर० एन०, रिप्रजेन्टेशन आफ यक्षाज़ एण्ड यक्षिनीज़ इन कुषाण आर्ट, पृ० 8
80. रा० सं० म० मू० सं०, 1 म० 80
81. हल्लाडे, एम०, वही, प्लेट 22
82. चन्द, प्रा० भा० वे०, पृ० 104
83. तिवारी, आइ० पी०, कुषाण एवं गुप्तकालीन वेशभूषा तथा आभूषण, पृ० 98
84. कोहलर, के०, वही, पृ० 82-3
85. मुकर्जी, म० सो०, पृ० 126 पाद-टिप्पणी 160
86. थपलियाल, फा० ए० एन० इन० सो०, पृ० 59
87. चन्द, प्रा० भा० वे०, पृ० 142
88. रा० सं० ल० मू० सं०, 26313, 3852
89. रा०, सं० म० मू० सं०, 12, 213
90. आर० स० इन० रि०, 1911-2, पृ० 124, प्लेट 54-6
91. अग्रवाल, इ० सां० अ०, पृ० 151

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

92. शर्मा, बी० एन०, सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया, पृ० 277
93. रा० सं० म० मू० सं०, 36-2661
94. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 499
95. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, चि० 62 ए०
96. ज० अमे० ओरि० सो०, 1983, 103 पृ० 559
97. फूल्मकिन, आरक्योलाजी इन सोवियत सेन्ट्रल एशिया, पृ० 113-4
98. रा० सं० म० मू० सं०, 12, 213
99. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, चि० 13, 74
100. आर० स० इन० एनु० रि०, 1911-2, पृ० 122, प्लेट 53
101. स्टेन, ए०, सिरिन्डिया, पृ० 438
102. अग्रवाल, भा० क०, पृ० 256
103. ऋग्वेद, 1,133,2
104. चन्द, प्रा० भा० वे०, पृ० 20
105. सरकार, एस० सी०, सम आसपेक्ट्स ऑफ दि अर्लियस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, पृ० 69
106. महाभा०, 5, 1, 2, 337
107. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 497, 501, 510-6
108. दिव्या०, 431।19-20
109. एरियन, इन्डिका, पृ० 16
110. रा० सं० म० मू० सं०, ए० 47
111. वही, बी० 3
112. सोलोमन, आर०, वही, पृ० 4
113. वोगल, जे० एफ०, वही, प्लेट सी० 2, जे० 63
114. चन्द्र प्रा० भा० वै०, पृ० 125
115. मुकर्जी म० सो०, पृ० 126
116. सोलोमन, आर०, वही, पृ० 5
117. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 86
118. अग्रवाल, ह० च०, सां० अ०, पृ० 152
119. रोज़ेनफील्ड, जे० एम०, वही, चि० 47
120. अल्टेकर, पो० वो० हि० सिवि०, पृ० 294
121. रा० सं० म० मू० सं०, बी० 12, 18, 1543
122. वही, 12, 18, 1276
123. वही, 34-2547
124. वही, 12-211, बी० 12
125. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 12
126. दि पाय०, 1981, 21 मई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

127. रा० सं० म० मू० सं०, 1509
128. वही, 14-382, सी० 15
129. वही, 1325, सी० 15
130. वही, सी० 15
131. अग्रवाल, ह० च० सां०, अ०, चि० 69 और 73
132. रा० सं० म० मू० सं०, 34-2514
133. जोशी, प्रा० भा० भू० वि०, पृ० 60-1
134. रा० सं० म० मू० सं० एच० 1
135. रा० सं० म० मू० सं०, क्यू० 2
136. ललित०, 18।295
137. बु० च०, 11।17
138. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 82, जे० 91, बी० 67
139. स्मिथ, जे० स्तू० म०, प्लेट 17, चि० 2
140. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 37
141. वही, जे० 20
142. जैन, जे० सी०, जैन-आगम-साहित्य में भारतीय-समाज, पृ० 215
143. रा० सं० दि० मू० सं०, 894
144. रा० सं० म० मू० सं०, 1605
145. दिव्या०, 61।16; 473।2, 16; 317।31; 287।25
146. रा० सं० म० मू० सं०, 1695, सी० 30; 2331; 2947; 985
147. वही, 2947, 2520, जे० 1
148. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 11, जे० 12
149. जैन, जे० सी०, वही, पृ० 213-4
150. डफाल, के० बौद्ध-वाङमय में नारी, पृ 67
151. रा० सं० म० मू० सं०, सी० 30, एफ० 35, एफ० 8
152. महाव०, 1।138
153. याज्ञ०, 1।131
154. मनु०, 4।66, 18
155. दिव्या०, 188।6
156. जैन, जे० सी०, वही, भूमिका पृ० 9
157. महाव०, 2।470
158. शर्मा म० म्यु० आ०, चि० 50, 1, 3, 4-7
159. सोलोमन, आर०, वही, पृ० 6
160. जोशी, म० स्क०, चि० 160
161. स्मिथ, जै०स्तू० म०, प्लेट 20
162. दिव्या०, पृ० 288।15-6, 290।3

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

163. सद्धर्म०, 13।190
164. ललित०, 15।209
165. अवदान०, 46।259।11; 7।36।10
166. वोगल, जे० एफ०, वही, प्लेट 59 ए०
167. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 250, जे० 19, जे० 25
168. कोडरिंग्टन, एंशियंट इण्डिया, प्लेट 22 ए०
169. स्मिथ जे० स्तू० म०, प्लेट 100
170. रा० सं० ल० मू० सं०, 46-80
171. रा० सं० म० मू० सं०, सी० 30, एम० 4, 2530, 15-785, 4448
172. वही, 186
173. स्मिथ, जे० स्तू० म०, प्लेट 100
174. रा० सं० म० मू० सं०, एफ० 42, चन्द सार्ध०, पृ० 10
175. दिव्या०, 470।23; 16।13-5; 2।9
176. सौ०, 4।16
177. महाव०, 2।352
178. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 618
179. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 75
180. रा० सं० स० मू० सं०, पी० 79, जे० 63, जे० 64, एच० 1, ए० 1
181. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 84
182. वही जे० 250
183. रा० सं० म० मू० सं०, एफ० 11, 43-3099
184. वही, 1-15
185. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 589-96
186. रा० सं० म० मू० सं०, 2856, सी० 15
187. अवदान०, 46।259।11, 50।28।15
188. रायपसेणीयसूत्र, 41, 137
189. अवदान०, 55।31।4।6
190. दिव्या०, 5।31
191. महाव०, 2।472
192. अवदान०, 71।5।5
193. दिव्या०, 7।31
194. वही, 273।17
195. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 75
196. रा० सं० म० मू० स०, 47-3374, 1506
197. अवदान०, 8।16।8
198. रा० सं० म० मू० सं०, 14-392-95, सी० 15, इ० 24

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

199. महाव०, 2।352; 2।311
200. दिव्या०, 196।28; 315।30; 5।31; 7।31
201. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 490
202. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 61
203. रा० सं० ल० मू० सं० बी० 86
204. महाव०, 2।473
205. दिव्या०, 196।27-8
206. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 86
207. रा० सं० म० मू० सं०, 12-269
208. दिव्या०, 296।19
209. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 12 बी०
210. वही, 75-67-18
211. बु० च०, 8।22
212. बु० च०, 4।33; 5।55; 3।14
213. दिव्या०, 288।30
214. महाव०, 4।54; 3।270
215. वही, 2।470
216. शिवरामामूर्ति, सी , अमरावती स्कल्पचर्स, पृ० 114
217. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 720
218. रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 65
219. दिव्या०, 288।30
220. रा० सं० ल० मू० सं० जे० 12
221. रा० सं० म० मू० सं०, 1276
222. जोशी, म० स्क०, चि० 1
223. एशि० सो० इन०, 1973, 15, पृ० 210
224. सो०, 6।1-10
225. जोशी, म० स्क०, चि० 75, 89
226. बु० च०, 2।6
227. अवदान०, 1।6।3
228. रा० सं० ल० मू० सं० बी० 14, 182; 47, 623
229. चन्द, प्रा० भा० वे०, चि० 131-3
230. सोलोमन, आर०, वही, पृ० 2
231. जोशी, ला० एन० उत्त०, पृ० 154-6, 158, चि० 442, 445-50, 454-78 ए०
232. जोशी वही, पृ० 156-7
233. आर० स० इन० एनु० रि०, 1912-3, प्लेट 6 ए०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

234. वोगल, जे० एफ०, वही, पृ० 46, प्लेट 33
235. ज० न्यू० सो० इन०, 1979, 41, पृ० 18
236. सिंह, एम० जे०, अजन्ता, प्लेट 50
237. अग्रवाल हं, क० म्यु० आर०, प्लेट 16, 33
238. वान लोहुज़ेन डी लिड, जे० इ०; 'फारेन एलिमेन्ट इन इण्डियन कल्चर इन्ट्रोड्यूज्ड वाई दि सीथियन्स', पृ० 7
239. जोशी, ला० एन० उत्त०, 476, 502-3
240. जोशी, ला० एन० उत्त०, चि० 489
241. चन्द, प्रा० भा० वे०, चि० 157, 59
242. अग्रवाल हं०, क० म्यु० आर०, प्लेट 13, चि० 26
243. अग्रवाल भा० क०, पृ० 262
244. दिव्या०, 272।31
245. आर० स० इन० एनु० रि०, 1911-2 प्लेट 41, 16
246. स्मिथ, जे० स्तू० म०, 34-5, जे० 44
247. रा० सं० म० मू० सं०, 13-363
248. दिव्या०, 158।20
249. ललित०, 12।157
250. रा० सं० म० मू० सं०, 2345, जे० 63-4 एम० 4
251. चन्द, को० टे० को० को० एन० मि० इन०, पृ० 42

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

11

मनोरंजन

आज की भाँति कुषाण-समाज में भी शरीर को स्वस्थ एवं मन को प्रसन्न रखने हेतु मनोरंजन नितांत आवश्यक माना गया था। मनोरंजन सम्बन्धी नाना प्रकार के साधन थे। यह व्यक्ति की आयु, अभिरुचि, परिस्थिति अनुरूप भिन्न-भिन्न होते थे। बालक सामान्यतया घर में खिलौनों आदि से खेलकर मनोरंजन करते थे। युवक शारीरिक श्रम वाले खेलों में विशेष आनन्द लेते थे। वह कूदने-फांदने के खेल खेलते थे। वृद्ध स्थिर-प्रकृति के खेल पासा, शतरंज, संगीत, व अभिनय के दृश्य आदि द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। स्त्रियाँ शारीरिक रूप से अपेक्षाकृत दुर्बल होने के कारण तदनुरूप शान्त खेलों में आनन्द लेती थीं। इस सन्दर्भ में वन-विहार अर्थात् सलिल, उद्यान एवं दोहड़े क्रीड़ाओं, पक्षी-पालन आदि का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि पुरुषों के मनोरंजन पराक्रम के परिचायक थे जबकि स्त्रियों के मनोरंजन उनकी सुकोमलता के। इसका विशद उल्लेख समकालिक साहित्य तथा मूर्तिकला में हुआ है।

बालक—बालकों के मनोरंजन का आकर्षक-अंग गेंद थी। संस्कृत में इसे कन्दुक कहा गया। मूर्तियों में कन्दुक-क्रीड़ा के अनेक दृश्य हैं।[1] सद्धर्म-पुण्डरीक में वर्णित है कि बालक मिट्टी के बने खिलौनों से खेलते थे।[2] यह रंग-विरंगें अनेक प्रकार के होते थे (नाना वर्णानि बहुप्रकाराणि)।[3] इनमें छोटे-छोटे रथों में जुते बैलों और मृगों का उल्लेख है।[4] मथुरा-कला के एक चित्रण में बच्चे मिट्टी से बनी गाड़ी से खेल रहे हैं।[5] बालक प्रायः बालू में (सिक्ता) खिलौनों से खेलना विशेष पसन्द करते थे। एक रोते बच्चे को माँ खिलौना बजाकर चुप कराती उकेरी गई है।[6]

युवक—युवक क्रीड़ा स्थानों में विभिन्न शारीरिक-परिश्रम वाले खेल खेलते थे। युवावस्था में शक्ति अधिक होने के कारण वह कूदने, फादने, दौड़ने वाले खेलों में विशेष रुचि लेते थे। इससे शारीरिक व्यायाम भी हो जाता था। अवदान-शतक में व्यायामशाला का उल्लेख मिलता है।[7]

युवावस्था में मल्ल-क्रीड़ा का विशेष आकर्षण रहता था। मल्ल-क्रीड़ा दांव-पेचों का खेल था। ललित-विस्तर में मल्ल-क्रीड़ा हेतु 'रंग-मण्डल' स्थान का उल्लेख है।[8] जब कि पतंजलि इस सन्दर्भ में मल्लशाला शब्द प्रयुक्त करते हैं।[9] मल्ल-प्रतियोगिता के अनेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृश्य तत्कालीन कला में प्रदर्शित हैं।[10] यह मल्ल-प्रतियोगिता शक्ति-प्रदर्शन हेतु की जाती थी। प्रायः गन्धार कला के सभी दृश्यों में मल्लों के पैर पृथ्वी पर दृढ़ता से टिके हैं।[11] महाभारत में भी मल्ल-क्रीड़ा का स्पष्ट उल्लेख है।[12] मल्ल के द्वारा कसकर हाथ से पकड़ने के लिए 'मुष्टिबंध' शब्द आता है।[13] एक अन्य दृश्य में एक मल्ल दूसरे की कमर दोनों हाथों से पकड़े है तथा दूसरा पहले की गर्दन पकड़े है। कलकत्ता संग्रहालय में स्थित गन्धार-कला के एक नमूने में मल्ल कुश्ती में परस्पर सम्बद्ध हैं।[14] मल्ल-प्रतियोगिता देखने हेतु दर्शकों के लिए प्रेक्षागार होते थे।

मल्ल-क्रीड़ा के समान मनुष्य-पशु-क्रीड़ा में भी शक्ति-प्रदर्शन प्रधान उद्देश्य होता था। बिना शस्त्र के शेर जैसे पशुओं को परास्त करना वास्तव में अद्भुत बल का परिचायक था। महाभारत के विराट्-पर्व में ऐसे उल्लेख आते हैं।[15] मथुरा के एक दृश्य में शेर की भयंकरता पर काबू पाता एक बलिष्ठ व्यक्ति दर्शित है। एक अन्य दृश्य में पंख-युक्त शेर से लड़ते व्यक्ति का चित्रण हुआ है।[16] सांची के एक दृश्य में जो मनुष्य-पशु युद्ध-सम्बन्धी सर्वप्रथम है, एक व्यक्ति घुँघराले बाल पर टोपी पहने तथा बिना बाँह का लम्बी फ्राकनुमा वस्त्र ऊपर तथा पैर में ऊँचे जूते पहने है दाएँ हाथ में एक नुकीला शस्त्र है एवं बाएँ हाथ में अपनी सुरक्षा हेतु बड़ा सा कवच है इस दृश्य के आधार पर इतिहासकार मैके मनुष्य-पशु-युद्ध की उत्पत्ति विदेशी मानकर इसे पर्सेपोलिस की प्रमुख विषयवस्तु स्वीकार करते हैं परन्तु पूर्व इतिहासकार एवं महाभारत में आए उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शौर्य एवं साहसिक कार्य करना भारतवासियों का प्रमुख मनोरँजन था।[17]

धनुर्विद्या सामान्यतया किशोरों का प्रधान आकर्षण था। यह राज्यवर्ग में विशेष प्रचलित रही। मनुस्मृति में धनुर्विद्या क्षत्रिय-वर्ग का आवश्यक कर्तव्य वर्णित है। धनुर्विद्या में सर्वाधिक दक्षता जानने हेतु प्रतियोगिताओं के प्रदर्शन होते थे। महाभारत में एकलव्य एवं अर्जुन विषयक अनेक ऐसे उल्लेख हैं।[18] प्रतियोगिताओं का आयोजन 'संथागार' में होता था। ललित-विस्तर में वर्णित है कि प्रतियोगिता के विजेता को पुरस्कृत किया जाता था।[19] गन्धार-कला में इसका सुन्दर प्रदर्शन हुआ है।[20]

शिकार द्वारा मनोरंजन वैदिक-काल से समाज में विद्यमान रहा है। शिकार प्रायः प्रौढ़ावस्था वाले व्यक्ति करते थे।[21] शिकार मनोरंजन हेतु किया जाता था। इसके अतिरिक्त व्यवसाय हेतु शिकार करने के भी उल्लेख हैं। महावस्तु में विहित है कि राजा सेना सहित शिकार के लिए जाते थे।[22] मथुरा-संग्राहलय में स्थित एक मृण्यमूर्ति के दृश्य में तीन सूकरों का पीछा करते हुए दो घोड़ों पर सवार आखेटक प्रदर्शित हैं।[23] पतंजलि इसके लिए 'लुब्धयोग' शब्द प्रयुक्त करते हैं।[24] इस दृश्य में मुड़ी गर्दन वाले मृग के चित्रण को इतिहासकार जोशी पीछे जंगली पृष्ठभूमि बताते हैं।[25] ललित-विस्तर में राजवंशियों के आमोद-प्रमोद हेतु राज-क्रीड़ा एवं राज-लीला का उल्लेख है।[26]

वृद्ध—समाज के वृद्धजन शान्त-प्रकृति के खेलों द्वारा मनोरंजन करते थे चूंकि वृद्धावस्था में शरीर के शिथिल पड़ जाने के कारण शारीरिक-श्रम सम्भव न था। अतएव वह शतरंज, पासा एवं द्यूत-क्रीड़ा द्वारा अपना समय व्यतीत करते थे।[27] द्यूत-क्रीड़ा साहित्य में वैदिक-काल से निरन्तर मनोरंजन के साधन रूप में प्रयुक्त रही है। हालाँकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनसाधारण इसके दुष्परिणामों से भी परिचित थे।[28] गर्व की बात है कि शतरंज जैसे उच्च मानसिक स्तर के खेल का आविष्कार भारत में हुआ था।[29] शतरंज खेलने से अच्छा बौद्धिक-व्यायाम हो जाता था। पासा भी वृद्ध-जनों का खेल था। मिलिन्द-पन्हों में इस क्रीड़ा में एक न्यायाधीश (अक्शदर्शक) का उल्लेख हुआ है।[30] इतिहासकार पुरी का विचार है कि पासा मात्र शानदार परिवारों में बाजी लगाकर खेला जाता था।[31] पतंजलि ने वृद्धों के लिए भोजनोपरान्त (भुक्त्वा ब्रजति) विचरण करना अच्छा व्यायाम वर्णित किया है।[32] दिव्यावदान एवं महावस्तु में भ्रमण हेतु आकर्षक स्थानों का उल्लेख है।[33]

स्त्रियाँ—तत्कालीन स्त्री-मूर्तियों में प्रदर्शित भाव-भंगिमा से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ गृह-कार्य के उपरान्त विविध रूपों में मनोविनोद करती थीं। इस सन्दर्भ में स्त्री एवं पक्षी विषयक विवरण उल्लेखनीय है जिनसे विदित होता है कि सर्वादिक प्रिय पक्षी तोता था। मथुरा के एक दृश्य में तोता पिंजरे से बाहर आकर स्त्री के कन्धे पर बैठा है। जबकि एक अन्य दृश्य में, स्त्री बाएं हाथ पर बैठे तोते को दाएँ हाथ में स्थित फल दिखाकर ललचा रही है।[34] मथुरा के ही एक रेलिंग-स्तम्भ पर एक स्त्री शुक के साथ प्रदर्शित है। स्तम्भ पर स्थित नृत्य करती स्त्री की प्रसन्नता के आधार पर अग्रवाल का विश्वास था कि यह प्रेमी का समाचार प्राप्त करने के उपरान्त की प्रसन्नता है।[35] कामसूत्र में उल्लेख है कि भोजनोपरान्त व्यक्तियों को तोते को बुलवाना और लावक चिड़ियों, मुर्गों तथा भेड़ों की लड़ाई देखनी चाहिए।[36] मोर एवं हंस विशेषकर स्त्रियों द्वारा पाले जाते थे। मथुरा के एक दृश्य में स्त्री अपने केश धोकर खड़ी है तथा मोर पीछे खड़ा केशों से टपकती जल की बूंदों को ग्रहण करता प्रदर्शित है। एक अन्य उदाहरण में स्त्री हंस से खेलती स्पष्ट दर्शित है।[37] कंकालीटीले से प्राप्त एक दृश्य में नृतकी की मेखला पर स्थित तोते के द्वारा पदक पर ठोंग मारने का दृश्य अत्यन्त आकर्षक है।[38]

शुक एवं सारिका का उपयोग स्त्रियों के प्रेम समाचार पहुँचाने व लाने में किया जाता था।[39] मथुरा-कला में एक स्त्री गेन्द को ऊपर उछालकर दाहिने हाथ की कोहनी पर रोकती दृष्टिगत है। जिससे विदित होता है कि स्त्रियाँ कन्दुक से खेलकर मनोरंजन करती थीं। अवदानशतक में पान-गोष्ठी में झूलाझूलकर मनोविवाद के उल्लेख हैं।[40] उपरोक्त समस्त विवरणों से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ प्रायः घर में खेले जाने वाले शान्त-प्रकृति के खेल खेलती थीं।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों के मनोरंजन का आकर्षक एवं बहुप्रचलित अंग वन-विहार था। वनविहार के अन्तरगत पुष्प-प्रचारिका, दोहद एवं सलिल-क्रीड़ा आते थे। प्रसंगवश इनका संक्षिप्त उल्लेख उचित होगा। अवदान-शतक में पुष्प-प्रचारिका क्रीड़ा के लिए शाल-भंजिका नाम आया है।[41] मथुरा एवं कन्धार की कलाओं में शाल-भंजिका का विशेष चित्रण मिलता है।[42] मथुरा के एक दृश्य में स्त्रियाँ पुष्पों का संग्रह करती चित्रित हुई हैं।[43] एक अन्य दृश्य में पुष्प तोड़ती प्रसाधिका का चित्रण मनोरंजन का द्योतक है।[44] पुष्पों का प्रयोग आभूषण हेतु होता था एक स्तम्भ पर स्त्री अपने साथी को माल्य-चँगेरी अर्पित कर रही है (चि० बी० 80) जबकि अन्य में अशोक वृक्ष के नीचे खड़ी स्त्री अपनी वेणी पुष्पों से अलंकृत कर रही है। कलाविद् वोगल[15] ने इसके दो रूपों पुष्प-प्रचारिका

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा वेणी-पुष्प-प्रचारिका का उल्लेख किया है। पुष्प-प्रचारिका में झुकी हुई पुष्पित-शाला में स्त्री के द्वारा पुष्प-चयन होता था तथा वेणी पुष्प-प्रचारिका में उद्यान में जाकर विविध प्रकार के पुष्पों को शृंगार हेतु चयन करना होता था। मथुरा के एक अन्य चित्रण में स्त्री एक वृक्ष के तने से पीठ सटाए खड़ी है और हाथ में सुन्दर सनाल कमल थामे हुए है।[46]

काव्य-प्रकाश ग्रन्थ में नायिका द्वारा वृक्ष में पाद-प्रहार करना, आलिंगन करना एवं उसके नीचे कृत्य करना दोहड़-क्रीड़ा के अन्तरगत आता था। ऐसे मनोरंजन के लिए अशोक, कदम्ब, आम्र एवं ताड़ वृक्ष उपयुक्त रहते थे। वैसे अशोक वृक्ष सर्वाधिक प्रसिद्ध था। ऐसी धारणा थी कि नायिका के बाएँ चरण प्रहार के बिना अशोक-वृक्ष पुष्पित नहीं होता। मथुरा की अनेक मूर्तियों में स्त्री अशोक वृक्ष के नीचे खड़ी है और बाएँ हाथ से एक शाखा झुकाकर उस पर बाएँ पैर से स्पर्श करती है। मथुरा के ही एक दृश्य में वृक्ष के नीचे खड़ी स्त्री मदिरा पात्र लिए है। जबकि अन्य में वृक्ष के नीचे वीणा बजाती स्त्री खड़ी है।[47]

सलिल क्रीड़ा में स्त्रियों द्वारा नौका-विहार, नदी या झरने में स्नान करना आता था। गन्धार कला के दृश्य में कमल युक्त तालाब में हाथियों के ऊपर बैठकर नहाती स्त्रियों का चित्रण है वहीं एक अन्य स्त्री पुरुष प्रदर्शित हैं। पुरुष शराब का प्याला लिए है एवं स्त्री पानी में पैर डाले बैठी है।[48] लखनऊ संग्रहालय के सलिल क्रीड़ा के प्रदर्शन में एक पार्श्वगत मुद्रा में खड़ी नग्न स्त्री के उर्ध्व भाग में एक पहाड़ी झरना उतरकर पीठ से छूता हुआ नीचे ताल में एकत्रित हो रहा है। अन्य दृश्य में एक स्तम्भ पर गिरि-निर्झर के नीचे एक स्त्री स्नान कर रही है।[49] अवदान-शतक में रमणी-रमण को मनोविनोद का सर्वोत्तम साधन माना गया था।[50]

सामूहिक मनोरंजन

उपरोक्त वर्णित मनोरंजन विभिन्न आयु वालों के लिए पृथक्-पृथक् थे। इसके अतिरिक्त कतिपय मनोरंजन जैसे—समाजोत्सव, गायन-वादन-नृत्य आदि प्रायः सभी अवस्था वालों के लिये समान रूप से प्रयुक्त मनोविनोद के साधन थे। इस सन्दर्भ में सद्-धर्म पुण्डरीक में सुन्दर एवं स्वच्छ उद्यानों का उल्लेख जनसाधारण के लिए वर्णित है।[51]

धार्मिक-पर्वों एवं अन्य अवसरों पर वर्तमान मेले की भाँति आयोजनों को कुषाण काल में 'समाजोत्सव' कहा गया।[52] पतंजलि ने इस प्रकार के उत्सव के लिये समाज, समास और समवय शब्दों का प्रयोग किया है।[53] विभिन्न ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सामान्य ग्राम उत्सवों के अतिरिक्त नगरोत्सव एवं गणोत्सव भी होते थे।[54] महाभारत में भी द्रोणाचार्य द्वारा समाज के आयोजन का उल्लेख है। प्रायः सभी को इस समाज में जाने के समान अवसर थे।[55] समाजोत्सव में वृद्ध, स्त्री, पुरुष, बालक सभी भाग लेते थे इसमें गायन, वादन, नृत्य, मल्ल-क्रीड़ाएं, मनुष्य-पशु प्रतियोगिता, आखेट, नटों के खेल, अभिनय भोजन एवं पेय पदार्थों की व्यवस्था आदि होती थी।[56] इनमें से कतिपय विषयों का उल्लेख प्रसंगवश किया जा चुका है शेष गायन-वादन-नृत्य आदि का विवरण प्रस्तुत है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध था। यद्यपि गायन, वादन एवं नृत्य का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन भी सम्भव था। कुषाण समाज में संगीत के इन तीनों अंगों का प्रचलन मनोरंजन हेतु होता था।[57] इस प्रकार के मनोरंजन हेतु आयु निर्धारित न थी वरन् वृद्ध, स्त्री, पुरुष, बालक सभी समान रूप से संगीत का आनन्द लेते थे। इसके अतिरिक्त मात्र कुछ परिवारों में गायन, वादन एवं नृत्य व्यवसाय रूप में प्रयुक्त रहा जिसे शैलालकास् कहा गया।[58] मथुरा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गायन, वादन नृत्य, अभिनय छन्दक-बन्धुओं जैसे परिवारों का व्यवसाय सा बन गया था।[59] अवदान-शतक श्रावस्ती के 500 संगीतज्ञों और उनके विशेषज्ञों (गन्धर्विकाराजा) का उल्लेख इसी सन्दर्भ में हुआ है।[60] ललित विस्तर नट-रंग सभा का उल्लेख करता है।[61] सद्धर्म-पुण्डरीक में संगीत गोष्ठी के दृश्य में गायक एवं चार नर्तकियों का अंकन है इसमें वीणा-वादिका, ताली-वादिका, मजीरा-वादिका एवं ढोलकी-वादिका है।[62] मथुरा कला में इस प्रकार के गोष्ठियों के प्रतीकात्मक-चित्रण में 6 वाद्यों को भी उकेरा गया है। इस प्रकार के सामूहिक संगीत के आयोजनों का चित्रण गन्धार कला में भी मिलता है।[63] मथुरा के एक दृश्य में एक वृद्ध, एक स्त्री एवं दो लड़के गाते-बजाते चित्रित हैं।[64] मथुरा के गोल स्तम्भ पर प्रदर्शित एक नर्तकी के बाईं ओर एक व्यक्ति मृदंग एवं अन्य बेलनाकार-ढोलक के समान वाद्य को लेटाकर बजाते उकेरा गया है।[65]

लयबद्ध एक स्वर में गाया गया गाना कर्णप्रिय होता था (एकस्वरेण समंसंगीत्या)।[66] सौन्दरनन्द एवं बुद्ध-चरित में वर्णित है कि संगीत उच्च स्वर एवं अभिनय अनुरूप मधुर स्वर में गाया जाता था। महावस्तु में ताल एवं लय से गाने वाले को तालिक एवं गायनक कहा गया।[67] संगीत में संगत का भी विशेष महत्व था। गायन में वाद्यों द्वारा संगत दी जाती थी। इसके अतिरिक्त वाद्यों का स्वतन्त्र प्रयोग भी होता था।[68] साहित्यिक ग्रन्थों में ड्रम (भेरी), कंबु (शंख), तुरही, सुघोषा (शोर वाले ड्रम), झांझ, (दुंदुभी), वीणा, मृदंग, किंकण (अन्य प्रकार के ड्रम) पणव, तुणव, वल्लकी और मुकुन्द आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।[69] मार्शल द्वारा गन्धार की मूर्तियों में प्रदर्शित वाद्यों में मजीरा, ड्रम, वीणा, बीन, सारंगी, बांसुरी, खंजरी है। गन्धार कला के एक दृश्य में वादक के बाएँ कन्धे पर वीणा, बीन, तुरही, बांसुरी, खंजरी और एक छोटा ड्रम लटका है वादक ड्रम पर दाएँ हाथ के आघात द्वारा अन्य वाद्यों के समान स्वर निकाल रहा है।[70] यह कफीरकोट के संगीतज्ञों और अनुयायियों का दृश्य है जिसे मार्शल प्रथम शताब्दी के मध्य अथवा तृतीय चरण मानते हैं। मथुरा-संग्रहालय में स्थित एक मूर्ति में बाजों सहित पूजनार्थ जाते हुए गृहस्थ उपासक समूह का चित्रण है जिसमें वीणा एवं बांसुरी वाद्यों का अंकन स्पष्ट है[71] (चि० 39)। मथुरा की मूर्तियों में हमें मृदंग, शंख, बांसुरी, ड्रम और बड़ी नली आदि वाद्यों का विशेष प्रचलन विदित होता है।[72] मथुरा के वेदिका-स्तम्भ में एक स्त्री बाईं ओर खड़ी है एवं दायां पैर वृक्ष से लगाकर वीणा बजा रही है।[73] इसी प्रकार एक अन्य दृश्य में ताल वृक्ष के नीचे पर्यंक पर बैठी स्त्री वीणा बजा रही है।[74] एक नृत्य करती स्त्रियों के एक दृश्य में वीणा का तो स्पष्ट उल्लेख है परन्तु खड़ी एक स्त्री के दोनों हाथों की मुद्रा से प्रतीत होता है कि वह मुख-वाद्य बजा रही है यद्यपि कतिपय क्षतिग्रस्त

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होने के कारण वाद्य पूर्ण स्पष्ट नहीं है[75] (चि० 22)। गन्धार के एक चित्रण में स्त्री बांसुरी बजाती तथा एक अन्य वीणा बजाती चित्रित है।[76] सद्धर्म-पुण्डरीक में दो प्रकार के ड्रम, मृदंग एवं किंकिणी का उल्लेख है।[77] पतंजलि ड्रम (मृदंग), शंख, तुणव और गिटार के समान सात तारों के वाद्य (वीणा) का उल्लेख करते हैं।[78] मृदंग के विशेषज्ञ मर्दगिका कहलाते थे। (मृदंगवदनाम् शिल्पम् अन्यामर्दगिकाह)।

सामान्यतया नृत्य आनन्द का सूचक है। गायन एवं वादन के साथ नृत्य सर्वाधिक प्रिय लगता था। नृत्य अधिकांशतः स्त्रियां करती थीं। पतंजलि स्त्री-नर्तकियों का उल्लेख करते हैं (नर्तकीका)।[79] यद्यपि कतिपय पुरुष भी नृत्य करते अंकित किए गए हैं। लखनऊ-संग्रहालय की एक मूर्ति में स्त्री एवं पुरुष युगल नृत्य में लीन उकेरे गए हैं।[80] एक फलक में व्यक्ति नर्तकी का पीछा करता चित्रित है।[81] जैन-स्तूप ग्रन्थ में नृत्य करती स्त्रियों के हाथ एवं पैर की मुद्रा निःसन्देह आकर्षक है (चि० 22)। इतिहासकार जोशी ने नृत्य की अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है।[82] मथुरा के एक चित्रण में एक स्त्री स्कर्ट पहने घुटने के बल बैठी उकेरी गई है। इसका दायां हाथ पेट पर तथा बायां हाथ सिर के ऊपर नृत्य की मुद्रा को स्पष्ट करता है। यह स्त्री वस्त्रालंकार, केश-सज्जा से पूर्णतः अलंकृत है तथा मुख पर भी हँसी स्पष्ट प्रदर्शित है (चि० 36)। महावस्तु में हाथ फैलाकर (बाहांविकार्यनृत्यन्तिगायन्ति च सुवादितं) नृत्य करने का उल्लेख है।[83] नृत्य द्वारा नाना प्रकार के भाव-प्रदर्शन के कारण नर्तकियों के हार आदि शृंगार भी अस्त-व्यस्त हो जाते थे (चि० 36)। महावस्तु में तक्षशिला से वाराणसी आए नर्तक-दल द्वारा नृत्य प्रदर्शन का उल्लेख है।[84] यह व्यवसाय रूप में नृत्य प्रदर्शन को स्पष्ट करता है। मथुरा से प्राप्त मूर्तियों में स्त्रियां कटि-वस्त्र को ढीला करती दीखती हैं जो तत्कालीन प्रचलित नग्न-नृत्य से सम्बन्धित थे।[85] नर्तकियां आभूषणों एवं केश-सज्जा से पूर्णतः अलंकृत एवं वस्त्र रूप में अतिअल्प वस्त्र ही धारण करती थी। नृत्य में स्वर एवं अंगों के भावों से नृत्य की विषय-वस्तु स्पष्ट हो जाती थी।[86] पतंजलि एक मोर को अपनी प्रेयसी के लिए नृत्य करते वर्णित करते हैं (प्रियाम् मयूराह प्रतिर्ननृतीती यदवत त्वामं नखर नरनृतीसी हस्ताह)।[87] अवदान-शतक में नृत्य-विशेषज्ञ नटाचार्य वर्णित हुआ है।[88]

नाटकों का प्रचलन कुषाण-काल में भी रहा। नाटक सांस्कृतिक-आयोजनों के मुख्य अंग थे। नाटकों में अभिनय का विशेष महत्व था। पालि-साहित्य में 'नटुसमज्जा' का उल्लेख है।[89] लखनऊ संग्रहालय[90] के एक दृश्य में एक अलंकृत मोढे पर बैठा बन्दर डाक्टर एवं पशु-पक्षी चिकित्सा हेतु मरीज रूप में दिखाए गए हैं। इसमें डाक्टर साहब का दायां हाथ बाएँ घुटने पर तथा बायां हाथ ठुड्डी पर रखा मरीज के प्रति तल्लीनता का परिचायक है। सुँडयुक्त भारी पेट वाले मरीज यक्ष का चेहरा उदास है वह दोनों हाथों से आँख खोलकर डाक्टर को दिखा रहा है। एक अन्य दृश्य में उल्लू अपनी आँख सर्जन को दिखा रहा है तथा डाक्टर जिसके बाएँ कंधे में विभिन्न उपकरणों वाला थैला लटक रहा है चाकू से उसका आपरेशन करता प्रदर्शित है। उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि अभिनय भी मनोरंजन का महत्वपूर्ण उपकरण था।

राजघरानों के स्वामियों के हास-परिहास के लिए विदूषक होते थे। महावस्तु में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन्हें बटुक[91] तथा मिलिन्दपन्हों में हास्यकार[92] कहा गया।

नटों के खेल समाजोत्सव का एक प्रमुख अंग थे।[93] इनमें छोटी आयु के बच्चे अपने को विभिन्न प्रकार से अस्वाभाविक अवस्था में तोड़-मरोड़ कर दर्शकों का मनोरंजन करते थे। यह क्रियाएँ पूर्णतः अभ्यास पर आधारित थीं। भरहुत कला में भी इस प्रकार का चित्रण मिलता है।[94] अर्थशास्त्र में 'प्लवकास्' शब्द का इसी सन्दर्भ में उल्लेख है।[95] स्पष्ट है कि कुषाण काल के पूर्व भी नटों के खेल जनसाधारण के मनोरंजन के साधन रूप में विद्यमान थे। तक्षशिला से प्राप्त एक दृश्य में पट्टी पर नटों की कतारें हैं जिसमें अन्तिम चार व्यक्ति नीचे के नटों के कन्धों पर हैं।[96] गन्धार के अन्य चित्रण में दो व्यक्ति स्तंभ (खम्भे) को पकड़े हैं तथा एक उल्टा लटककर कर्त्तव्य दिखा रहा है।[97] महावस्तु में नटों का उल्लेख आता है।[98] दिव्यावदान में मनोजव, स्तम्भनी और शिखि तीन प्रकार के जादुओं का वर्णन है।[99]

साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से विदित होता है कि समाजोत्सव में खाने-पीने के आयोजन आमोद प्रमोद हेतु होते थे। इस अवसर पर गायन, वादन एवं नृत्य की व्यवस्था होती थी जिसे पान गोष्ठी कहा जाता था। कामसूत्र में इसके लिए 'समापानक' शब्द प्रयुक्त रहा। मथुरा के कठौती कुआं के एक दृश्य में भोज एवं नृत्योत्सव में संलग्न कुटुम्बिनी स्त्रियों का चित्रण हुआ है[100] (चि० 18)। इन पान गोष्ठियों में मदिरा-पान का विशेष प्रचलन था। जैन-स्तूप ग्रन्थ में पुरुष मदिरा पान करता अंकित है इसके गोद में वीणा रखी है।[101] मथुरा के अन्य दृश्य में स्त्री झुकी है एवं बायां हाथ बच्चे के कन्धे पर है। बच्चे के बाएँ हाथ में पात्र है और दायाँ हाथ पुरुष पकड़कर उठाने का प्रयास कर रहा है।[102] अश्वघोष भी स्त्री पुरुष के सामूहिक मद्यपान का उल्लेख करता है।[102] गन्धार-कला में मदिरा के खुमार में युवक बाईं ओर दौड़ता एवं उसके पीछे मजीरा बजाती स्त्रियां नृत्य-मुद्रा में प्रदर्शित हैं। एक पारिवारिक मद्यपान के दृश्य[104] में पांच व्यक्ति एक साथ मिलकर पीते अंकित हैं। मध्य में स्थित एक वृद्ध व्यक्ति हाथों में मद्यपात्र लिए है उसके पास में एक स्त्री भी बाएँ हाथ में मद्यपात्र लिए चित्रित है। इस मद्यपान के साथ-साथ संगीत एवं नृत्य भी चल रहा है।

निष्कर्ष

कुषाण-कालीन मनोरंजन सम्बन्धी उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामाजिक परिपेक्ष्य में मनोरंजन के महत्व को स्वीकार किया गया था। परस्पर भिन्न दैनिक क्रिया कलाप करने वाले बालक अथवा युवक अथवा वृद्ध अथवा स्त्री सभी के लिए मनोरंजन नितान्त आवश्यक माना गया था। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के मनोरंजन का स्वरूप भिन्न-भिन्न था। इस सन्दर्भ में समकालिक कला-कृतियों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जिसमें मल्ल-प्रतियोगिता एवं मनुष्य पशु-प्रतियोगिता आदि के चित्रण से स्पष्ट है कि समाज का युवक-वर्ग अपनी असीम शक्ति का परिचय इन प्रतियोगिताओं द्वारा देता था। इसके अतिरिक्त भी वह कूदने-फादने के खेलों में विशेष आकृष्ट होते थे। स्त्री एवं बालक कन्दुक क्रीड़ा एवं घर में खेले जाने वाले खेल खेलना अधिक पसन्द करते थे चूंकि यह अपेक्षाकृत कमजोर होते थे। इसी प्रकार वृद्ध दुर्बल व क्षीणकाय होने के कारण शान्त एवं स्थिर

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकृति के खेलों, द्यूत-क्रीड़ा, शतरंज एवं पासा आदि द्वारा मनोरंजन करते थे। वृद्धों के लिए सुन्दर उद्यानों में भ्रमण करना भी मनोविनोद का अच्छा साधन था। इससे उपयुक्त मनोरंजन हो जाता था। गायन, वादन, नृत्य, अभिनय आदि द्वारा भी मनोरंजन किया जाता था जिसके लिए कोई निश्चित आयु नहीं थी। यह मनोरंजन पारिवारिक होता था।

कुषाण-कालीन मूर्ति कला में मनोरंजन सम्बन्धी स्त्रियों के चित्रण से जहां एक ओर उनके द्वारा प्रयुक्त विविध मनोरंजनों का परिचय मिलता है साथ ही यह भी विदित होता है कि स्त्रियों का दायरा न मात्र घर और घर के कार्यों तक सीमित था वरन् पुरुषों की भांति उनके मनोरंजन के पृथक् स्वरूप भी थे जो निःसन्देह उनके उन्नत सामाजिक-स्वरूप के परिचायक थे। इस प्रकार व्यक्ति जीवन की विविध अवस्थाओं में नाना प्रकार के मनोरंजनों द्वारा सर्वतोन्मुखी प्रतिभा अर्जित करता हुआ समाज की उन्नति में सहायक होता था।

सन्दर्भ

1. जोशी, ला० एन० उत्त०, पृ० 231, चि० 730
2. सद्धर्म०, 3।54 बालका : कुमारका अस्मिनैव निवेशन आदीप्तेतैप्तेः क्रीडनकैः क्रीडन्ति।
3. वही, 3।55
4. सद्धर्म०, 3।56 गोरथकान्यजरथकानि मृगरतकानि।
5. रा० सं० म० मू० सं०, 34-2
6. मार्शल, बु० आ० गं०, चि० 49
7. अवदान०, 40।227।5
8. ललित०, 12।152
9. महाभा०, 3, 4, 77, 181
10. इंग्घोल्ट, एच०, दि गन्धार आर्ट ऑफ पाकिस्तान, चि० 445
11. मार्शल, बु० आ० गं०, चि० 105
12. म० भा०, 136।9
13. जोशी, ला० एन० उत्त०, पृ० 224
14. मार्शल, बु० आ० गं०, चि० 105
15. म० भा०, 4।13।41-2
16. ज० यू० पी० हि० सो०, 10, पृ० 88; 21 पृ० 133
17. मैके, अर्ली इन्डस सिविलाइज़ेशन्स, प्लेट 17-5
18. म० भा०, 4।13।41-2
19. ललित०, 12।146
20. मार्शल बु० आ० गं०, चि० 106 बी
21. बु० च०, 5।1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

22. महाव०, 2।226 राजाह अहं मृगव्यंकाशिपुरानिर्गतो सहबलेन ।
23. रा० सं० म० मू० सं०, 2411
24. महाभा०, 5, 4, 123
25. जोशी, ला० एन० उत्त०, पृ० 222
26. ललित०, 12।198
27. महाभा०, 2,1,40,390
28. मिलिन्द०, 114, महाव०, 3।169
29. आयवायर, जे०, अर्ली लाइफ इन इन्शियन्ट इण्डिया, पृ० 243
30. मिलिन्द०, 114,3 27
31. पुरी, इन० अन० कुषा०, पृ० 96
32. महाभा०, 8,1,7,370
33. दिव्या०, 477।18
34. रा० सं० म० मू० सं०, एफ० 21, एफ० 11
35. अग्रवाल, शा० गा० आर० से० प्रो० म्यु० ल०, प्लेट 10, चि० 12
36. काम०, 1।4।8
37. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 5
38, वही, एफ० 21, 1595
39. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 141, जे० 61
40. अवदान०, 30,163।7
41. अवदान०, 6।2।74
42. संग्र० पुरा० प०, 1976, अंक 17-8 पृ० 8
43. रा० सं० म०, जे० 6, जे० 14, जे० 26 और जे० 55
44. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 57
45. ए० ओरि०, लीडेन, भाग 2, पृ० 203-4
46. रा० सं० म० मू० सं०, 2345, एम० 41
47. रा० सं० म० मू० सं, जे० 55।2345; एफ० 28, 264
48. मार्शल, बु० आ० गं०, फलक 14
49. रा० सं० ल० मू० सं०, बी 64; जे० 278
50. अवदान०, 2।34।14, 2।35।1-2
51. सद्धर्म०, 1।39
52. सौ०, 1।55
53. महाभा०, 1,1,50,123
54. अवदान०, 1।122।2-3
55. म० भा०, 1।136।19
56. महाव०, 2।461
57. वही, 3।70

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

58. एपि० इन०, 1, पृ० 390
59. आर० स० इन० एनु० रि० 1906-7 पृ० 153
60. अवदान०, 17।9316
61. ललित०, 13।173
62. सद्धर्म०, 2।91
63. रा० सं० म० मू० सं०, एच० 2
64. वही, 1276
65. वही, जे० 268
66. सद्धर्म०, 369।76
67. महाव०, 3।255
68. सद्धर्म०, 2।91
69. ललित०, 5।40
70. मार्शल० बु० आ० गं०, चि० 91, 65,47,82
71. रा० सं० म० मू० सं०, 17, 1276, इ० 215
72. आर० स० एन० एनु० कि०, 1906-7 पृ० 153
73. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 72
74. वही, सी० 48
75. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 626 बी०
76. इंग्घोल्ट, एच०, वही, चि० 41
77. सद्धर्म०, 2।91
78. महाभा०, 2,2,34,435
79. महाभा०, 6,3,42, 158
80. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 250
81. शिवरामामूर्ति, सी०, वही, पृ० 37
82. जोशी, ला० एन० उत०, पृ० 241-4
83. महाव०, 2।192
84. वही, 2।175
85. रा० सं० म० मू० सं०, जे० 2, जे० 4, जे० 15
86. पुरी, इन० टा० पतं०, पृ० 110
87. महाभा०, 7,3,87, 338
88. अवदान०, 5।2।24-6
89. हरग्रीब्ज, तक्षशिला, 2 पृ० 704
90. रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 533
91. महाव०, 2।331
92. मिलिन्द०, 152
93. महाव०, 3।514

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

94. ज० यू० पी० हिस० सो०, 1945, 18, पृ० 97
95. अर्थशास्त्र 2।27।38
96. हरग्रीव्ज, वही, चि० 26
97. मार्शल, बु० आ० गं०, चि० 105
98. महाव०, 3।442 दिव्या०, 53।22
99. दिव्या०, 63।26-7
100. रा० सं० म० मू० सं०, 14-405
101. स्मिथ, जे० स्तू० प०, चि० 2
102. रा० सं० म० मू० सं०, 3111
103. सौ०, 4।2
104. मार्शल, बु० आ० गं०, चि० 49-50

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

12

उपसंहार

वास्तव में ईसा की पूर्व शताब्दियों में भारत में विभिन्न विदेशी विजातियों ने अपने-अपने राज्य स्थापित किए थे। इनमें कुषाण सर्वप्रमुख थे। कुषाणों ने भारत में तीन शताब्दियों से अधिक राज्य किया। अतः इस दीर्घ काल तक भारतीय-संस्कृति एक सर्वथा नवीन संस्कृति के सम्पर्क में रही। फलस्वरूप जहाँ भारतीय-संस्कृति ने उसे अनेक प्रकार से प्रभावित किया स्वयं भी उससे प्रभावित हुए बिना न रही जो नितान्त स्वाभाविक था यद्यपि किसी भी शक्ति द्वारा परस्पर बल-प्रयोग नहीं किया गया। वैसे भी भारतीय-संस्कृति की प्रारम्भ से ही विशेषता रही है जो भी विदेशी जाति इसके संसर्ग में आई उसे सहर्ष आत्मसात् कर लिया गया। यही नहीं कुषाण-जाति को तो क्षत्रिय-वर्ण में स्थान दिया गया जबकि अन्य हूण एवं यवन आदि शूद्र माने गए थे। इस संदर्भ में कुषाण-शासकों की भी प्रशंसा करनी होगी यद्यपि वह अपने साथ एक सर्वथा भिन्न संस्कृति लाए थे और जिस प्रकार बल प्रयोग द्वारा उन्होंने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की यदि चाहते तो कुषाण-संस्कृति के प्रचार-हेतु उसी नीति का अनुकरण करते पर कदाचित उनका उद्देश्य मात्र शक्ति-प्रदर्शन द्वारा भारत पर राज्य करना था न कि संस्कृत का प्रचार एवं प्रसार। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि कुषाण यद्यपि शूर-वीर योद्धा और विजेता तो थे किन्तु किसी उच्च स्तरीय संस्कृति अथवा दार्शनिक-विचारधारा और श्रेष्ठ परम्परा के उत्तराधिकारी नहीं थे। इस दृष्टि से भारत कहीं आगे था। अतः जब वह यहाँ आकर स्थिर हो गए तो उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक-वैभव का महत्व स्वीकार कर उसे आत्मसात् करना ही श्रेयस्कर माना और उसे विकसित किया।

कुषाण-शक्ति एक विशाल भू-भाग यथा—भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, मध्य-एशिया में समाद्रित होने के कारण तत्कालीन विश्व राजनीति में विशेष महत्वपूर्ण रही तथा सर्वप्रथम भारत का प्रभाव भारत के बाहर चीन, अफगानिस्तान, ईरान, मध्य-एशिया आदि स्थानों पर व्याप्त हुआ। इन्होंने राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में भी प्रशंसनीय भूमिका निभाई। यही कारण है कि भारत में आने वाली विदेशी जातियों में कुषाणों का अद्यावधि सर्वप्रमुख स्थान है। इस काल की अत्यधिक महत्वपूर्ण उन्नति विभिन्न मानवीय पृष्ठभूमि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—भाषा, संस्कृति एवं धर्म के लोगों का एक राजनैतिक-सूत्र में बन्धन था।

कुषाण-कालीन आर्थिक-उन्नति एक मान्य सत्य है जो सामाजिक-उन्नति का अनिवार्य-अंग है। आर्थिक उन्नति, अधिक उत्पादन, स्वस्थ योजना एवं कार्य-दक्षता पर आधारित थी। कृषि एवं पशुपालन अर्थोपार्जन का मात्र एक साधन थे। इस युग में कृषि संबन्धी नव-परिवर्तन से यह दृष्टिगोचर हुआ कि अब भूमि पर उसके मालिक का पूर्ण अधिकार हो गया था तथा प्रशासन का हस्तक्षेप आंशिक रह गया था। बंजर-भूमि को उपजाऊ बनाने हेतु विशेष प्रोत्साहन दिया गया।

तत्कालीन आर्थिक-उन्नति का प्रधान श्रेय निःसन्देह व्यापारिक एवं व्यवसायिक उन्नति पर निर्भर था जिसमें श्रेणियों की प्रशंसनीय भूमिका रही। इन श्रेणियों की संख्या 88 तक पहुँच गई थी। इतनी बड़ी संख्या में श्रेणियों का अस्तित्व स्वयं विकसित व्यवसाय का सूचक है। शिल्पियों एवं व्यापारियों की दशा में पूर्व काल की अपेक्षा आश्चर्यजनक सुधार इस युग की वर्णनीय घटना है। यह श्रेणियों की अधिकांश रूप में मान्यता, अक्षय-नीति-व्यवस्था आदि द्वारा स्पष्ट होती है जिससे श्रेणियों के संगठन की सुव्यवस्था, धार्मिक प्रवृत्ति, आर्थिक-उन्नति एवं जन साधारण का उन पर असीम विश्वास स्वतः परिलक्षित होता है।

स्वर्ण-मुद्रा का निर्माण सर्वप्रथम इस युग में हुआ। आयात-निर्यात में स्वर्ण-मुद्रा का प्रयोग व्यापार के उच्च-स्वरूप का द्योतक है। वास्तव में रोम से हुए व्यापार में भारत को अत्यधिक स्वर्ण-लाभ हुआ था। मथुरा एवं गन्धार-कला शैली की मूर्तियों में प्रदर्शित गृहस्थ-गृहस्थियों के जीवन के विभिन्न आयामों से सम्बन्धित दृश्यों के हाव-भाव एवं आभूषण आदि से भी समाज की आर्थिक-सम्पन्नता की पुष्टि होती है।

कुषाण-कालीन जाति-व्यवस्था एक महत्वपूर्ण विषय है। इस युग में जाति-व्यवस्था में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जो धर्म पर आधारित था। वस्तुतः शृंग-कालीन ब्राह्मण-धर्म में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई थीं। ब्राह्मण-धर्म में मान्य चतुर्वर्ण-व्यवस्था का लाभ उठाकर ब्राह्मण वर्ण का शूद्र-वर्ण के प्रति शोषण अनुचित एवं असह्य था। कदाचित् इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप बौद्ध व जैन धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें वर्ण-व्यवस्था के अस्तित्व को नकारा गया था। तथा मनुष्य मात्र का एक वर्ण मनुष्य-वर्ण प्रतिपादित हुआ। चूंकि बौद्ध व जैन धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे एवं शासक-वर्ग भी क्षत्रिय था अतएव क्षत्रिय-वर्ण की प्रधानता बढ़ी। साथ ही ब्राह्मण-वर्ण के विशेषाधिकार समाप्त हो गए थे। प्रायः बौद्ध व जैन साहित्य के आधार पर माना जाता है कि ब्राह्मण-वर्ण का स्थान क्षत्रिय-वर्ण ने ले लिया था परन्तु अभिलेखनीय-साक्ष्य द्वारा स्पष्ट है कि ब्राह्मण-गौरव पूर्ववत् विद्यमान रहा क्योंकि ब्राह्मणों के विशेषाधिकार दान ग्रहण करना, अध्ययन, अध्यापन एवं पुरोहिती पर अब भी ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। सभी महत्वपूर्ण-कार्य ब्राह्मणों द्वारा पूर्ण होते थे। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों ने ले लिया था।

निःसन्देह कुषाण-युग वैश्य-वर्ण के लिए स्वर्ण-युग था। इस युग में वैश्य-वर्ण की प्रगति अवलोकनीय है। व्यापार एवं व्यवसाय की उन्नति के फलस्वरूप वैश्य-वर्ण अत्य-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धिक सम्पन्न हो गया था। आर्थिक सम्पन्नता के कारण ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण ने भी वैश्य वर्ण के महत्व को स्वीकार किया था। इस काल में शूद्रों को भी विकास के अच्छे अवसर मिले थे। विभिन्न व्यवसायों में शूद्रों ने वैश्यों के कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया। अतः वैश्यों के साथ-साथ शूद्रों की आर्थिक-दशा में भी सुधार आया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण-काल में प्रायः सभी वर्णों का स्वरूप कुछ संशोधित हो गया था तथा चारों वर्णों की महत्ता पुनः प्रतिपादित हो गई थी। अब ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण परस्पर निकट आ गए थे। एवं वैश्य व शूद्र वर्ण भी प्रकृति के कार्य में संलग्न एक दूसरे के अति निकट थे।

वर्ण-व्यवस्था के अध्ययन में दास विषय का विवेचन अत्यावश्यक है क्योंकि दास-प्रथा प्राचीन काल से समाज में मान्य संस्था के रूप में विद्यमान रही है। इस युग के साहित्य में भारत के सात प्रकार के दासों का उल्लेख हुआ है। दासों के विषय में प्राप्त विवरण से विदित होता है कि श्रमिक रूप में कार्य करने वाले दासों के प्रति मालिकों का व्यवहार अच्छा नहीं था हालाँकि घर में रहने वाले परम्परागत दासों की स्थिति पर्याप्त सन्तोषजनक थी। यहाँ तक कि वह घर के सदस्य प्रतीत होते थे। किन्हीं परिस्थितियों में उन्हें स्वामी की सम्पत्ति का भी अधिकार प्राप्त था। संभवतः इन्हीं दासों की सामाजिक-दशा से सन्तुष्ट होकर मानो मेगस्थनीज़ ने कहा था कि भारत में दास नहीं हैं।

कुषाण-काल की वर्ण-व्यवस्था में जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष सिद्धान्त का विशेष महत्व रहा है। इससे स्पष्ट है कि समाज में अब जन्म से अधिक महत्व कर्म को दिया जाने लगा था अर्थात् जन्म पर ही नहीं वरन् विवाह व व्यवसाय के आधार पर जाति की उन्नति एवं अवनति सम्भव थी।

समाज के सुचारु रूप से संचालन हेतु आश्रम-व्यवस्था नितान्त आवश्यक मानी गई थी। समाज का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य से होने के कारण उसके क्रिया-कलापों का निर्धारण आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत किया गया था जिसके अनुसार मनुष्य-जीवन सामान्यतया 100 वर्ष का माना गया। इन 100 वर्षों को 25-25 वर्ष के 4 आश्रमों में विभक्त किया गया था। यह चार आश्रम क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम नाम से अभिहित रहे। प्रत्येक आश्रम की क्रियाएँ उनके मूल्यों पर आधारित पृथक्-पृथक् थीं परन्तु सभी आश्रमों के मूल्यों का लक्ष्य समान था और वह था ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति।

वस्तुतः मनुष्य-जीवन का लक्ष्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति था जो ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम में किए गए ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, नृ-यज्ञ एवं भूत-यज्ञ द्वारा संभव थी। अतः इन पंचमहायज्ञों, हेतु ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम की सार्थकता को समझना चाहिए। जहाँ तक वानप्रस्थाश्रम की उपयोगिता का प्रश्न है बौद्ध व जैन जीवन में वानप्रस्थाश्रम की कोई आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई जबकि ब्राह्मण-जीवन में वानप्रस्थाश्रम को परमावश्यक माना गया चूंकि गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी लौकिक-सुख के उपरान्त सहसा संन्यासाश्रम कदाचित असंभव था। अतएव वानप्रस्थाश्रम में मनुष्य को संन्यासाश्रम की अति-क्लिष्ट जीवन-वृत्ति हेतु अभ्यस्त कराया जाता था। ताकि संन्यासाश्रम उसे अधिक दुष्कर न लगे इस दृष्टि से चारों आश्रमों को क्रम से करना आवश्यक था।

ऐसा प्रतीत होता है कि असंस्कृत कुषाण-जाति के प्रशासन एवं उनके द्वारा बौद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व जैन धर्म स्वीकार करने से जाति-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था की अक्षुण्णता में कतिपय ह्रास स्वाभाविक था चूँकि संस्कार-विहीन कुषाण-शासकों द्वारा अन्तरजातीय-विवाह एवं व्यवसायों के आधार पर धार्मिक, आर्थिक एवं, व्यवसायिक आदि कारणों से समाज में विभिन्न वर्णसंकर जातियों के उत्पन्न होने से सामाजिक-अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। अन्त में शासकों के अथक्-प्रयास के फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने में सफलता मिली एवं स्मृति-शास्त्र में वर्ण-चतुष्ट्य के सामान्य धर्म सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शुद्धता, दान, क्षमा, दया, इन्द्रिय-निग्रह आदि विदित हुए।

कुषाण-समाज में संस्कारों के महत्व से लोग परिचित थे। संस्कारों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति के इस जीवन एवं मृत्युपरान्त के जीवन से होने के कारण प्रायः सभी का प्रयास संस्कारों को विधि-विधान-पूर्वक, संपादित करने का रहता था। वास्तव में संस्कार का तात्पर्य मनुष्य के पवित्र कार्यों से था। पवित्र-कार्य व्यक्ति के दोषों के निवारण के उपरान्त सम्भव थे। अतः जन्म-विषयक दोषों का प्रारम्भ बालक के गर्भ में आने के समय से ही आरम्भ हो जाता है अतएव तभी से संस्कार भी आवश्यक माने गए। जन्म के दोषों अर्थात गर्भ के बाहर आने के बाद अशुद्ध बालक को संस्कार द्वारा शुद्ध किया जाता था। तदुपरान्त उसके कर्म-विषयक दोषों को दूर करने के लिए भी संस्कारों का महत्व था। चूँकि बालक जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्म करता रहता है अतः संस्कार भी सम्पूर्ण-जीवन आवश्यक माने गए थे। संस्कारों का प्रधान-उद्देश्य आध्यात्मिक एवं दूसरा सांसारिक था। सांसारिक उद्देश्य से किए गए संस्कारों में लौकिक आनन्द का विशेष महत्व है। संस्कार युक्त व्यक्ति आन्तरिक एवं बाह्य रूप से विशुद्ध हो जाता था तथा सुसंस्कृत व्यक्ति द्वारा किए कार्य उसके लिए और समाज के लिए भी कल्याणकारी रहते थे। इस प्रकार संस्कृत व्यक्ति पुनीत कार्यों द्वारा समाज में समुन्नत होता था साथ ही उसके व्यक्तित्व में सज्जनता, सुन्दरता, सुशीलता आदि लक्षणों का समावेश सहज रूप से होता था। शुभ लक्षणयुक्त व्यक्ति निश्चय ही मनवांछित इस लोक एवं परलोक के आनन्दों को प्राप्त करता था।

संस्कार अनेक प्रचलित रहे जैसे—गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयम, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, केशान्त, देव-दर्शन, उपनयन, विद्यारम्भ, समावर्तन, विवाह, प्रव्रज्या, अन्त्येष्टि-संस्कार आदि। जिनमें कुछ संस्कार तो ब्राह्मण, बौद्ध व जैन जीवन में समान रूप से प्रयुक्त थे जैसे—नामकरण, जातकर्म, कुण्डलवर्धन, विद्यारंभ, पाणि-ग्रहण, मृत-संस्कार आदि। इसके अतिरिक्त कतिपय संस्कार बौद्ध एवं जैन संस्कृति में पृथक्-पृथक् थे। बौद्ध संस्कारों के अन्तर्गत देवदर्शन व प्रव्रज्या-संस्कार प्रमुख थे इसी प्रकार जैन-संस्कारों में विद्यारंभ-संस्कार का विशेष महत्व था। साथ ही उपनयन-संस्कार जैन जीवन में अस्वीकृत रहा। यद्यपि सभी संस्कारों का मूल अभिप्राय समान था। एक मुख्य भिन्नता यह विदित होती है कि ब्राह्मणों के मंत्रयुक्त संस्कार मात्र द्विजों हेतु थे जबकि बौद्ध व जैन धर्मों के संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य मात्र से था। प्रायः सभी जीवन में संस्कार की क्रिया-प्रणाली कतिपय भिन्न थी।

सामाजिक-परिप्रेक्ष्य में विवाह का महत्व स्वतः स्पष्ट है। निश्चय ही कुषाण-

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाज में भी विवाह गृहस्थ-धर्म का अपरिहार्य धार्मिक-कृत्य था। विवाह स्त्री-पुरुष का जीवन-पर्यन्त का मिलन था। विवाह की उपयोगिता दो रूपों में मान्य रही— एक यज्ञादि धार्मिक-कृत्य करके, दूसरा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होकर। उपरोक्त दोनों ही काम चूंकि पत्नी द्वारा सम्पन्न होते थे अतः विवाह मनुष्य मात्र के लिए परमावश्यक माना गया।

समकालीन ब्राह्मण, बौद्ध व जैन साहित्य से प्रचलित विवाह प्रकारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है जिससे विदित होता है कि समाज में सवर्ण विवाह विवाह का सर्वश्रेष्ठ प्रकार था। इसमें अपने वर्ण की कन्या से विवाह किया जाता था। अतः पूर्णतः धर्म पर आधारित यह विवाह सर्वोत्तम माना गया। इसके अतिरिक्त विवाहों में विवाह किसी भी वर्ण में कर लिया जाता था। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह इसी के अन्तर्गत आते हैं। बहुविवाह (बहुपत्नी-विवाह एवं बहुपति-विवाह) का भी प्रचलन रहा। स्वयंवर-विवाह अति धनाढ्य, सुन्दर एवं गुणवान परिवारों के मध्य सीमित था। स्मृतियों में विहित ब्रह्म, देव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच विवाह भी विशेष प्रचलित रहे। इनमें प्रथम चार प्रशस्त-विवाह तथा अन्तिम चार अप्रशस्त-विवाह थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी असंस्कृत शासकों एवं बौद्ध व जैन धर्म के प्रचलित होने के कारण सवर्ण-विवाह को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका जो विदेशी शक-परिवारों के भारतीय-परिवारों के मध्य हुए विवाह-सम्बन्धों से स्पष्ट है। विधि-विधान पूर्वक सम्पादित विवाहों में वर-वधू के लक्षणों का विचार किया जाता था। विवाह के प्रमुख-अंग बारात, स्वागत, होम, सप्तपदी, कन्यादान, पाणिग्रहण आदि पूर्ववत थे। विवाह में अग्नि-साक्ष्य का विशेष महत्व था। विवाह पति-पत्नी का धर्म, अर्थ, कामादि विषयों में समस्त जीवन का साथ था। मन्त्रोच्चारण द्वारा सम्पन्न विवाहों में विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह आदि की अनुमति न थी क्योंकि यह तो अग्नि-साक्ष्य के समक्ष किया गया आमरण-बन्धन था।

समाज में स्त्रियों का महत्व सर्वमान्य है। अपनी उपयोगिता के कारण कुषाण-समाज में भी स्त्रियों का महत्व यथावत विद्यमान रहा। सृष्टि की शाश्वतता के दृष्टि-कोण से तो उनकी सार्थकता थी ही, साथ ही सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक एवं शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने प्रशंसनीय भूमिका निभाई। बौद्ध व जैन संघों में रहने की अनुमति से लाभ उठाकर स्त्रियों ने अभीष्ट शिक्षा प्राप्त की। उनके आजीवन-ब्रह्मचर्य धारण कर शिक्षा ग्रहण करने के अनेक उल्लेख हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि कतिपय स्त्रियों ने अवसर का दुरुपयोग भी किया। अभिलेखों में स्त्रियों के दानधर्म के अनेक उद्धरण प्राप्त धार्मिक स्वतन्त्रता की पुष्टि करते हैं। कलाकृतियों द्वारा भी स्त्रियों की सामाजिक-दशा का सुन्दर अवलोकन होता है। इनमें शाल-भंजिका के रूप में पुष्पावचयन, अशोक पादक को वामपाद से आघात करना, उद्यान-क्रीड़ा में लीन मनोहारी क्रियाओं को करना, शृंगार की विविध चेष्टाओं में प्रसाधन करना, प्रेमी अथवा पति के साथ प्रणय-लीला में लीन, वेणी-प्रसाधन, वस्त्राभूषण आदि के चित्रण प्रमुख हैं। यह मनोभाव उनकी आन्तरिक सन्तुष्टि के परिचायक हैं।

निःसन्देह शिक्षा समाज की उन्नति का मापदण्ड है। प्रत्येक सभ्य-समाज की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाँति कुषाण-समाज में भी शिक्षा का महत्व स्वीकृत रहा। शिक्षा व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों, अधिकारों एवं निषिद्ध-कर्त्तव्यों से अवगत कराती थी जिसका समुचित पालन कर व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज में प्रतिभासित होता था। प्रत्येक बालक के जीवन में शिक्षा का श्रीगणेश विद्यारम्भ-संस्कार से होता था जिसमें वह अक्षरादि का सामान्य-ज्ञान प्राप्त करता था। तदुपरान्त उपनयन-संस्कार द्वारा बालक प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम में पदार्पण करता था। इस संस्कार की आयु वर्णानुसार भिन्न-भिन्न थी। उपनयन-संस्कार के बाद बालक के जीवन में नवपरिर्वतन आता था अब वह घर-परिवार से पृथक् गुरुकुल में गुरु-समीप रहता था। तथा ब्रह्मचारी रूप में वह अतिदुरूह जीवन-वृत्ति को धारण करता था जिसका अभिप्राय व्यक्ति को जितेन्द्रिय एवं सुदृढ़ ऐसा व्यक्ति बनाने से था जो आगामी गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी चुनौतियों का सहज ही सामना कर जीवन-लक्ष्य (ब्रह्मज्ञान प्राप्ति) की ओर अग्रसित हो सके।

तत्कालीन प्रायः (ब्राह्मण, बौद्ध व जैन) सभी जीवन-वृत्तियों में ब्रह्मचर्य-आश्रम की परमावश्यकता को स्वीकार किया गया था। अतः शिष्य एवं शिक्षक के सम्बन्ध भी समान थे यद्यपि इनकी शिक्षण-संस्थाओं की संचालन प्रणाली कतिपय पृथक् थी। इस युग में जिन स्थानों ने शिक्षा के क्षेत्र में ख्याति पायी उनमें प्रमुख कश्मीर, तक्षशिला, काशी, मथुरा, वल्लभी व वैशाली आदि थे। जिनमें देश एवं विदेश के विभिन्न अंचलों से शिक्षार्थी ज्ञानार्जन-हेतु आते थे। प्राप्त साहित्यिक उद्धरणों में स्त्रियों द्वारा स्वतन्त्रता के दुरुपयोग सम्बन्धी विवरणों के आधार पर कतिपय विद्वानों ने तत्कालीन शिक्षा में आयी अवनति की परिकल्पना की। परन्तु हमें स्त्रियों की शिक्षा की उन्नति के पक्ष में अधिक प्रबल साक्ष्य उपलब्ध हैं जिससे स्पष्ट है कि प्राप्त अधिकारों का सदुपयोग कर अधिकांश भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा ज्ञानार्जन कर शिक्षा के उन्नयन में अभूतपूर्व योगदान दिया गया। इनमें भी बौद्ध व जैन धर्म की नैष्ठिक-ब्रह्मचारिणियों की प्रशंसनीय भूमिका रही। निश्चय ही अग्रहार-दान शिक्षा की प्रगति हेतु एक शक्तिशाली कदम था जिसे राजदरबार से भी पूर्ण प्रोत्साहन मिला। अग्रहार-दान-व्यवस्था उत्तर-भारत से आरम्भ होकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गयी थी।

पुरातात्विक-स्रोतों के अतिरिक्त चरक एवं सुश्रुत संहिताओं के विवरणों द्वारा भोजन एवं पेय विषय के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है जिनसे स्पष्ट है कि कुषाण-समाज में भोजन एवं पेय का महत्व स्वीकृत रहा। वस्तुतः व्यक्तिमात्र के व्यक्तित्व का निर्माण भोजन पर आधारित था। भोजन तीन प्रकार का होता था सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। अतः व्यक्ति जैसा भोजन ग्रहण करता था उसकी मनो-वृत्ति भी उसी प्रकार की हो जाती थी चूंकि कुषाण-शासक बर्बर-जाति के थे अतः उनकी प्रवृत्ति भी तद्नुरूप तामसिक रही। जिसमें माँस-मदिरा ग्राह्य थी परन्तु भारत में प्रवास एवं बौद्ध व जैन धर्म से सामंजस्य स्थापित हो जाने के उपरान्त उनकी भक्षाभक्ष्य-प्रवृत्ति पर निःसन्देह प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप भोजन में अन्न, शाक, दूध-निर्मित खाद्य-फलादि वस्तुओं का अधिकाधिक प्रचलन हुआ। अतएव भोजन में स्वास्थ्य एवं स्वच्छता को स्वाभाविक रूप से बल मिला। प्रशंसनीय कुषाण-शासक यद्यपि सर्वथा भिन्न-जाति के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे परन्तु उन्होंने तत्कालीन भारतीय-संस्कृति में मान्य बौद्ध व जैन धर्म के महत्व को हृदयंगम किया था। परिणामतः समाज के उच्च-वर्णों में मांस-मदिरा का प्रयोग लगभग समाप्त हो गया था एवं केवल निम्न-वर्णों में भी इसका प्रचलन कतिपय उत्सवों तक सीमित रहा।

वस्तुतः कुषाण-कालीन-समाज में भोजन का अभिप्राय मात्र क्षुधा-शान्त करना न था अपितु इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व से था। ऐसा विश्वास था कि यदि सात्विक भोजन नियमानुसार ग्रहण किया जाए तो वह सात्विक-मनोवृत्ति को उत्पन्न करेगा। उपवासों की सार्थकता भी इसी सन्दर्भ में स्वीकार की गई थी। सात्विक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति व्यक्ति के सुन्दर, सरल, शान्त, विनम्र व्यक्तित्व से सहज ही हो जाती थी। अतएव भोजन का शरीर हेतु वैज्ञानिक महत्त्व भी मान्य रहा। इसीलिए संहिताओं में स्वास्थ्य व शुद्धता की दृष्टि से कतिपय खाद्य-पदार्थों एवं मांस-मदिरा को द्विजों हेतु वर्जित माना गया। निश्चय ही यह कुषाण-युग की विशेषता थी।

इस युग के वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास सम्बन्धी जानकारी पुरातात्विक-साक्ष्य (मथुरा एवं गंधार कला) द्वारा होती है जिसका समर्थन साहित्य में भी उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि वस्त्र-आभूषण एवं केश-सज्जा कुषाण-युग के सामाजिक-इतिहास का आकर्षक-विषय है। वर्णनीय है अद्यावधि भारतीय-समाज में प्रचलित कोट-पैन्ट-टोपी आदि की प्राचीनता कुषाण-युग ही है। इस दृष्टि से इस युग का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यद्यपि कटे व सिले वस्त्रों का उपयोग वैदिक-युग में ही जनसाधारण को ज्ञात था परन्तु सर्वप्रथम इसी समय कुषाण-जाति के सम्पर्क में आने पर इनका विशेष प्रयोग हुआ। अतएव मथुरा-कलाकृतियों में बिना सिले वस्त्रों के साथ-साथ सिले वस्त्र भी दृष्टिगोचर होते हैं अर्थात् मथुरा-कला पर गन्धार-कला की स्पष्ट छाप है ठीक इसी प्रकार गन्धार-कला भी मथुरा कला से प्रभावित रही। यद्यपि गर्म जलवायु के देश भारत में कुषाण-वेश सर्वथा अनुपक्त था। दोनों ही संस्कृतियों द्वारा परस्पर वस्त्रों का आदान-प्रदान सामन्जस्य के उक्त-स्वरूप का द्योतक है। भारतीय-परिधान में स्त्री-पुरुष सामान्यता दुपट्टा एवं धोती धारण करते थे तथा विदेशी-परिधान में पुरुष कोट, कंचुक, पेन्ट, सलवार आदि तथा स्त्रियाँ मैक्सी जैसा वस्त्र, स्कर्ट, ब्लाउज, ट्यूनिक आदि में प्रदर्शित हैं।

आभूषण तो भारतीय स्त्री-पुरुषों को सदैव से आकर्षित करते रहे हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्री अधिक आभूषण धारण करती थीं। यह आभूषण नख से शिख तक पायल, कमरघनी, अँगूठी, कंकण, भुजबन्ध, ग्रेवेयक, कुण्डल, वेन्दा एवं सिर के अलंकरण रूप में विद्यमान रहे, जो विविध डिजायन-युक्त थे। मथुरा-कला में इनका चित्रण स्वतन्त्र रूप से हुआ है। गर्म जलवायु के कारण भारतीय, वस्त्र रूप में अति अल्प वस्त्र परन्तु आभूषणों का अधिकाधिक प्रयोग करते थे। मथुरा की स्त्री कलाकृतियों में तो आभूषणों का अंकन दृष्टव्य है। गंधार-कला में अधिकांश शरीर के वस्त्रावृत होने के कारण आभूषणों की उपयोगिता न थी अतएव आभूषण के नाम पर हाथ में कंकण गले में कंठी प्रदर्शित है। इस युग के आभूषण जहाँ एक ओर उत्कृष्ठ-कला के सूचक हैं दूसरी ओर समृद्धता के भी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिरस्त्राण रूप में भारतीय पगड़ी विशेष रूप से धारण करते थे परन्तु कुषाण-प्रभाव के फलस्वरूप ईरानी कुलाहनुमा ऊँची आगे झुकी टोपी का अधिक प्रचलन हुआ। यह टोपी गोल चिपकी से लेकर ऊँची अलंकृत अनेक प्रकार की होती थी।

वस्तुतः कुषाण-युगीन सामाजिक-परिवेश में वस्त्र, आभूषण एवं केश-विन्यास का विशेष महत्त्व रहा क्योंकि यह भारतीय एवं कुषाण संस्कृतियों में समन्वय के साथ-साथ उत्कृष्ट-कला एवं सुख-वैभव का भी द्योतक है।

कुषाण-कालीन मनोरंजन का सम्पूर्ण परिचय कलाकृतियों एवं साहित्य द्वारा मिलता है जिससे विदित होता है कि जन-साधारण मनोरंजन के महत्त्व से पूर्णतः विज्ञ था। मनोरंजन सामान्यतया आयु एवं आर्थिक-स्तर पर आधारित पृथक्-पृथक् था। बालक कन्दुक-क्रीड़ा में आनन्द अनुभव करते थे। इसके अतिरिक्त उनके बालू में खेलने के भी उल्लेख हैं परन्तु युवक परिपुष्ट-शरीर होने के कारण कूदने-फादने के खेलों में रुचि लेते थे। मल्ल-क्रीड़ा एवं मनुष्य-पशु-क्रीड़ा उनके प्रिय खेल थे। इन क्रीड़ाओं के लिए विशेष-स्थल निर्मित होते थे। वृद्ध-व्यक्ति शरीर के शिथिल हो जाने के कारण बैठकर खेले जाने वाले स्थिर-प्रकृति के खेल पासा, शतरंज आदि खेलते थे। इसके अतिरिक्त सुन्दर उद्यान में विचरण द्वारा भी उनका मनोविनोद होता था। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की मनोहारी उद्यान-क्रीड़ाओं द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। इसके अलावा वह घर में खेले जाने वाले खेल खेलती थीं। उपरोक्त मनोविनोद के साधन आयु के अनुरूप थे। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य मनोरंजन के साधन भी थे जिनमें गायन, वादन, नृत्य, अभिनय आदि द्वारा पारिवारिक मनोरंजन सम्भव था। निःसन्देह प्रस्तुत मनोरंजन का स्वरूप विकसित सामाजिक दशा का परिचायक है।

कुषाण-कालीन उक्त सामाजिक विश्लेषण के उपरान्त स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मौर्य एवं गुप्त-काल के मध्य के कुषाण-काल को अन्धकार-युग कहना सरासर अज्ञानता है क्योंकि हमें कुषाण-समाज में प्रायः सभी सामाजिक पहलुओं के विकसित-स्वरूप मिलते हैं जो उसके पूर्व विद्यमान नहीं थे। वस्तुतः गुप्त-कालीन फलयुक्त वृक्ष के बीज कुषाण-काल में ही बो दिए गए थे तथा यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि कुषाण-काल के अन्त में उसके अंकुर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मूल-ग्रन्थ

(क) ब्राह्मण-ग्रन्थ

आर्य मंजुश्री मूलकल्प—त० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1920-5
कामसूत्रम्—जयकृष्णदास हरिदास गुप्ता, वाराणसी 1929
चरक-संहिता—जामनगर, 1949
मनुस्मृति—पं० श्री हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, 1979
महाभारत – पी० सी० राय (अंग्रेजी अनु०), कलकत्ता, 1953
महाभाष्य—पं० शिवदत्त डी० कुडाल और पं० रघुनाथ शास्त्री (सं०), जि० 2 बम्बई, 1935
याज्ञवल्क्य-स्मृति—जे० आर० घारपुरे, बम्बई, 1940
सुश्रुत-संहिता—कविराज डा० अम्बिकादत्त शास्त्री (टीकाकार), भाग 1, वाराणसी, 1954

(ख) बौद्ध-ग्रन्थ

अवदान-शतक—डा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, 1958
कल्पनामान्दीतिका
दिव्यावदान—ई० बी० कावेल तथा आर० ए० नील (सं०), कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, 1886 परशुराम शर्मा, (सं०), दरभंगा, 1959
बुद्ध-चरित—ई० एच० जान्स्टन (सं०), कलकत्ता, 1936
महावस्तु—ई० सेनार्ट (सं०), पैरिस, 1882-97
मिलिन्दपन्हो
ललित-विस्तर—डा० पी० एल० वैद्य दरभंगा, 1958 डा० एस० लैफमेन (सं०) 1902
सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र—नलिनाक्ष दत्त (सं०), कलकत्ता, 1953
सौन्दरनन्द—हर प्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, 1910

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ग) जैन-ग्रन्थ

आचारांग-सूत्र
कालकाचार्य-कथानक
पन्नपन्न
रायपसेणीयसूत्र—पंडित बेंचरदास जीवराज दोशी, 1937

2. विदेशी यात्रियों के ग्रन्थ

हाऊ-हान-शू, फान-यू, 445 ई०
तिएन-हान-शू, पान-कू, 92 ई०
शी-की, सु-मा-चिएन, ई० पू० 91

3. शब्द-कोश

अंग्रेजी-हिन्दी कोश—एफ० सी० बुल्के, दिल्ली, 1981
एनालिटिक डिक्शनरी आफ चायनीज़ एण्ड साइनो-जेप्नीज़, बी० कार्लग्रेन, 1923
डिक्शनरी आफ इकोनामिक प्रोडक्ट्स आफ इण्डिया—एस० जे० वाट, 1889-96
पालि-संस्कृत डिक्शनरी—टी० डब्ल्यू० आर० डेविड्स एण्ड डब्ल्यू० स्टेडे लन्दन, 1921
संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—एम० एम० विलियम्स, नया प्रकाशन, आक्सफोर्ड, 1951

4. आधुनिक-ग्रन्थ

अल्टेकर ए० एस०
हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इन्डिया
स्टडीज़ इन दि कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, 1965
आयंगर, के० वी० आर०
आस्पैक्ट्स ऑफ एन्शियन्ट इन्डियन इकोनामिक थाट, बनारस, 1924
आद्या जी० एल०
अर्ली इन्डियन इकोनामिक्स, बम्बई, 1924
उपाध्याय, वी०
प्राचीन-भारतीय-मुद्राएँ
ओझा, के० सी०
फोरेन रूल इन एंशियंट इण्डिया, इलाहाबाद, 1968
काणे, पी० वी०
धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग 2)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुमार, बी०

दि अर्ली कुषाणाज़, दिल्ली, 1973

केतकर, एस० वी०,

हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया

गार्डनर, पी०

दि कायन्स आफ दि ग्रीक्स एण्ड सीथिक किंग्स आफ बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया इन दि ब्रिटिश म्युज़ियम, दिल्ली, 1971

ग्रीन्डवेडेल

बुद्धिस्ट आर्ट

गेफुराव, बी०

कुषाण स्टडीज़ इन यू० एस० एस० आर०, कलकत्ता, 1968

ब्रिशमैन

वेग्राम

घुर्ये, जी० एस०

कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, 1950

इन्डियन कोस्ट्यूम, बम्बई, 1951

चटर्जी, बी०

कुषाण स्टेट एण्ड इन्डियन सोसायटी, कलकत्ता, 1975

चटर्जी, एस०

सोशल लाइफ इन एंशियंट इन्डिया, कलकत्ता, 1965

चक्रवर्ती, एच०

ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशियंट इन्डिया, कलकत्ता, 1966

चक्लधर, एच० सी०

सोशल लाइफ इन एंशियंट इन्डिया, कलकत्ता, 1954

चन्द, एम०

प्राचीन-भारतीय-वेशभूषा, इलाहाबाद, 1950

सार्थवाह, पटना, 1966

कोस्ट्यूम टेक्सटाइल्स कौस्मैटिक्स एण्ड कोफ्यूर इन एंशियंट एण्ड मिडिवल इन्डिया, दिल्ली, 1973

ट्रेड एण्ड ट्रेड रूट्स इन एंशियंट इन्डिया, दिल्ली, 1977

जैन, जे० पी०

जैन आगम-साहित्य में भारतीय-जीवन, वाराणसी, 1965

जैन, जे० पी०

जैन सोरसेज़ आफ दि हिस्ट्री आफ एंशियंट इन्डिया, दिल्ली, 1964

जैन, बी०

गिल्ड आरग्नाइजेशन्स इन नार्थ इन्डिया, लखनऊ, 1983

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जोशी, एन० पी०

लाइफ इन एंशियंट उत्तरापथ, वाराणसी, 1967

मथुरा स्कल्पचर्स, मथुरा, 1965

तिवारी, आई० पी०

कुषाण एवं गुप्तकालीन वेशभूषा तथा आभूषण, लखनऊ, 1981

थपलियाल, के० के०

स्टडीज़ इन एंशियंट इन्डियन सील्स, लखनऊ, 1972

थपलियाल, यू० पी०

फॉरेन एलीमेन्ट्स इन एंशियंट इन्डियन सोसायटी

थामस, पी०

इन्डियन वोमेन थ्रू दि एजेज़, 1964

दास, एस० के०

दि एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दि एंशियंट हिन्दूज़, कलकत्ता, 1930

दादापे, इ० वी०

हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन एंशियंट इन्डिया, बड़ौदा, 1952

नाथ, पी०

ए स्टडी इन दि इकोनामिक कन्डीशन आफ एंशियंट इन्डिया, इलाहाबाद, 1980

प्रकाश, ओ०

फूड एण्ड ड्रिंक्स इन एंशियंट इन्डिया, दिल्ली, 1961

प्रसाद पी० सी०

फॉरेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशियंट इन्डिया, दिल्ली, 1977

पाण्डे आर० बी०

हिन्दू-संस्कार, वाराणसी; 1966

पुरी, बी० एन०

इन्डिया अन्डर दि कुषाणाज़, बम्बई, 1965

इन्डिया एन दि टाइम ऑफ पतंजलि, बम्बई, 1957

प्रभु, पी० एन०

हिन्दू सोशल आरग्नाइजेशन, बम्बई, 1940

वर्घीज़ जे० के०

गान्धार स्कल्पचर्स, दिल्ली, 1984

बसाक, आर०

ए स्टडी ऑफ महावस्तु

बाजपेई, के० डी०

अर्ली इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ मथुरा—ए स्टडी, कलकत्ता, 1960

बाशम, ए० एल०

स्टडीज़ इन इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बोरोवका, जी०
सीथियन आर्ट

मजूमदार और पुसाल्कर
दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1951
क्लैसिकल एकाउन्ट्स ऑफ इन्डिया, बम्बई, 1954

मार्शल, एस० जे०
दि बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ गन्धार जि० 1, कैम्ब्रिज, 1960

मुकर्जी, आर० के०
भारत की संस्कृति और कला, 1959
एंशियंट इन्डियन एजुकेशन, दिल्ली, 1960

मुकर्जी, बी०, एन०
दि कुषाणाज़ एण्ड दि डक्कन, कलकत्ता, 1968
मथुरा एण्ड इट्स सोसायटी, कलकत्ता, 1981
दि डिसिन्टिग्रेशन ऑफ दि कुषाण अम्पायर, वाराणसी, 1976

मूर्ति, के० के०
हेयर स्टाइल इन एंशियंट इन्डियन आर्ट, दिल्ली, 1982
सोशल एण्ड कल्चरल लाइफ इन एंशियंट इन्डिया, दिल्ली, 1982

रॉलिन्सन, एच० जी०
बैक्ट्रिया, दिल्ली, 1984

रॉलिन्सन, एच० सी०
इन्टरकोर्स बिटविन इन्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ड फ्रोम दि अर्लियस्ट टाइम्स टु दि फाल ऑफ रोम, कैम्ब्रिज, 1926

रेप्सन, इ० जे०
इन्डियन कायन्स, स्ट्रासबर्ग, 1898

रोजेनफील्ड, जे० एम०
डायनेस्टिक आर्ट ऑफ दि कुषाणाज़, बर्कले और लास एंजेल्स, 1967

लाल, ए०
संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में भारतीय-जीवन, लखनऊ, 1963

ला, बी० सी०
अश्वघोष, कलकत्ता, 1946

लूडर्स, एच०
मथुरा इन्सक्रिप्शन्स, गोटिंगन, 1961

वार्मिंग्टन, इ० एच०
दि कामर्स बिटविन दि रोमन अम्पायर एण्ड इन्डिया, कैम्ब्रिज, 1928

वान लोहुजेन डी लिउ, जे० ई०
दि सीथियन पीरियड, लीडेन, 1949

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्हीलर, एम०
रोम बियोन्ड दि इम्पीरियल फ्रन्टीयर
सरकार, डी० सी०
सेलेक्ट इन्स्क्रिपशन्स, कलकत्ता, 1942
सांकृतायन, आर०
हिस्ट्री आफ सेन्ट्रल एशिया
सोलोमन, आर०
डेली लाइफ इन एंशियंट मथुरा
स्मिथ, वी० ए०
कायन्स ऑफ एंशियंट इन्डिया, दिल्ली 1972
जैन-स्तूप ऑफ मथुरा, इलाहाबाद, 1901
स्मिथ, डब्ल्यू०, ए०
एंशियंट एजुकेशन, न्यूयार्क, 1955
स्काफ, डब्ल्यू० एच०
पेरिप्लूस ऑफ दि एरिद्रियन सी
हल्लाडे, एम०
दि गन्धार स्टाइल
शर्मा, एस०
शकाज़ इन इन्डिया, लाहौर, 1947
शर्मा, बी० एन०
सोशल लाइफ इन नार्दन इन्डिया, दिल्ली, 1966
शर्मा जी० आर०
कुषाण स्टडीज़, इलाहाबाद, 1968
शर्मा, आर० सी०
बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ मथुरा, कलकत्ता, 1982
मथुरा म्युज़ियम एण्ड आर्ट, मथुरा, 1976
शर्मा, आर० एन०
ब्रह्मिन्स थ्रू दि एजेज़
शर्मा, आर० एस०
कुषाण पालिटी
लाइट आन अर्ली इन्डियन सोसायटी एण्ड इकोनामी, पटना, 1966
शूद्राज़ इन एंशियंट इन्डिया, पटना, 1958
शर्मा, एस० आर०
एंशियंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, बम्बई, 1947
शास्त्री, एच०
हिन्दू संस्काराज़ इन एंशियंट इन्डिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जर्नल की सूची

—आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया
—आरक्योलाजिकल रिव्यू
—इन्डियन एन्टिक्वेरी
—इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
—एपिग्रेफिआ इन्डिका
—एक्टा ओरियन्टेलिया
—कोर्पस इन्स्क्रिप्शनम इन्डिकेरम
—जर्नल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसायटी
—जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी
—जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड
—जर्नल एशियाटिक सोसायटी
— जर्नल एशियाटिक
—जर्नल ऑफ दि डेवलपमेन्ट ऑफ लैटर्स
— जर्नल ऑफ दि चायना ब्रान्च ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी
—जर्नल ऑफ इन्डियन हिस्ट्री
—जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
—जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल
—जर्नल ऑफ ईस्ट एण्ड वैस्ट
—जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रान्च ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी
—जर्नल ऑफ दि यूनाइटेड प्रोविन्शियल हिस्टारिकल सोसायटी
—जर्नल ऑफ दि इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट
—जर्नल ऑफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च सोसायटी
—न्यूमिस्मैटिक क्रोनिकल
—न्यूमिस्मैटिक सप्लीमेन्ट
—पुरातत्व संग्रहालय पत्रिका
—ब्रिटिश म्युजियम क्वार्टरली
—बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरियन्टल एण्ड एफ्रिकन स्टडीज़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या ।

सोपान-वेदिका पर श्रृंगार-पात्र लिए स्त्री जिसकी चूड़ियां, करधनी, बाजूबन्द, बड़े कुण्डल, मणियों का ग्रैवेयक और स्तनहार अवलोकनीय है, लगभग द्वितीय श० ई०, लाल-पत्थर, कंकालीटीला, मथुरा, रा० मं० म० मू० मं०, 14-369।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

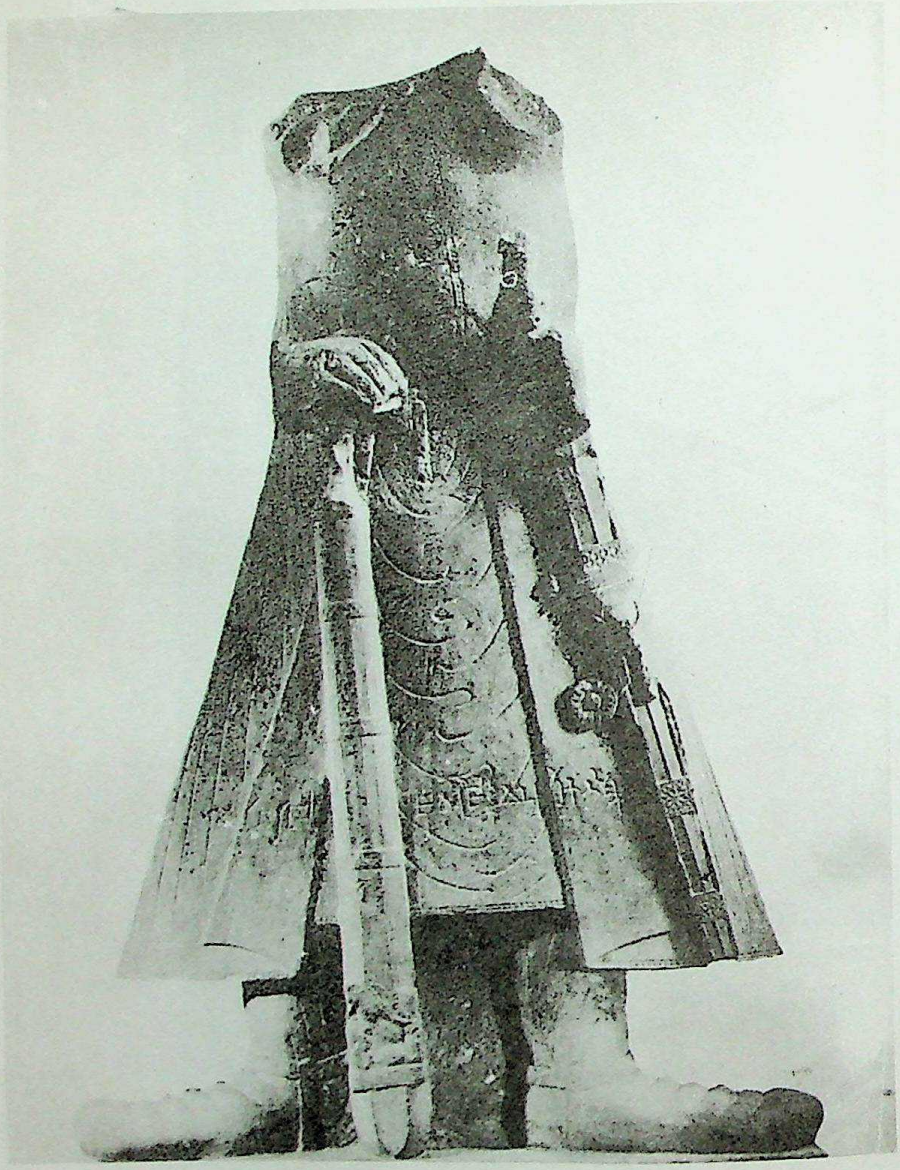

चित्र संख्या 2

सम्राट् कनिष्क की मूर्ति जिसका चोंगा, मलवार और जूते दर्शनीय हैं, भूरा तथा लाल पत्थर, लगभग प्रथम श० ई०, माट, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 12-213।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

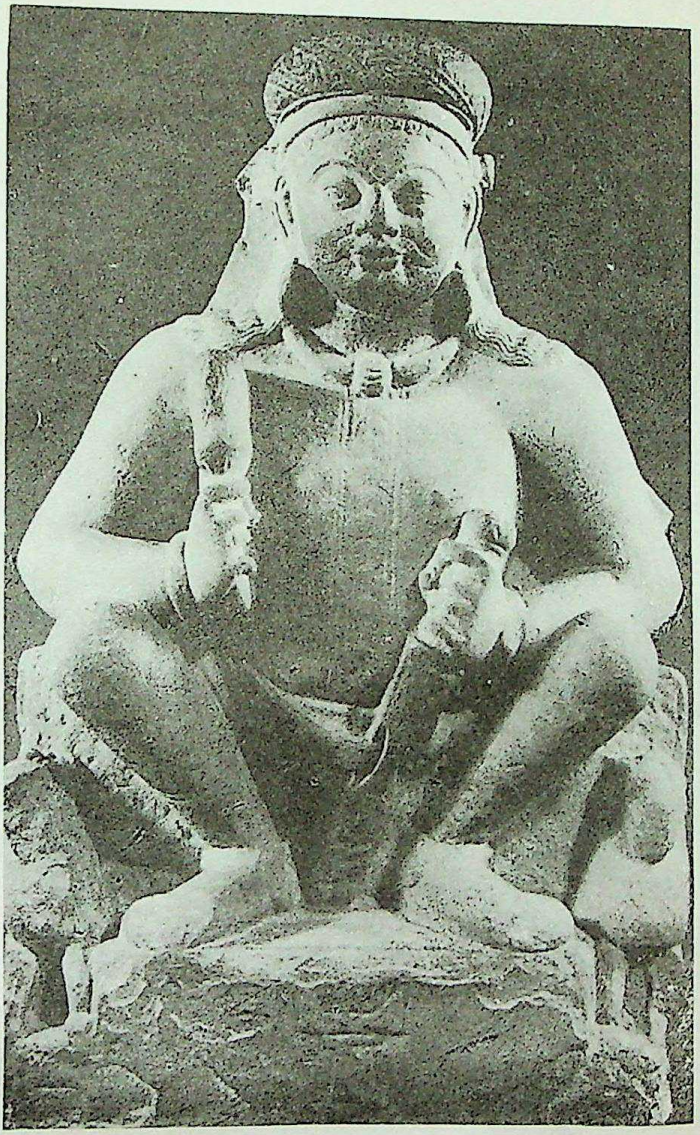

चित्र संख्या 3

उदीच्य-वेश में सूर्य। ईरानी वेश में बैठे सूर्य जिनकी अलंकृत पगड़ी, सिला हुआ कोट, जूते तथा गले में मोटा कण्ठहार प्रमुख हैं, भूरा पत्थर, लगभग प्रथम श० ई०, कंकाली-टीला, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 12-269।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

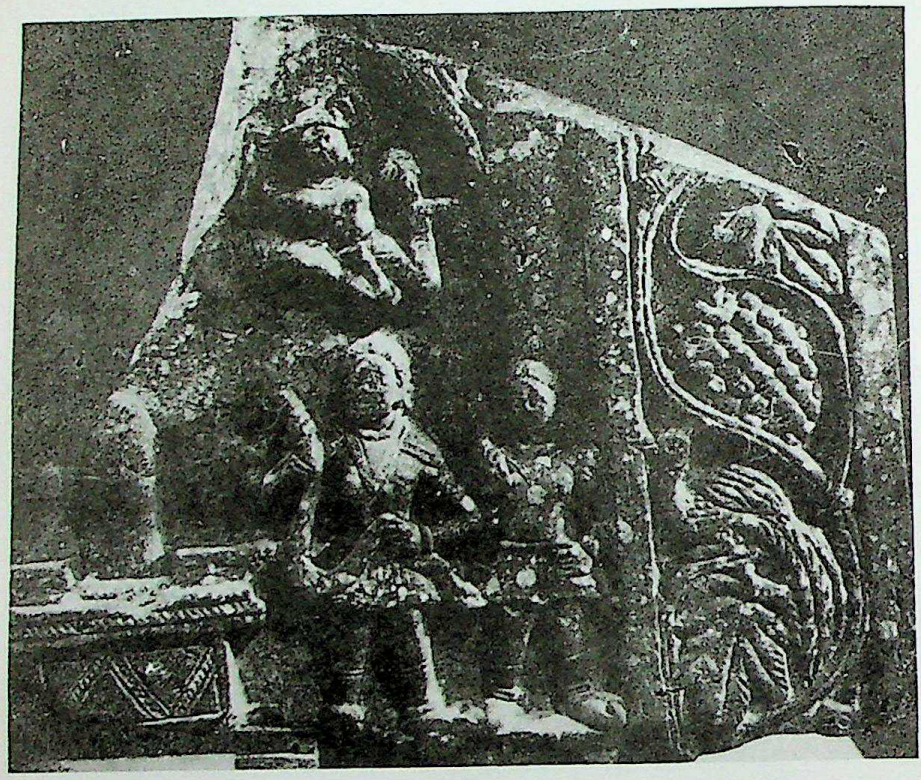

चित्र सख्या 4

उदीच्य-वेश में दो राजपुरुषों द्वारा शिवलिंग की अर्चना। कोट, पेन्ट, भारी जूते, कंठहार, बाजूबन्द एवं ग्रेवेयक अवलोकनीय हैं, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, डेम्पियर-नगर, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 36-2661।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

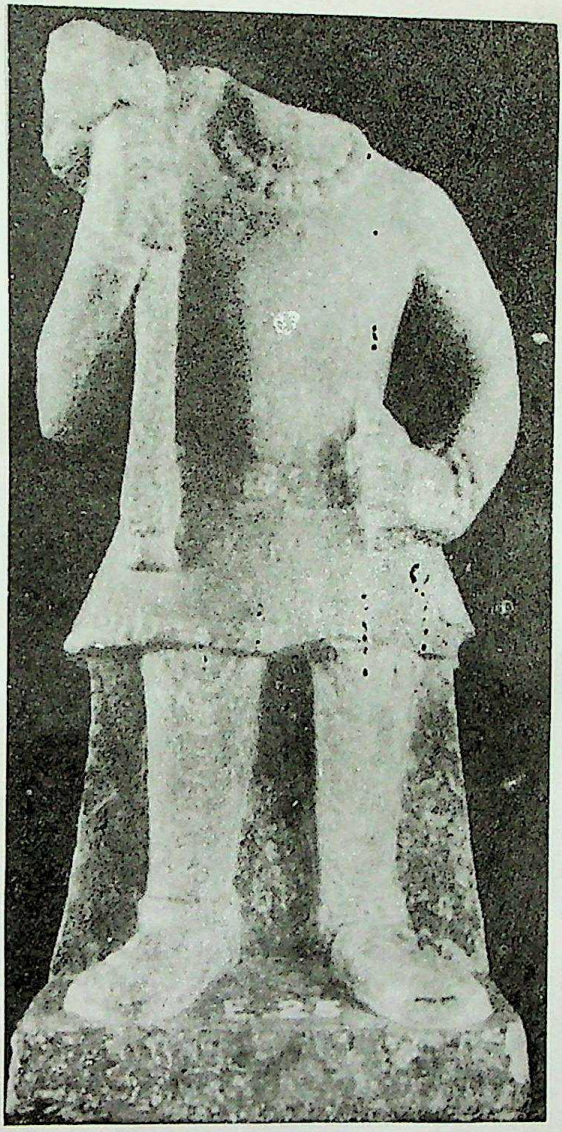

चित्र सख्या 5

उदीच्य-वेश में राजपुरुष जो गोल मोटी मणियों का कण्ठहार, कलाईबन्द, कोट, मेखला, मलवार व भारी जूते पहने हैं, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० मं० म० मू० सं०, इ० 25।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 6

आसवपायी कुबेर तथा सेवक ईरानी प्रकार के प्याले, सिले वस्त्र, ऊपर गोल पगड़ी, चौड़ा ग्रेवेयक, बड़े कुण्डल उल्लेखनीय हैं, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग प्रथम श० ई०, पालीखेरा मथुरा, रा० सं० म० म० सं०, सी० 2।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 7

वेदिका-स्तम्भ जिसपर पात्र लिए स्त्री खड़ी है। लहंगे के रूप में दुहरी स्कर्ट पहने है। भारी कुण्डल, चौड़ा कण्ठहार, कलाईबन्द, बाजू-बन्द दृष्टव्य हैं। यह ब्रज की गोपिका स्वरूप है। लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 86।

चित्र संख्या 8

बुद्ध के जीवन का दृश्य। बीच में माया देवी हैं और दाहिनी ओर इन्द्र व बाईं ओर महाप्रजापति, ट्यूनिक जैसा सिला वस्त्र, पगड़ी, स्तनहार अवलोकनीय हैं, सलेटी पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, गन्धार-कला, रा० सं० दि० मू० सं०, 60-108।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 9

कार्तिकेय की अभिलिखित मूर्ति जिसपर कार्तिकेय शब्द भी लिखा है। अलंकृत मुकुट, चपटा ग्रेवेयक, पुष्पाकृतियों से चिन्हित कलाईबन्द तथा कुण्डल अवलोकनीय हैं। घुटने से नीचे तक धोती एवं एक वस्त्र कमर में जिसकी मोटी गांठ, धोती का अंश नीचे तक लटकता है, हाथ में बड़ी शक्ति, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०. कंकाली टीला, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 42-2949।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

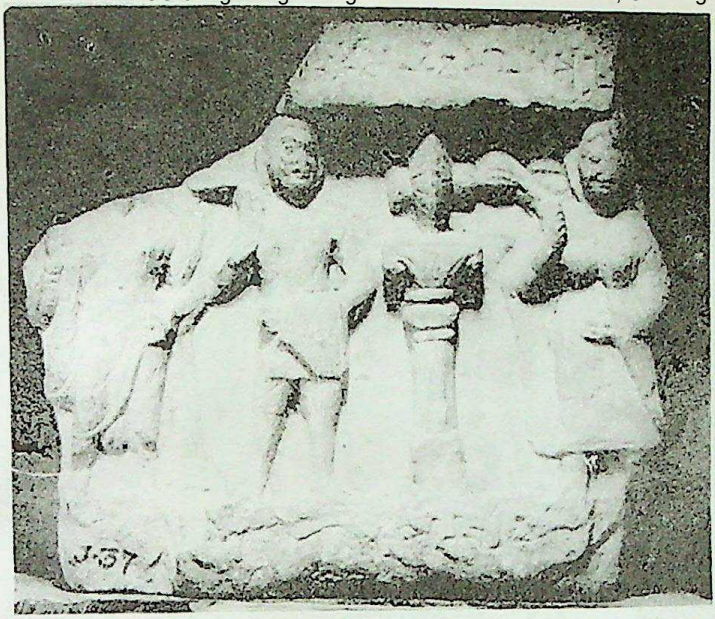

चित्र संख्या 10

तीर्थंकर चौकी का भाग जिसपर धर्मचक्र की पूजा का दृश्य है। अर्धफालक की स्थिति में एक जैन साधु हाथ में वस्त्र-खण्ड लिए है। एक श्राविका फूलमाला लिए है, लाल-पत्थर, प्रथम-द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं० जे० 37।

चित्र संख्या 11

तीर्थंकर की चरणचौकी जिसपर त्रिरत्न का पूजन है। उल्टे पल्लू की साड़ी पहने शकस्त्रियां माला लिए हैं और दूसरी ओर एक अर्धफालक में है, चित्तीदार लाल-पत्थर, द्वितीय श० ई०, कंकाली-टीला, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०. जे० 20।

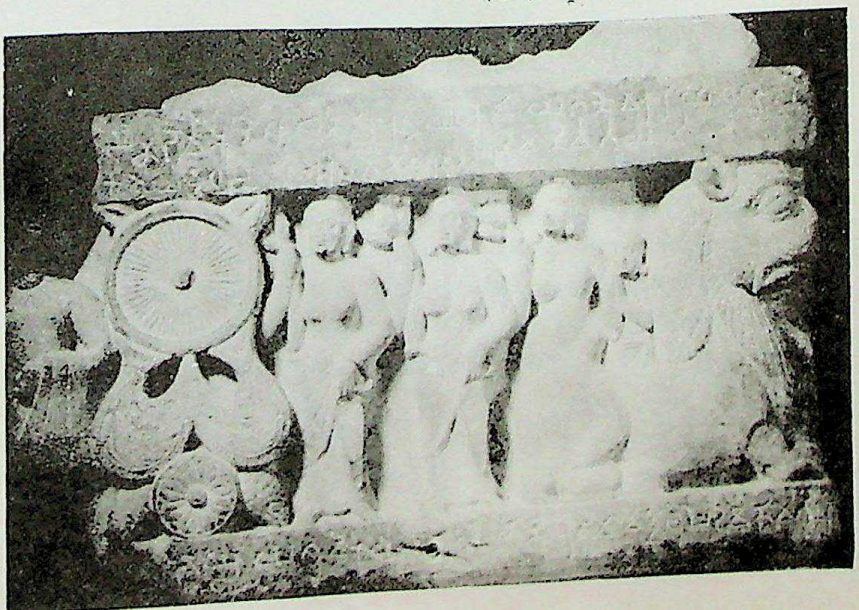

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 12

मस्तक विहीन बोधिसत्व। इसके कलाई में अनेक आभूषण हैं जिनमें मोतियों की लड़ियां व पुष्पाकृतियां अवलोकनीय हैं। चौड़ा अनेक लड़ियों का कण्ठहार है। अधोवस्त्र नीचे लटकता है। कमर में कई ग्रन्थियों से सामने बंधा है। एक ग्रन्थी को विशेष रूप से खुल्लेदार अलंकृत बनाया गया है। बाएं कन्धे पर बड़ा उत्तरीय है, लालपत्थर, प्रथम श० ई० पू०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, बी 12 बी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 13

बोधिसत्व मैत्रेय। घुंघराले बाल, कुण्डल, कण्ठहार अनेक लड़ियों से युक्त ग्रेवेयक, ताबीज बंधा यज्ञोपवीत दर्शनीय है। भारी चुन्नटयुक्त उत्तरीय बाएं कन्धे ढकता लटकता वस्त्र, सलेटी पत्थर, लगभग द्वितीय-तृतीय श० ई०, गन्धार-कला, रा० सं० दि० मू० सं०, 894।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

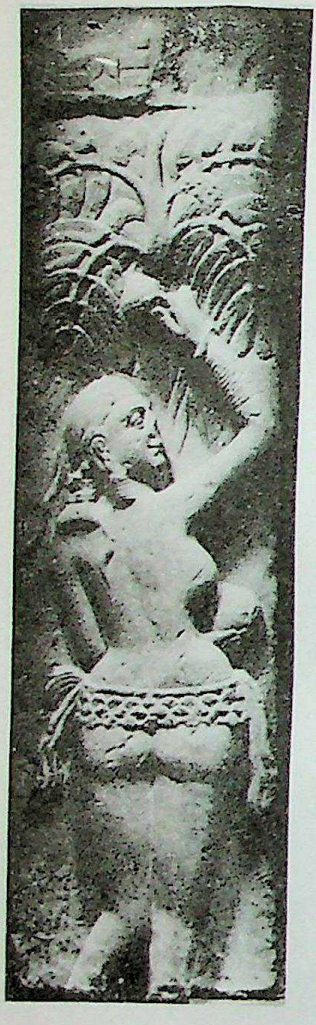

चित्र संख्या 14

वेदिका-स्तम्भ जिसपर अशोक-वृक्ष के पुष्पों को चुनती रमणी प्रस्तुत है। केश-विन्यास पीछे ढीले जूड़े के रूप में तथा दो वेणियां अलग से लटकी हैं। लम्बे कर्णकुण्डल व कोहनी तक चूड़ियां, अर्धचन्द्राकार मेखला भी दृष्टव्य है, लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, कोटा, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 80।

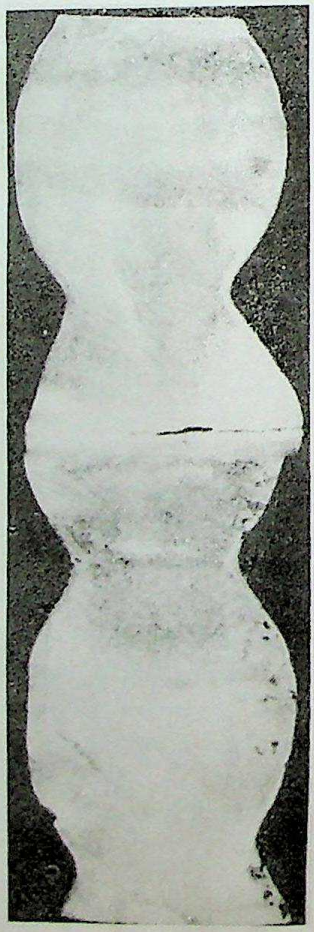

चित्र संख्या 15

आधुनिक केश-पिन के समान संभवतः केशों में प्रयुक्त आभूषण। लम्बवत देखने पर एक के ऊपर एक रखे गए घड़े की आकृति की भांति, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, रा० सं० ल० चि० सं०, 75-66-18।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

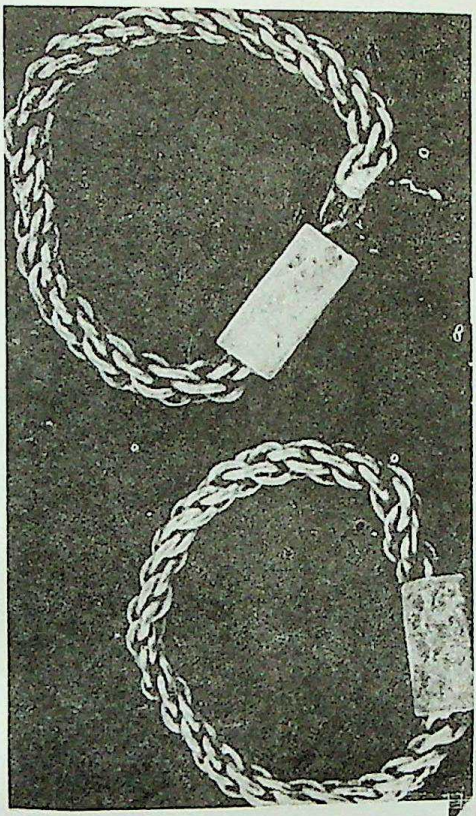

चित्र संख्या 16

कान की बाली जिसमें एक गोल नग स्थित है, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, रा० सं० ल० चि० सं०. 75-63-18।

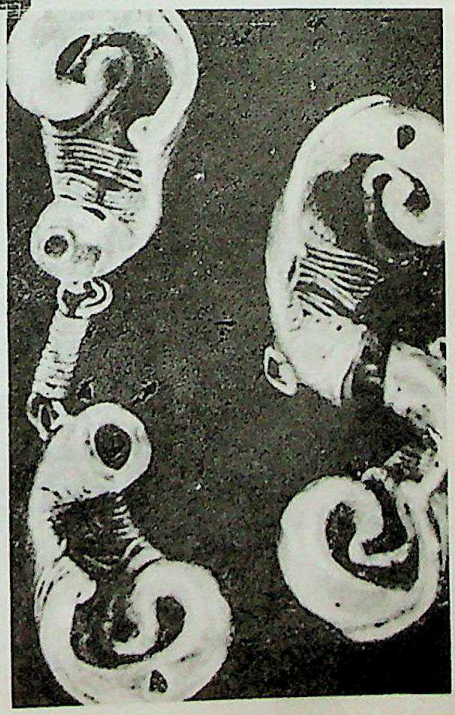

चित्र संख्या 17

शंखाकृति के टॉप्स जो सम्पन्नता एवं उच्च -कला के द्योतक हैं, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, रा० सं० ल० चि० सं०, 75-64-18।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

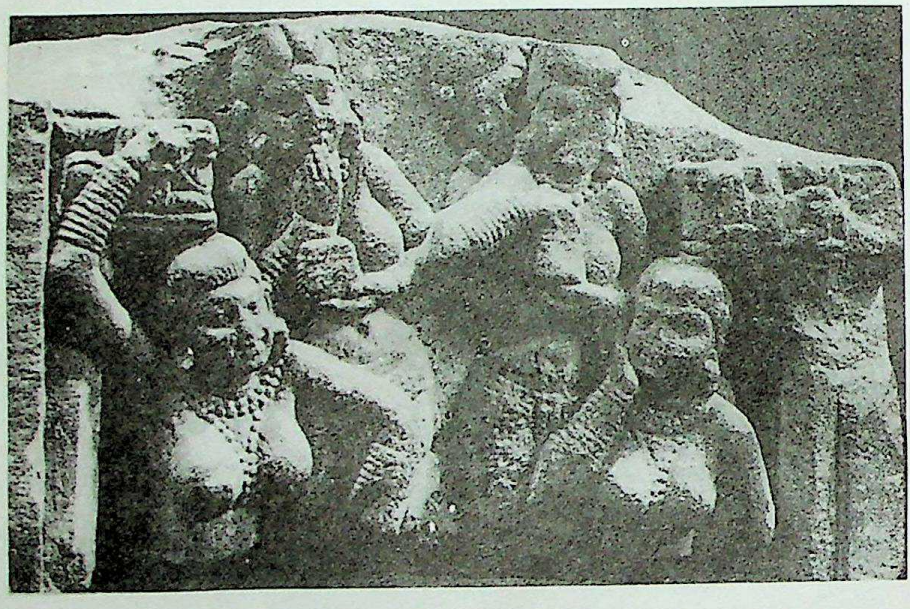

चित्र संख्या 18

नृत्य और भोज उत्सव जो किसी वास्तु-खण्ड पर अंकित है। दो स्त्रियां नृत्य-मुद्रा में हैं और उनके पीछे दो स्त्रियां किसी पात्र से कुछ खा रही हैं। पृष्ठभूमि में एक और स्त्री है। इनके आभूषणों में कुण्डल, कई लड़ियों की करधनी, कण्ठहार, स्तनहार, कलाई से कोहनी तक चूड़ियां प्रमुख हैं, चित्तीदार लाल-पत्थर, प्रथम-द्वितीय श० ई०, कठौती-कुआ, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 14-405।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 19

वेदिका-स्तम्भ जिसपर उदीच्य-वेश में एक राजपुरुष अंकित है। इसकी ऊंची नुकीली टोपी, सिला चोगानुमा कोट और सलवटयुक्त सलवार उल्लेखनीय है, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, जे० 56।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

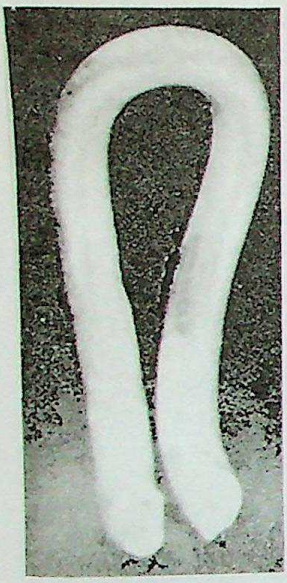

चित्र संख्या 20

तारनुमा गोल स्वर्ण टुकड़ा जो संभवतः चक्करदार अंगूठी के रूप में प्रयुक्त होगा। इस समय दुहरे मुड़े मोटे तार के समान, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, रा० सं० ल० चि० सं०, 75-67-18।

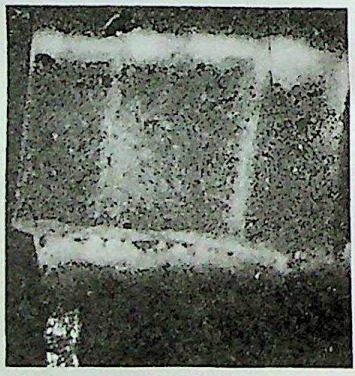

चित्र संख्या 21

चक्करदार अंगूठी की भांति मुड़ी हुई काफी चौड़ी अंगूठी जिसके ऊपर एक गोल डिज़ाइन अवशिष्ट। इसके अन्दर संभवतः गोल नग फिट रहा होगा, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, रा० सं० ल० चि० सं०, 75-65-18।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

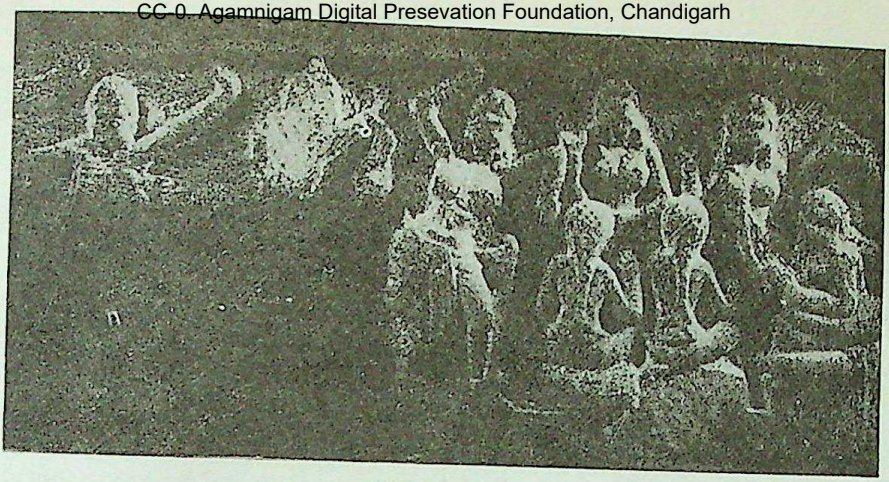

चित्र संख्या 22

महावीर के भ्रूण के स्थानान्तरण की घटना का पीछे का दृश्य जिसमें नृत्य व आमोदरत स्त्रियां दिखाई गई हैं। एक के हाथ में पंचतन्त्री वीणा है, कुछ विभिन्न नृत्य-मुद्राओं में हैं और दो स्त्रियां जिनका पृष्ठभाग दिखाया है संभवतः गा रही हैं। इनके कण्ठहार, चूड़ियां, अलंकृत एक वेणी, अधोवस्त्र दर्शनीय हैं। बैठने के मूढे की गद्दी भी पुष्पाकृतियों से सज्जित है, लाल-पत्थर, लगभग प्रथम श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं, जे० 626 बी०।

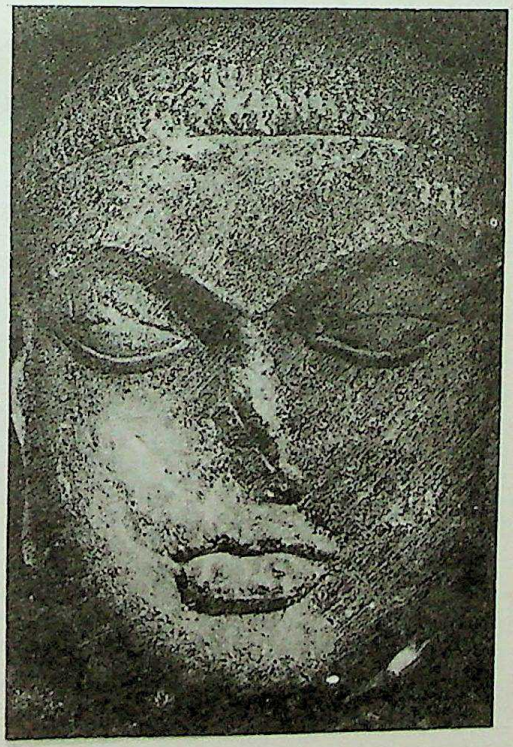

चित्र संख्या 24

तीर्थंकर मस्तक जिसपर नखाकृति लड़ीदार केश-विन्यास दिखाया गया है, लाल-पत्थर लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, जे० 180।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

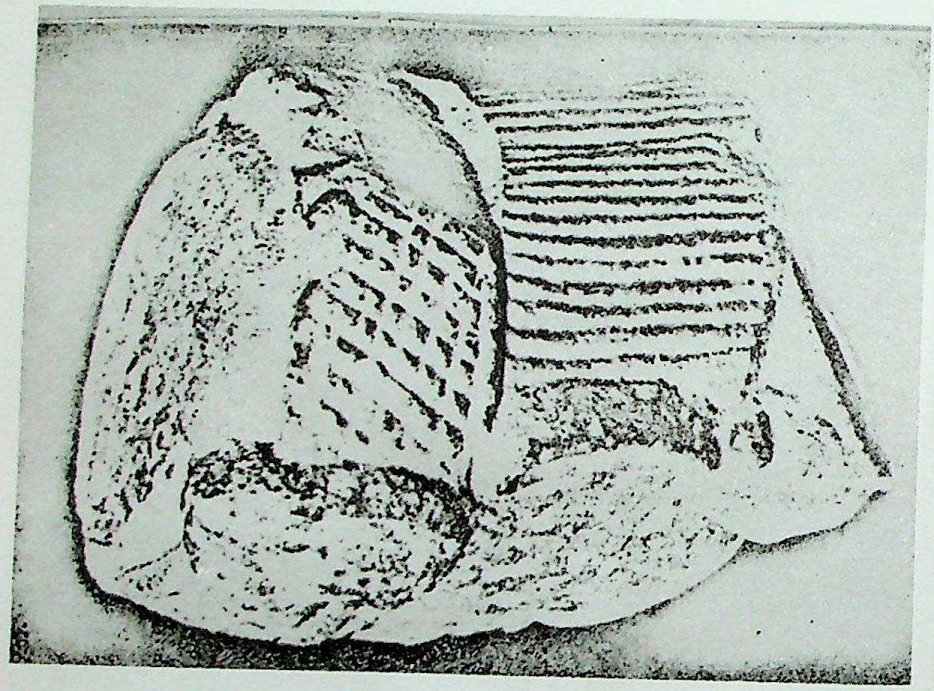

चित्र संख्या 23

पुरुष सिर का पृष्ठभाग जिसका केशबंद बर्फीदार आकृति वाले चौड़े वस्त्रपट्ट से अंकित है। बाईं ओर गांठ के रूप में पुष्पाकृति है। केशबंद के नीचे लटकते केश दिखाए गए हैं, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 15-673।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 25

पुरुष मस्तक जिसके दोनों ओर मेढे की सींग की आकृति की पगड़ी दिखाई है। मस्तक के बीच ऊपर पुष्प-पंखड़ियों वाला केश-बन्धन है, लाल भूरा पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, भूतेश्वर, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 11-157।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 26

पुरुष मस्तक जिसपर अनेक पट्टियों में विभक्त साफा बंधा है और उसकी गांठ दाहिनी ओर बंधी है। कुछ वस्त्र-खण्ड ग्रन्थी से बाहर भी लटकता है, लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, असगरपुर, मथुरा, रा० सं० सं० मू० सं०, 19-1586।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

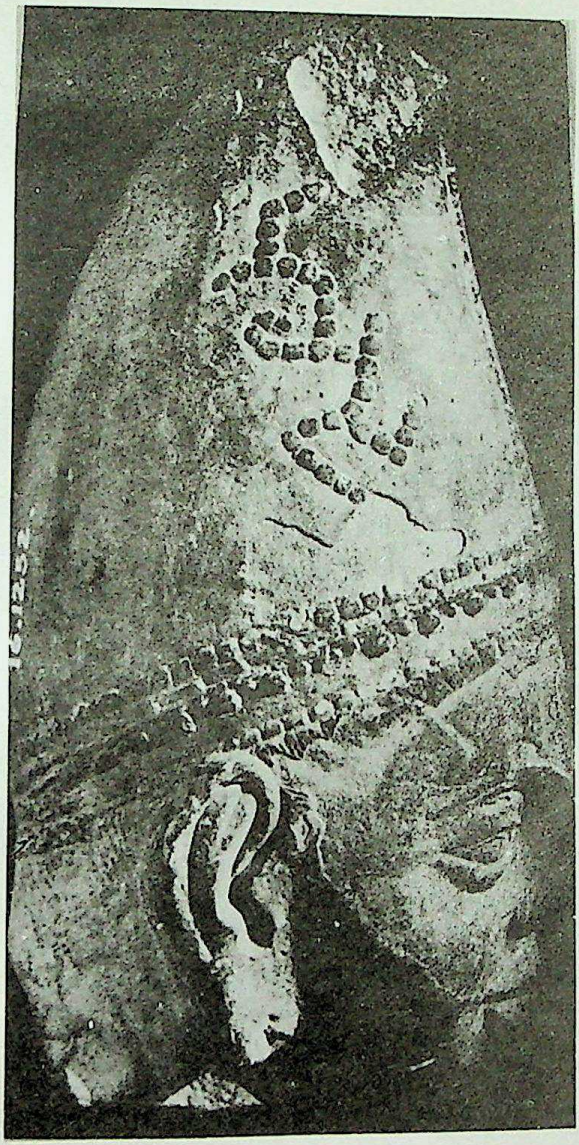

चित्र संख्या 27

पुरुष मस्तक जिसपर ऊंची नुकीली कुलाहनुमा टोपी पहली गई है। इस पर गोल मणिनुमा नक्काशी है। ब्राह्मी के अक्षर नायस भी स्पष्ट हैं। संभवतः यह किसी सैनिक अधिकारी का मस्तक है, भूरा-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, माट, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 16-1252।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र सख्या 28

राजपुरुष अथवा किसी सेनानी का मस्तक जिसपर ऊंची नुकीली (कुलाह) टोपी है जिसे गोल मोतियों से अलंकृत दिखाया गया है, चित्तीदार लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० दि० मू० सं०, जी० 32।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 29

बोधिसत्व मैत्रेय अथवा सिद्धार्थ जिनके बाएं हाथ में कमण्डल है। मस्तक पर ऊंचा मुकुट, कुण्डल, कण्ठहार, ग्रेवेयक तथा भुजबन्ध दृष्टव्य है। धोती की बड़ी चुन्नटें लटकती और उत्तरीय बाएं कन्धे से लटककर कटिन्यस्त बाईं कलाई पर है; लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, रा० सं० दि० मू० सं०, 60-1316।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 30

स्त्रीमुख जिसके मस्तक पर गोल कमलाकृति टीका लटकता है सिर में भी पूर्ण कमल का अंकन और दोनों और अलंकृत लड़ियों की केश-सज्जा, लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, बैरागपुरा, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 13-363।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

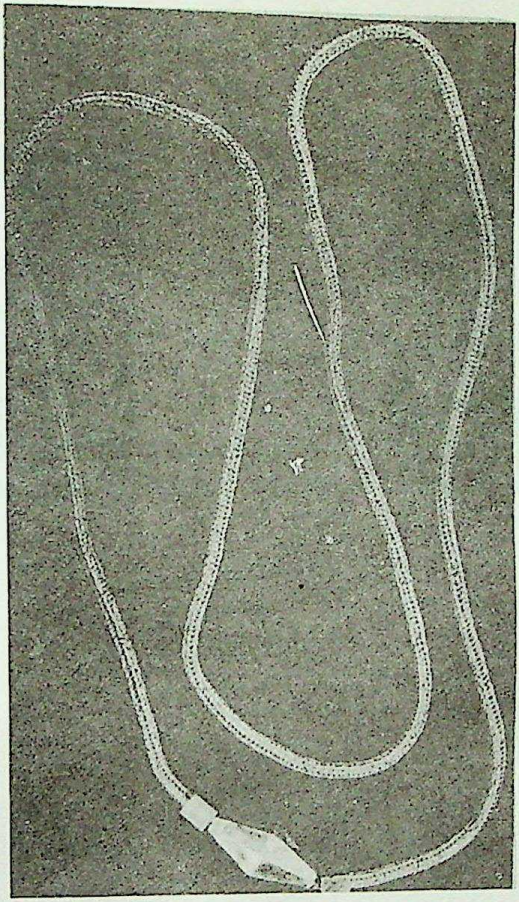

चित्र संख्या 31

स्वर्णहार। जंजीर का डिज़ाइन वाला अत्यधिक लम्बा हार जिसमें बीच में डमरू की आकृति का अष्टकोण एक इंच लम्बा मनका। मनके के दोनों ओर चौकोर छोटे-छोटे दो मनके, धातु-स्वर्ण, मुनि की रेती, हरिद्वार, रा० सं० ल० चि० सं०, 75-68-18।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 32

कनिष्क की मुद्रा का अग्रभाग, प्रथम श० ई०, धातु-ताम्बा, रा० सं० ल० मु० सं०, 26313।

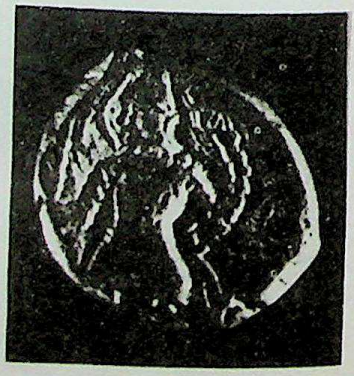

चित्र संख्या 33

वासुदेव की मुद्रा का अग्रभाग, द्वितीय श० ई०, धातु-ताम्बा, रा० सं० ल० मु० सं०, 3852।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 34

हुविष्क की मुद्रा का पृष्ठभाग जिसमें मिअरो प्रदर्शित है, द्वितीय श० ई०, धातु-ताम्बा, रा० सं० ल० मु० सं०, 26454।

चित्र संख्या 35

कनिष्क मुद्रा का पृष्ठभाग जिसमें नाना देवी प्रदर्शित हैं, यह धोती पहने हैं बाल जूड़े में बंधे हैं और पीछे वेणी लटक रही है, प्रथम श० ई०, धातु-ताम्बा, रा० सं० ल० मु० सं०, 1281।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 36

वेदिका-स्तम्भ जिसपर संभवतः प्रसाधन मुद्रा में एक स्त्री बनी है जो घुटने के बल आधी बैठी है इसके आभूषणों में बड़ा कण्ठहार, स्तनहार, कई चूड़ियां, पैरों में भारी पायल व मेखला नीचे स्कर्टनुमा वस्त्र पहने है, लाल पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, बी 75।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

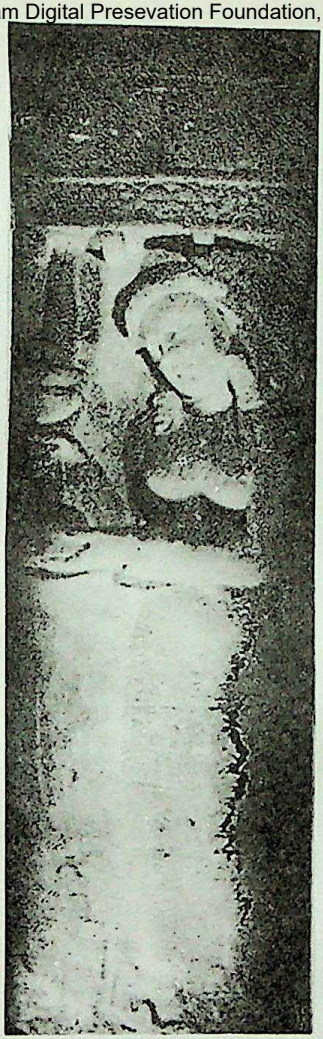

चित्र संख्या 37

वेदिका-स्तम्भ। इसपर मशाल लिए एक स्त्री है। वह लम्बे लटकते कुण्डल और मैक्सी जैसा वस्त्र पहने है जिस पर पुष्पाकृतियों का अलंकरण विशेष अवलोकनीय है, लाल-पत्थर, लगभग द्वितीय श० ई०, कंकालीटीला, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, बी० 84।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 38

मुखवाद्य यन्त्र बजाती एक स्त्री जिसके सिर पर अनेक पट्टियों में विभक्त पगड़ी है, स्तनहार, चित्तीदार पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, मथुरा, रा० सं० ल० मू० सं०, इ० 215।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

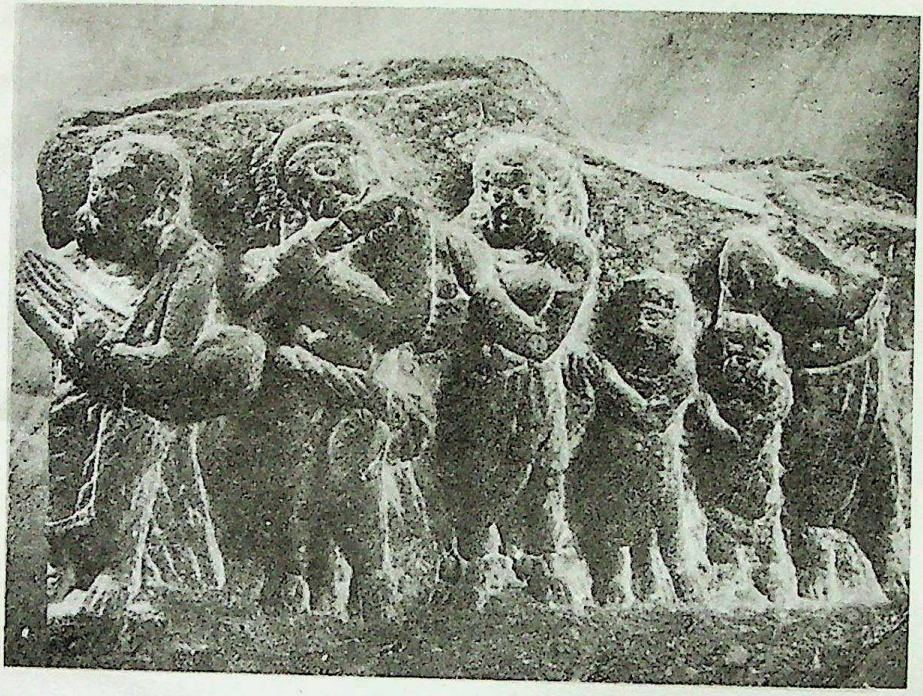

चित्र संख्या 39

संगीत तथा उपासना । प्रस्तर-खण्ड जिसपर छः भक्त अंकित हैं इनमें से 2 संगीत वाद्य लिए हैं । पहले के हाथ में पंचतन्त्र वीणा तथा दूसरा बंशी वादक है, शेष हाथ जोड़े खड़े हैं। इनकी धोती और मोटा कटिवस्त्र अवलोकनीय है, लाल-पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, स्थानअज्ञात, मथुरा, रा० सं० म० मू० सं०, 17-1276।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या 40

राजपुरुष की मूर्ति जिसके केश विन्यास में सिंहाकृति अलंकरण है। भारी कुण्डल, पतला कण्ठहार, चौड़ा ग्रेवेयक, अधोवस्त्र और कटिवस्त्र अवलोकनीय हैं। बाएं हाथ में टूटा खड्ग जैसा आयुध लाल चित्तीदार पत्थर, लगभग प्रथम-द्वितीय श० ई०, डेम्पियर पार्क, मथुरा, रा० सं० म० मू० स०, 1726।

चित्र संख्या 41

कनिष्क की मुद्रा का अग्रभाग जिसमें योद्धा-वेश में सम्राट् की आकृति। लम्बा चोगा, सलवार, बड़े जूते पहने है प्रभामण्डल युक्त, प्रथम श० ई०, धातु-ताम्बा, रा० सं० ल० मू० सं०, 36633।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh